श्रीईश्वरकृष्णविरचिता

# सांख्यकारिका

विस्तृत भूमिका, अन्वय, हिन्दी-अनुवाद,
'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या एवं गौडपादभाष्य सहित

व्याख्याकार

डॉ० राकेश शास्त्री

संस्कृत ग्रन्थागार

दिल्ली

श्रीईश्वरकृष्णविरचिता

# सांख्यकारिका

(विस्तृत भूमिका, अन्वय, हिन्दी-अनुवाद, 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या
एवं गौडपादभाष्य सहित)

व्याख्याकार
**डॉ० राकेश शास्त्री**
एम०ए० (संस्कृत), डी०फिल्
साहित्य-पुराणेतिहासाचार्य (लब्धस्वर्णपदक-द्वय)

**संस्कृत ग्रन्थागार**
**दिल्ली**

प्रकाशक
संस्कृत ग्रन्थागार
४६, संस्कृत नगर
रोहिणी से० १४,
दिल्ली ११००८५

वितरक
परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८, शक्ति नगर
दिल्ली- ११०००७



प्रथम संस्करण १९९८

संस्कृत ग्रन्थागार, दिल्ली
मूल्यः -रु.100 (सौ रुपये)

मुद्रक
हिमांशु प्रिन्टर्स
मेन यमुना विहार रोड़, मौजपुर
फोन- २२६०७९४

## समर्पण

विद्वत्ता एवं सरलता की प्रतिमूर्ति,
संस्कृत एवं संस्कृति के प्रबल-समर्थक,
प्रसिद्ध शिक्षाविद्, शिक्षा के क्षेत्र में नवीन
आयामों के संस्थापक, परम श्रद्धेय,

**डॉ० पुरुषोत्तम लाल चतुर्वेदी**

कुलपति
महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय,
अजमेर
के कर-कमलों में
सादर
समर्पित

राकेश शास्त्री

# शुभाशंसनम्

जीव, जगत् एवं शाश्वततत्त्व को लेकर उनके वास्तविक स्वरूप ज्ञान की दिशा में किया गया चिन्तन ही '**दर्शन**' के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। विश्व के या ब्रह्माण्ड के मननशील प्राणी के रूप में प्रतिष्ठित मनुष्य ने अपनी चिन्तनशीलता से सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया और इसीलिए महाभारतकार वेदव्यास को उद्घोष करना पड़ा '**न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्**'। अपनी चिरन्तर साधना में लीन ऋषियों एवं महर्षियों ने जिस सत्य को खोजा, वही '**सत्य**' दर्शन रूप में आविर्भूत हुआ। '**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**' कथन इसका साक्षी है। सतत साधना के अनन्तर प्राप्त होने वाला वह विचार '**ज्ञान**' के रूप में प्रकट होता था, उसी ज्ञान की राशि '**वेद**' कहलाये। लोकहितार्थ सत्यद्रष्टाओं ने उसे लिपिबद्ध किया, जो कालान्तर में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् व अन्य साहित्य के रूप में आज भी उपलब्ध हैं। आर्यों के दार्शनिक-चिन्तन और विचार ही परवर्तीकाल में विभिन्न दर्शनों के नाम से लोकविश्रुत हुए, जिनमें सांख्यदर्शन सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। चिन्तन की इस विचारधारा को वेदान्तदर्शन में पर्यवसित किया गया, जिसके भी अनेक भेदोपभेद हो गए। दर्शन के इन विभिन्न नामों से व्यवहृत विशिष्ट विचार-सरणियों को उद्बुद्ध करने वाले महर्षि को इसका उद्भावक आचार्य माना गया तथा चिन्तनशीलता से उस विचार को व्यवस्थित रूप प्रदान करने वाले आचार्यों को समर्थक आचार्य माना गया। इस परम्परा को व्यवस्थित रूप धारण करने में पर्याप्त समय लगा और अनेक शताब्दियों के उपरान्त वह दृढ़ता से लोक विश्रुत हो सका।

आर्यों की प्राचीनतम ज्ञानराशि '**वेद**' में इन विभिन्न चिन्तनधाराओं के '**बीज**' विद्यमान हैं, जो कालान्तर में स्वतन्त्रदर्शन के रूप में पल्लवित एवं पुष्पित हुए। यों व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दृष्टि से भी इन विचारों में भेद किया जा सकता है, आधिभौतिक एवं अध्यात्म नाम भी दिया जा सकता है। इसे ही ब्राह्मण-साहित्य एवं उपनिषद्-साहित्य के रूप में भी चर्चा का विषय बनाया जा सकता है। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि उपनिषद् साहित्य ही परवर्ती दर्शनशास्त्र का मूल स्रोत है। उपनिषद् साहित्य में भी प्राचीनतम माने जाने वाले— बृहदारण्यकोपनिषद् एवं छान्दोग्योपनिषद् में दार्शनिक विचार सूक्ष्मरूप से उपलब्ध होते हैं, जैसे '**असतो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्यः**' (बृहदारण्यकोपनिषद्)। महर्षि याज्ञवल्क्य यह मानते हैं कि पुरुष केवल साक्षी या द्रष्टा है, कर्ता नहीं। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के इस मूल रूप को उपस्थित किया जा सकता है— जो सांख्य के सत्कार्यवाद सिद्धान्त की ओर इंगित करता है—

**'कुतस्तु खलु सोम्यैहं स्यादिति होवाच– कथमसतः सज्जायेतेति। सत्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'**

सांख्यदर्शन के अव्यक्त तत्त्व बीज नासदीय सूक्त में खोजे जा सकते हैं, जहाँ '**तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम्**' का उल्लेख है।

इन दोनों उपनिषदों के अतिरिक्त कठोपनिषद् व श्वेताश्वतरोपनिषद् में सांख्यदर्शन के बुद्धि,

अव्यक्त, पुरुष का स्पष्टोल्लेख प्राप्त है। इन उपनिषदों में सांख्यदर्शन के पारिभाषिक शब्दों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जिनमें प्रधान, गुण, प्रकृति आदि प्रमुख है।

सांख्यदर्शन भी प्रथमतः सूत्र रूप में विद्यमान रहा है। इन सूत्रों के लेखक के रूप में महर्षि कपिल का नाम विख्यात है।

महर्षि कपिल का समय ईसा के बहुत पूर्व मान लिया गया है। जिसका कारण महाभारत, भागवत आदि प्राचीन ग्रन्थों में इस दर्शन का तथा कपिल का स्पष्ट उल्लेख मिलना है। कपिल के बाद उनकी शिष्य परम्परा में आसुरि, पञ्चशिख, वार्षगण्य, जैगीषव्य, विन्ध्यवास व ईश्वरकृष्ण के नाम प्रसिद्ध हैं। अन्य आचार्यों व उनकी रचनाओं का उल्लेख लोक में इतना अधिक व्यापक नहीं हो पाया, जितना ईश्वरकृष्ण एवं उनकी रचना सांख्यकारिका का। ७० कारिकाओं के माध्यम से आचार्य ईश्वरकृष्ण ने संक्षिप्त एवं सारगर्भित रूप में सांख्यदर्शन का सम्पूर्ण तत्त्व प्रस्तुत कर दिया। सांख्यदर्शन का यह ग्रन्थ आज भी लोकप्रिय है तथा लगभग सभी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ पर अनेक टीकायें लिखी गईं, जिनमें आचार्य गौडपाद एवं वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित **'सांख्यतत्त्वकौमुदी'** तो आज भी सांख्यतत्त्व को **'हस्तामलकवत्'** स्पष्ट करने में समर्थ हैं, उसके अध्ययन, मनन, चिन्तन के बिना तत्त्वज्ञान हो भी नहीं पाता। अन्य प्रसिद्ध टीकाओं में माठरवृत्ति, शंकराचार्य या शंकरार्थ कृत जयमंगला, नारायणतीर्थ कृत सांख्यचन्द्रिका प्रभृति का उल्लेख किया जा सकता है। इनकी प्रामाणिकता पर अनेक विवाद आज भी विद्यमान हैं, परन्तु आचार्य वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी निर्विवाद एवं महत्वपूर्ण रचना है। कालान्तर में भी अनेक टीकाकारों ने **'तत्त्वकौमुदी'** को आधार मानकर उन रहस्यों को प्रकट करने का प्रयास किया है, जो ज्ञातव्य हैं।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि संस्कृत के प्रबुद्ध लेखक राजकीय महाविद्यालय, बांसवाडा के संस्कृत विभागाध्यक्ष, **डॉ० राकेश शास्त्री** ने छात्रों के उपकारार्थ सांख्यकारिका पर टीका लिखी है। प्रत्येक कारिका के पदच्छेद, अन्वय, हिन्दी अनुवाद, विस्तृतव्याख्या तथा विशेष उल्लेख में कारिकागत पारिभाषिकता को स्पष्ट किया है। साथ ही चित्रात्मक शैली द्वारा कारिका के भाव को स्पष्ट करने की नूतनपद्धति अत्यन्त प्रशंसनीय रही है। इस विधि से सांख्यकारिका की प्रत्येक कारिका सुगम हो गई है। उसके गूढार्थ को सरलता से समझा जा सकता है। वस्तुतः शुद्ध प्रकाशित गूढार्थ प्रकाशिनी 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या की उपस्थिति छात्रों एवं सांख्यदर्शन के जिज्ञासुओं के लिए निःसंदेह उपयोगी प्रमाणित होगी। मैं इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए डॉ० राकेश शास्त्री को हार्दिक साधुवाद प्रदान करता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है, संस्कृत के छात्र अधिकाधिक संख्या में इसके अध्ययन से लाभान्वित होंगे तथा लेखक के श्रम को सफलता प्रदान करेंगे।

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

कार्तिक पूर्णिमा सं० २०५४

**डॉ० प्रभाकर शास्त्री**
प्रोफेसर– संस्कृतविभाग एवं अधिष्ठाता– कलासंकाय
राजस्थान विश्वविद्यालय, **जयपुर**

# प्रास्ताविकम्

भारतीय दर्शनशास्त्र में सांख्यदर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है, साथ ही इस दर्शन के उपलब्ध सम्पूर्ण साहित्य में ईश्वर कृष्ण विरचित सांख्यकारिका अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। श्रीमद्भगवद्गीता के समान ही यदि इसे भारतीय-दर्शन वाङ्मय की विलक्षण कृति कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसलिए अनेक विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में इसे रखा गया है। मात्र ६० कारिकाओं के अपने लघु कलेवर में एक विशेष दृष्टि से सभी दार्शनिक समस्याओं पर सर्वांगीण एवं गम्भीर-चिन्तन का इसमें सफल प्रयास हुआ है। यही कारण है कि इस पर अनेक विद्वान् मनीषियों द्वारा टीकाएँ, प्रटीकाएँ एवं भाष्य किए गये और आज भी किए जा रहे हैं। जिनका उद्देश्य सांख्यदर्शन के इस महत्त्वपूर्णग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों को सरलतापूर्वक जिज्ञासु पाठक को हृदयंगम कराना है।

इतनी व्याख्याओं के उपलब्ध होने पर भी इस ग्रन्थ को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अभी और भी बहुत कुछ इसकी व्याख्या में सरल, किन्तु नूतन शैली में कहा जाना शेष है, यही जिज्ञासा एवं इच्छा प्रस्तुत कृति के प्रणयन में सहायक रही है।

अपने विद्यार्थी-जीवन से लेकर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से १९८२ में प्रारम्भ किए गए अध्यापनकाल से मेरी उत्कट अभिलाषा रही कि मैं इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की व्याख्या नूतन किन्तु सरल शैली में प्रस्तुत करूँ। उस परमपिता परमेश्वर की असीम अनुकम्पा से आज यह सुयोग प्राप्त हुआ कि मेरा यह लघु एवं विनम्र प्रयास विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत है।

किसी भी विषय को यदि चित्रात्मक ढंग से समझाया जाए तो निश्चय ही विषय को समझने में सौकर्य रहता है। यही कारण है कि इस पुस्तक में प्रत्येक कारिका के भाव को, अभिप्राय को चित्रित करके 'डायग्राम' बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह प्रस्तुति कितनी सफल है, इसका निर्णय तो विद्वद्गण एवं कोमलबुद्धि छात्र ही करेंगे, किन्तु यदि इस शैली द्वारा छात्रों को विषय समझने में थोड़ी भी सरलता प्रतीत होती है, तो मैं इसे अपना सौभाग्य समझूँगा।

सांख्यकारिका की संस्कृत व्याख्याओं में 'तत्त्वकौमुदी टीका' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसे दिए जाने से निश्चय ही पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि होती, किन्तु ऐसा करने पर पुस्तक के कलेवर में अत्यधिक वृद्धि होती, जिससे पुस्तक का मूल्य भी प्रभावित होता और छात्रों को इसे खरीदने में कठिनाई का अनुभव होता, फिर 'तत्त्वकौमुदी' पर स्वतन्त्ररूप से अनेक टीकाएँ उपलब्ध भी हैं, यद्यपि उसकी भी और अधिक सरल शैली में प्रस्तुति सम्भव है। अतः यहाँ 'तत्त्वकौमुदी टीका' को प्रस्तुत नहीं किया गया है। आशा है एतदर्थ विद्वद्गण क्षमा करेंगे।

# भूमिका

## (क) दर्शन से अभिप्राय

देखना अर्थ में प्रयुक्त √ दृश् धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से 'दर्शन' शब्द निष्पन्न होता है।[1] आचार्य पाणिनि के अनुसार— 'ल्युट्' प्रत्यय का प्रयोग[2]— 'भाव', 'करण' एवं अधिकरण तीन अर्थों में होता है।[3] यहाँ 'भाव' से अभिप्राय शुद्ध धातु के अर्थ से है। इसप्रकार 'दर्शन' शब्द का अर्थ हुआ— 'देखना', वह विद्या, ज्ञान अथवा उपकरण (साधन) जिसके द्वारा किसी विषय या वस्तु को देखा या जाना जाए तथा आधारभूत वह वस्तु जिसमें किसी को देखा जाए।

दर्शन का मानवजीवन के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, क्योंकि जीवन का कोई भी पक्ष दर्शन की परिधि से बाहर नहीं हो सकता। सृष्टि के आरम्भ में जब से मानव ने विचार करना प्रारम्भ किया तभी से उसके कुछ अनुभव स्थायी आकार लेने लगे, वे ही स्थायी आकार से आकारित अनुभव कालान्तर में उसके दर्शन रूप में परिवर्तित हो गए।

## (ख) दर्शन का विकास

आदिकाल में मनुष्य प्रकृति के विभिन्न व्यापारों को देखकर आश्चर्यचकित होता रहा। उसकी सदैव जिज्ञासा रही कि, यह प्रकृति क्या है अर्थात् सूरज, चाँद, तारे, पर्वत, नदियाँ, वृक्ष आदि प्रकृति के उपादान क्या हैं? यह मनुष्य अर्थात् मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मेरा अन्त क्या है? मेरे जीवन का क्या उद्देश्य है? यह संसार क्या है? इस सबका बनाने वाला कौन है? उस स्रष्टा और मानव का क्या सम्बन्ध है? आदि।

ये कुछ ऐसे प्रश्न उसके जीवन में रहे, जिन्होंने उसे आदिकाल से चिन्तन के लिए बाध्य किया। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर विद्वान् मनीषियों द्वारा दर्शन रूप में प्रतिष्ठित किए गए। इन समस्याओं का अलग-अलग चिन्तक ने अपनी अलग-अलग शैली द्वारा समाधान किया। इसी प्रकार भारत में अनेक दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। ये ही भारतीयदर्शन के नाम से जाने गए।

दर्शनरूप ज्ञान की इस स्रोतस्विनी का प्रवाह आदिकाल से अबाध गति से चला आ रहा है। जिसका उद्गमस्थल हमें हजारों वर्ष पूर्व वैदिकज्ञान के अक्षय भण्डार ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होता है। वहाँ प्रयुक्त दार्शनिक सूक्त (नासदीय, पुरुष आदि) मानव की नैसर्गिक जिज्ञासा और संशयवृत्ति के परिचायक हैं।

---

१. अष्टाध्यायी— ३/३/११४ नपुंसके भावे क्तः।

२. वही— ३/३/११५ ल्युट् च।

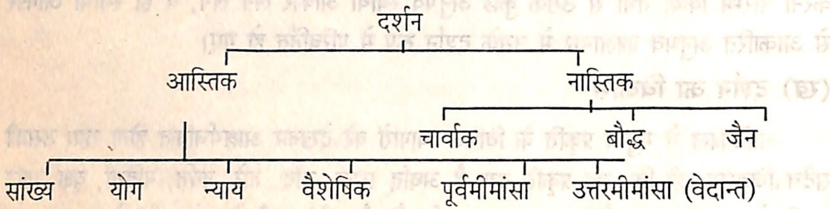
३. वही— ३/३/११७ करणाधिकरणयोश्च।

इसके पश्चात् उपनिषदों में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों का मौलिक एवं स्वतन्त्र-चिन्तन उपलब्ध होता है। सभी आस्तिक दर्शनों का मूल आधार उपनिषद् हैं, जिनकी संख्या १०८ मानी जाती है, जिनमें ग्यारह प्रमुख हैं। इनमें भी बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, कठ, प्रश्न, माण्डूक्य आदि दर्शन विषयों के प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

**(ग) भारतीयदर्शन एक परिचय**

सम्पूर्ण भारतीयदर्शन परम्परा को प्रमुख रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है— आस्तिक एवं नास्तिक। आस्तिक दर्शन की श्रेणी में वे दर्शन आते हैं जो वेदों को प्रमाणरूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु जिस विचारधारा में वेदों को प्रमाणरूप में स्वीकार नहीं किया गया है, वे नास्तिक दर्शन की कोटि में परिगणित हुए।

इसमें बौद्ध, जैन और चार्वाक ये तीन नास्तिक दर्शनों की श्रेणी में आते हैं तथा सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा (वेदान्त) ये छः दर्शन आस्तिक माने गये हैं। जिसे संक्षेप में इस प्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है—




अब हम इनका संक्षेप में परिचय प्रस्तुत करते हैं—

**नास्तिक दर्शन**

(क) **चार्वाक दर्शन–** यह भौतिकवादी दर्शन है, जिसे लोकायत के नाम से भी जाना जाता है। वृहस्पति और चार्वाक इसके आचार्य माने गये हैं। यह आत्मा, परमात्मा, परलोकादि में विश्वास नहीं करता, अपितु केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है। इसका सिद्धान्त है— **''यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:।।''** सर्वदर्शनसंग्रह में इसके सिद्धान्तों का संकलन उपलब्ध होता है, स्वतन्त्र रूप से इस दर्शन का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता।

(ख) **बौद्धदर्शन–** इस दर्शन के मुख्यरूप से चार सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवादी तथा शून्यवादी। पालिभाषा में लिखे गए त्रिपिटक ग्रन्थों में इसके सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है। ईसा की द्वितीय शताब्दी में स्थित 'नागार्जुन' इस दर्शन के उल्लेखनीय प्राचीन आचार्य हैं। इसके अतिरिक्त वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति शान्तरक्षित, कमलशील, रत्नकीर्ति तथा ज्ञानश्री मिश्र आदि आचार्य भी प्रसिद्ध हैं। जिनके प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दु हेतुबिन्दु, तत्त्वसंग्रह, तत्त्वसंग्रह-पञ्जिका आदि बौद्धदर्शन के आधारभूत ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। आचार्य केशवमिश्र विरचित तर्कभाषा में बौद्ध सिद्धान्तों की अनेक स्थलों पर समीक्षा उपलब्ध होती है।

यह दर्शन सविकल्पक को प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं करता है, साथ ही सामान्य में भावात्मक सत्ता का भी निषेध करता है तथा अवयवों से भिन्न अवयवी की सत्ता को स्वीकार नहीं करता।

(ग) **जैनदर्शन–** नास्तिक दर्शनों में तीसरा जैन दर्शन है। प्रथम शती में स्थित उमास्वाति इसके प्राचीन आचार्य माने गए हैं। पञ्चमशती में स्थित सिद्धसेन दिवाकर को जैनन्याय के प्रणेता के रूप में जाना जाता है। इसके अतिरिक्त अकलंक देव, विद्यानन्द, प्रभासचन्द्र, हेमचन्द्र सूरि, मल्लिषेण आदि जैन दर्शन के प्रमुख आचार्य हैं।

इस दर्शन में जीवन की सूक्ष्मतिसूक्ष्म समस्याओं पर चिन्तन किया गया है। इसका अनेकान्तवाद का सिद्धान्त अत्यन्त प्रसिद्ध एवं मौलिक उद्भावना है। जो अलग-अलग दृष्टियों से वस्तु के अलग-अलग रूपों की सत्यता का प्रतिपादन करता है।

**आस्तिकदर्शन**

(क) **न्यायदर्शन–** महर्षि गौतम इसके प्रवर्तक आचार्य हैं। इसे बुद्धि को तीव्र परिष्कृत तथा विशद बनाने वाला दर्शन माना जाता है, क्योंकि यह तर्कप्रधान दर्शन है। इसके लिए आन्वीक्षिकी शब्द का प्रयोग भी मिलता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा पदार्थ की परीक्षा करना ही न्याय कहा जाता है। वस्तुतः यह प्रमाण-प्रधान दर्शन है। यहाँ १६ पदार्थों को मान्यता प्रदान की गई है। यह आत्मा को गुणों का आश्रय स्वीकार करता है। इसके मत में आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग ये प्रमेय विषय हैं। इसके अनुसार जगत् की सत्ता में परमाणु समवायिकारण तथा ईश्वर निमित्तकारण हैं। आगमप्रमाण द्वारा यहाँ ईश्वर की सिद्धि की गई है। इसके अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य दुःखों से हमेशा के लिए छुटकारा अर्थात् मुक्ति है।

(ख) **वैशेषिकदर्शन–** विशेष नामक एक विलक्षण पदार्थ को मानने के कारण इसे वैशेषिक कहा जाता है। महर्षि कणाद इसके प्रणेता आचार्य हैं। सर्वदर्शन संग्रह में इसे औलूक्य दर्शन भी कहा गया है। तदनुसार इसके प्रणेता उलूक नामक आचार्य थे। जैन लेखक राजशेखर जनश्रुति के आधार पर अपनी न्यायकन्दली टीका में कहते हैं कि– कणाद मुनि की तपस्या से प्रसन्न होकर परमपिता परमात्मा ने उलूक के रूप में अवतरित होकर उन्हें इस दर्शन के सिद्धान्तों का उपदेश दिया था। अतः इसे औलूक्य दर्शन कहा जाता है।

न्यायदर्शन के साथ पर्याप्य साम्य होने के कारण इसका नाम उसके साथ परिगणित किया जाता है। इसके अनुसार– पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन नौ द्रव्य हैं। जिनमें पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश भौतिक हैं। आत्मा के अस्तित्व एवं स्वरूप, सृष्टि और मोक्ष के विषय में यह दर्शन न्याय के साथ मतैक्य रखता है।

(ग) **पूर्वमीमांसादर्शन–** आचार्य जैमिनी इसके प्रणेता आचार्य माने गए हैं। यह दर्शन वेद को स्वतन्त्र एवं स्वतःप्रमाण के रूप में स्वीकार करता है। इस प्रसंग में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वेद सम्मत होने पर भी यह दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार– 'सृष्टि अनादि और नित्य है। इसलिए उसके कर्ता के रूप में ईश्वर की

आवश्यकता ही नहीं है, किन्तु वैदिक क्रियाओं के सम्पादन के लिए इसमें वैदिक देवताओं की सत्ता को स्वीकार किया गया है। वेदों के कर्मकाण्ड भाग की यहाँ पर्याप्त चर्चा मिलती है।

कर्म एवं कर्मफल के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए इस दर्शन ने अपूर्व की मौलिक कल्पना की है। आत्मा के अस्तित्व के विषय में इसका अन्य आस्तिक दर्शनों के साथ पर्याप्त साम्य मिलता है। प्रभाकर और कुमारिलभट्ट पार्थसारथि मिश्र इसके प्रसिद्ध आचार्य हैं।

(घ) **उत्तरमीमांसा या वेदान्तदर्शन–** आचार्य बादरायण विरचित ब्रह्मसूत्र इसका आधार ग्रन्थ है। इसी का दूसरा नाम वेदान्त सूत्र भी है। इसका मुख्य आधार उपनिषद् ग्रन्थ हैं, जिनके वाक्यों को यहाँ पदे-पदे उद्धृत किया गया है। ब्रह्म, जीव, जगत् और माया इस दर्शन के प्रमुख विवेच्य हैं। शङ्कराचार्य का शारीरक भाष्य ब्रह्मसूत्र पर लिखा गया, अद्भुत भाष्य है। जिसमें ब्रह्मसूत्रों की अद्वैतवादी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस भाष्य पर पुनः अनेक टीकाएँ लिखी गईं, जिसमें वाचस्पतिमिश्र की 'भामती' टीका उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त श्री हर्ष का खण्डन खण्डखाद्य, चित्सुखाचार्य की तत्त्वदीपिका, विद्यारण्यस्वामी की पञ्चदशी, विवरणप्रमेयसंग्रह, जीवनमुक्तिविवेक इस दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ हैं। सर्वाधिक लोक प्रियता सदानन्द विरचित वेदान्तसार को प्राप्त हुई।

इस दर्शन के अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैत आदि सम्प्रदाय भी हैं। ये सभी वैष्णव वेदान्त के नाम से जाने जाते हैं। प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र सभी वेदान्त सम्प्रदायों के मुख्य आधार हैं।

जीव और ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन करना इसका मुख्य उद्देश्य है। जिसका प्रतिपादन 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों द्वारा किया गया है।

(ङ) **योगदर्शन–** महर्षि पतञ्जलि को इसका प्रणेता माना गया है। भारतीय दर्शनशास्त्रों में इसे सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। महर्षि पतञ्जलि द्वारा विरचित योगसूत्र इसका आधार ग्रन्थ है। जिस पर व्यास-भाष्य सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्या ग्रन्थ माना जाता है। व्यास-भाष्य के ऊपर आचार्य वाचस्पति मिश्र द्वारा विरचित 'तत्त्ववैशारदी' एवं आचार्य विज्ञानभिक्षु की योगवार्तिक नामक दो प्रसिद्ध टीकाएँ उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त भोजवृत्ति, मणिप्रभा आदि व्याख्याग्रन्थ भी योगसूत्रों पर मिलते हैं।

यह दर्शन वस्तुतः सांख्यदर्शन के ही सिद्धान्तों को स्वीकार करता है, अन्तर केवल इतना है कि यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है, सांख्य नहीं। इसी कारण कुछ विद्वान् इसे सेश्वर सांख्य के रूप में भी उद्धृत करते हैं।

योगसूत्र के आरम्भ में ही योग की परिभाषा देते हुए कहा गया है– **''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः''** अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति ये चित्त की पाँच प्रवृत्तियाँ हैं। योगसूत्र में योग के आठ अंगों का उल्लेख किया गया है– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनके निरन्तर अभ्यास के द्वारा चित्त की वृत्तियाँ स्वतः विलीन हो जाती हैं। उस स्थिति में चित्त की एकाग्रता से कैवल्य की प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्य एवं योग को एक ही बताया गया है। वस्तुतः योगदर्शन अपने व्यावहारिक पक्ष की प्रबलता के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ।

(च) **सांख्यदर्शन–** अब हम सांख्यदर्शन पर विस्तार से चर्चा करेंगे–

(१) **नामकरण–** सम् उपसर्गपूर्वक √ख्या प्रकथने अर्थ में प्रयुक्त √ख्या धातु से अङ् प्रत्यय करने के बाद टाप् करके संख्या पद की निर्मिति होती है। जिसका अभिप्राय है– गणना। पुनः संख्या पद से 'तस्येदम्' सूत्र द्वारा 'अण्' प्रत्यय करने पर सांख्य पद निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है– गणना से सम्बन्धित अथवा गणना से जानने योग्य, क्योंकि सांख्यदर्शन में तत्त्वों की गणना अर्थात् संख्या को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, इसीलिए इस दर्शन का नाम सांख्य पड़ा।[1] महाभारत भी इसी कारण सांख्य शब्द की प्रयुक्ति स्वीकार करता है–

**संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।**

**तत्त्वानि च चतुर्विंश त्तेन सांख्यं प्रकीर्तितम्॥** (म० भा० १२/३०६/४३)

अर्थात् यह सांख्य इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यहाँ प्रकृति के चौबीस तत्त्वों का निरूपण एवं उनकी संख्या का ठीक प्रकार निर्धारण किया गया है।

इसके अतिरिक्त अमरकोश में (१/५/३) संख्या पद के दो अर्थों का उल्लेख किया गया है– चर्चा एवं विचारणा। अर्थात् सांख्यशास्त्र में उन सभी तत्त्वों के होने अथवा न होने के सम्बन्ध में भलीप्रकार चिन्तन प्रस्तुत किया गया है, जिनकी इस संसार में होने की सम्भावना है।

तर्कवागीश पं० रघुनाथ सांख्य पद के पीछे इसी कारण को स्वीकार करते हुए कहते हैं– **कस्मात् सांख्य इत्युच्यते। सम्यक् क्रमपूर्वकं ख्यानं कथनं यस्यां सा संख्या क्रमपूर्वा विचारणा। यत् ताम् अधिकृत्य कृतं तस्मात् सांख्यम्, इति उच्यते।** (सांख्यतरङ्ग)।

(२) **सांख्य-दर्शन का सामान्य परिचय–** इस संसार में मनुष्य दुःख से अत्यन्त त्रस्त है, जिससे हमेशा के लिए छुटकारा पाने के लिए उसका प्रयास निरन्तर चलता रहता है। इन प्रयासों में एक प्रयास ज्ञानप्राप्ति भी है अर्थात् व्यक्ति हमेशा के लिए दुःख से मुक्त हो सकता है, यदि उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाए। ज्ञान-प्राप्ति का एकमात्र साधन है– प्रमाण अर्थात्, प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त प्रमाणों द्वारा व्यक्ति जानने योग्य पदार्थों का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करके दुःखों की एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति करने में सक्षम है।

सांख्यदर्शन के अनुसार, मुख्यरूप से दो तत्त्व नित्य हैं– पुरुष और प्रकृति। पुरुष का प्रकाश प्रकृति पर पड़ता है तो सृष्टि की उत्पत्ति होती है, तथा सबसे पहले महत् (बुद्धि) उससे अहंकार, पुनः पञ्चतन्मात्राएँ, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन आदि सोलह तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। जिनमें से पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति मानी गई है। इसप्रकार प्रकृति से कुल मिलाकर २३ तत्त्व उत्पन्न होते हैं। विवेक उत्पन्न होने की स्थिति में साधक को जब पुरुष और

---

१. सांख्यकारिका– ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ० ४।

प्रकृति तथा इससे उत्पन्न सभी पदार्थों का जब ज्ञान हो जाता है, तब उसके दु:खों की एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। जिसे सांख्य की भाषा में मोक्ष या कैवल्य कहा गया है।

सांख्यदर्शन के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं– सत्कार्यवाद एवं पुरुष बहुत्व। जिनका विस्तार से विवेचन आगे किया जाएगा। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सांख्यदर्शन वस्तुतः ज्ञानप्रधान दर्शन है, जो तात्त्विकज्ञान के अनन्तर मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति स्वीकार करता है। यहं केवल तीन प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त को स्वीकार करता है।

**(घ) सांख्यदर्शन के मूल स्रोत–** सांख्यदर्शन अत्यन्त प्राचीन है। विश्व के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में इसके मूलस्रोत का दर्शन किया जा सकता है। यद्यपि वहाँ यह व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत नहीं हुआ है, किन्तु इसके बीज वहाँ अवश्य स्वीकार किए जा सकते हैं, विश्व की संरचना एवं संचालन हेतु ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन तत्त्वों की सत्ता को वहाँ स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है–

**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं विक्षं परिषस्वजाते।**
**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ ऋ०** (१/१६४/२०)

यहाँ विश्व 'प्रकृति' तथा 'पिप्पल' उसके भोगने योग्य पदार्थ हैं। भोगने वाला पक्षी 'जीव' है तथा भोग न करने वाला दूसरा पक्षी 'ईश्वर' है। सेश्वर सांख्य को यहाँ सहज ही स्वीकार किया जा सकता है। नासदीय, हिरण्यगर्भ एवं पुरुष-सूक्त आदि में वर्णित विषयों में भी सांख्यदर्शन का मूल खोजा जा सकता है।

हाँ इतना अवश्य है कि सांख्यदर्शन के प्रकरणग्रन्थ सांख्यकारिका में जो व्यवस्थित सांख्य-सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं, वैसे हमें वेदों में उपलब्ध नहीं होते, किन्तु सांख्यदर्शन का चिन्तन वैदिकसंहिताओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों से प्रारम्भ हो चुका था, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस तथ्य की पुष्टि के लिए कुछ उद्धरण इस प्रसङ्ग में देना उपयुक्त होगा–

नासदीयसूक्त में सांख्य की प्रकृति के रजस् और तमोगुण का उल्लेख मिलता है–

**नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्** (ऋ०– १०/१२९/१)

**तम आसीत्तमसा गूळमग्रे** (वही– १०/१२९/३)

इसी सूक्त में प्रयुक्त अग्रिम मन्त्र में 'सत्' के प्रयोग को विद्वानों ने 'सत्त्व' गुण के अर्थ में प्रयुक्त माना है–

**सतो बन्धुमसति निरविन्दन्** (ऋ० १०/१२९/४)

**'पुरुष एवेदं सर्वम्'** (ऋ० १०/९०/२)

**'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्'** (ऋ० १०/१२९/७)

इत्यादि मन्त्रों में सृष्टि के स्वामी, उत्कृष्ट, सत्यरूप, प्रकाशस्वरूप, आनन्दस्वरूप ईश्वर का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार सूक्ष्मरूप से अन्वेषण करने पर ऋग्वेद के मन्त्रों में अनेक स्थलों पर सांख्य के सिद्धान्तों एवं तत्त्वों को मूलरूप में सहज ही देखा जा सकता है।

शुक्लयजुर्वेदीय 'शतपथब्राह्मण' मे सांख्यशास्त्र के आद्यप्रवर्तक आचार्य 'कपिल' के शिष्य आसुरि का उल्लेख इस बात की पुष्टि करता है कि आचार्य कपिल द्वारा कहे गए सांख्य सिद्धान्तों का पल्लवन, संहिता एवं उपनिषद्काल के बीच ब्राह्मणग्रन्थों के समय में हुआ। आरम्भ में यह सेश्वरसांख्य के रूप में प्रचलित रहा, किन्तु बाद में ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका के काल तक वह निरीश्वर सांख्य के रूप में परिवर्तित होकर प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ।

उपनिषदों तक आते-आते सांख्यसिद्धान्तों का परिष्कृत रूप देखने को मिलता है। जिसका संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है—

**(ङ) उपनिषदों में सांख्यदर्शन–** यद्यपि सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य में दार्शनिक चिन्तन उपलब्ध होता है, किन्तु सभी में सांख्य-सिद्धान्तों का उल्लेख नहीं हुआ है। इनमें से सर्वाधिक प्राचीन बृहदारण्यकोपनिषद् में हमें इसके संकेत उपलब्ध होते हैं। जहाँ पुरुष को द्रष्टा एवं क्रियाशून्य कहा गया है— (बृहदा० ४/३/१५, २/४/१२)। यहाँ उसे 'असंगो ह्ययं पुरुषः' कहकर उसे 'साक्षीमात्र' प्रतिपादित किया गया है। इसी में 'बुद्धि' के लिए सांख्य का पारिभाषिक शब्द 'महत्' भी हमें प्रयुक्त मिलता है। (बृहदा० २/४/१२) इसी स्थल पर बुद्धि के ज्ञानात्मक स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए 'विज्ञानघन' शब्द का प्रयोग भी हुआ है—

**स यथा सैन्धवखिल्य - - - -यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद् भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवं एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति** (बृ० २/४/१२)

छान्दोग्योपनिषद् में सांख्य के प्रसिद्ध सिद्धान्त, 'सत्कार्यवाद' के दर्शन होते हैं— 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० उ० ६/२/१) इसी उपनिषद् में एकमात्र अद्वितीय तत्त्व 'सत्' को भी अनादिकाल से स्थित बताया गया है— ''तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्ञायत (छा० उ० ६/२/१)। पुनः अग्रिम मन्त्र में 'सत्कार्यवाद' प्रतिपादित किया गया है— ''कथमसतः सज्ञायेतेति, सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् (६/२/२)।

वहीं मृत्पिण्ड से बर्तनों के समान नानारूपात्मक जगत् की सृष्टि का 'सत्' से उत्पन्न होना बताया है **''यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्** (छा० उ० ६/१/४) तथा प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमोगुण के रूप एवं रंग का भी उल्लेख हुआ है— त्रीणि रूपाणि इत्येव सत्यम् (छा० उ० ३)। इस स्थल पर अग्नि की लालिमा में रजोगुण, जल की शुक्लता में सतोगुण तथा पृथिवी की कृष्णता में तमोगुण की कल्पना की गई है।

जिसका कथन अपेक्षाकृत अर्वाचीन श्वेताश्वतर, महानारायण एवं ईशोपनिषद् में भी मिलता है। जहाँ प्रकृति को अनादिकाल से स्थित, 'अजा' कहा गया है तथा उसके सत्त्व, रजस् और तमोगुणों का उल्लेख भी हुआ है।

**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।**
**अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥**

(श्वेता० ५/४, महा० नारा० पृ० ४)

कठोपनिषद् में भी सांख्य के तत्त्व अव्यक्त और पुरुष का उल्लेख मिलता है– **''महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः, पुरुषान्न परं किञ्चित्** (कठो० ३/११ मुण्डकोपनिषद् (३/१) में वेदमन्त्र 'द्वासुपर्णा' इत्यादि की पुनरावृत्ति हुई है। जहाँ दो प्रकार के पुरुषों (जीव एवं ईश्वर) का निर्देश हुआ है। इसके पश्चात् श्वेताश्वतरोपनिषद् में सांख्य के सिद्धान्तों का व्यवस्थित उल्लेख प्राप्त होता है–

**संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः** (१/८)

**ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजाह्येका** (१/९)

**क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः** (१/१०) **मायां तु प्रकृतिं विद्यात्** (४/१०)

इसी उपनिषद् में सांख्य एवं उसके प्रवर्तक आचार्य कपिल की चर्चा भी हुई है। यद्यपि टीकाकारों में इस कपिल को लेकर वैमत्य मिलता है, किन्तु इस बात को स्वीकार करने में लेशमात्र भी अनौचित्य नहीं है कि अन्य उपनिषदों की अपेक्षा इसमें अधिक स्पष्ट रूप से सांख्य के तत्त्वों की चर्चा हुई है। सम्भवतः इसी कारण कीथ ने इस उपनिषद् में वर्णित सांख्य के मूल सिद्धान्तों से सांख्य के विकास को स्वीकार किया है। (फिलॉसफी और उपनिषदाज– पृ० २००) यद्यपि कुछ विद्वानों ने कीथ के मत से असहमति भी व्यक्ति की है, किन्तु उपर्युक्त वर्णन के आधार पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि– ''सांख्य के बीज वैदिक काल से लेकर प्राचीन उपनिषदों तक बिखरे रहे होंगे, पुनः अंकुरित होकर कठोपनिषद् से पहले ही पर्याप्त रूप में पल्लवित हो चुके होंगे।'' जैकोबी भी सांख्य का उदय उपनिषदों के दो प्राचीन अर्वाचीन कालखण्ड के बीच स्वीकार करते हैं।

किन्तु दूसरी मान्यता के अनुसार– ''कपिल प्रोक्त सांख्यीय सिद्धान्तों का निरूपण संहिता, आरण्यक एवं उपनिषद्काल के बीच सम्भवतः ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय में हुआ, जिसका प्रतिनिधित्व ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्यकारिका ग्रन्थ करता है।'' (साख्यकारिका-ब्रजमोहन चतुर्वेदी, भूमिका, पृ० १६)

पहले इस दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को प्रतिपादित किया गया था, किन्तु बाद में यह निरीश्वरसांख्य के रूप में स्थापित हुआ। सेश्वर सांख्य महात्मा बुद्ध और महाभारत से पहले अस्तित्व में आ चुका था। प्राचीन उपनिषदों का भी यही काल रहा है। ब्रह्मसूत्र का रचना काल ई० पू० द्वितीय शताब्दी माना जाता है, जिसमें निरीश्वर सांख्य का निराकरण किया गया है। अतः इस आधार पर कहा जा सकता है कि निरीश्वर सांख्य ई० पू० द्वितीय शताब्दी से पहले ही प्रतिष्ठित हो चुका था। महाभारत में सांख्य के तत्त्वों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। जहाँ उसके २५, २४ तथा २६ तत्त्वों का भिन्न स्थलों पर उल्लेख हुआ है। पचीस और चौबीस तत्त्वों के प्रतिपादन के कारण महाभारत-काल में भी निरीश्वर सांख्य की स्थिति को स्वीकार किया जा सकता है।

महात्मा बुद्ध के समय महाभारत के अस्तित्व को विद्वानों ने स्वीकार किया है और बुद्ध का समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी रहा है। अतः कहा जा सकता है कि सेश्वर सांख्य महात्मा बुद्ध और महाभारत से बहुत पहले ही अस्तित्व में आ चुका था।

**(च) सांख्य के प्रमुख आचार्य एवं रचनाएँ– १. कपिल–** सांख्यदर्शन के प्रवर्तक आचार्य महर्षि कपिल हैं। श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार 'इनके पिता का नाम कर्दम और माता का नाम देवहूति था (२/२४) ये विष्णु के पाँचवे अवतार थे। इन्होंने काल कवलित सांख्यशास्त्र का आसुरि को उपदेश देकर प्रवर्तन किया। इस सांख्य में ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण तत्त्वों का निरूपण भलीप्रकार किया गया है (१/३) महाभारत में इसे ब्रह्मा का पुत्र एवं अग्नि कहा गया है।

बौधायन गृह्यसूत्र में भी चार आश्रमों का विभाजन करने वाले कपिल का उल्लेख मिलता है। साथ ही एक स्मृतिकार कपिल भी हुए हैं। पुराणों में एक अन्य कपिल का उल्लेख भी मिलता है, जिन्होंने राजा सगर के दस हजार पुत्रों को भस्म कर दिया था। इस प्रकार अनेक कपिलों का उल्लेख होने के कारण 'मैक्समूलर' कोलब्रुक एवं कीथ आदि विद्वानों ने कपिल की ऐतिहासिकता पर ही प्रश्न चिह्न लगा दिया है। किन्तु गार्वे नामक विद्वान् ने जोरदार शब्दों में इस मत का खण्डन करते हुए कहा कि– ''यह बात ठीक है कि जिनका कपिल के नाम से उल्लेख मिला है वे सभी निश्चय ही ऐतिहासिक नहीं हैं, किन्तु सांख्यकारिकाकार आचार्य ईश्वरकृष्ण ने जिन महर्षि का कपिल के रूप में उल्लेख किया है, उनकी ऐतिहासिकता में संदेह लेशमात्र भी प्रतीत नहीं होता।''

प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डॉ० राधाकृष्णन् ने भी 'कपिल' को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हुए महात्मा बुद्ध से ठीक पूर्व उनका स्थितिकाल स्वीकार किया है। ये बहुत बड़े योगी थे। इन्हें धर्मज्ञान और वैराग्य जन्म से सिद्ध थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि कपिल से पूर्व में पर्याप्त रूप के बिखरे हुए सांख्य के सिद्धान्तों को व्यवस्थित करके महर्षि कपिल ने आसुरि को उपदेश दिया होगा। यह उपदेश निश्चय ही आरम्भ में 'प्रवचन' रूप में होगा, जिसे बाद में लिपिबद्ध किया गया होगा। विद्वानों के अनुसार– 'सांख्यप्रवचनसूत्र' ही वह उपदेश है जो महर्षि कपिल ने आसुरि को प्रदान किया, किन्तु कुछ विद्वान् 'षष्टितन्त्र' को कपिल की कृति स्वीकार करते हैं। जबकि चीनी परम्परा षष्टितन्त्र का प्रणेता उनके शिष्य पञ्चशिख को स्वीकार करती है।

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य शङ्कर 'तन्त्र' नामक स्मृति को कपिल की कृति स्वीकार करते हैं, जिसे बाद में पञ्चशिख द्वारा विस्तृत रूप प्रदान किया गया। उसी को 'षष्टितन्त्र' के रूप में ख्याति प्राप्त हुई और पञ्चशिख उसके प्रणेता माने गए। जयमंगला टीकाकार ने भी लिखा है– **'तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्' अर्थात् पञ्चशिखेन मुनिना बहुधा कृतं तन्त्रम्। षष्टितन्त्राख्यं षष्टिखण्ड कृतमिति।**

इस आधार पर यही प्रतीत होता है कि मूल 'तन्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना (सम्भवतः वह लिखित रूप में न भी हो) महर्षि कपिल ने की। जिसका उपदेश उन्होंने प्रथम तो आसुरि को दिया, तथा उसका विस्तृत व्याख्यान 'षष्टितन्त्र' के रूप में प्रशिष्य पञ्चशिखाचार्य द्वारा किया गया। इसी दृष्टि से महर्षि कपिल को सांख्य के प्रणेता आचार्य के रूप में ख्याति प्राप्त हुई। सांख्यकारिकाकार ने इसी तथ्य को कारिका संख्या ७० में उद्धृत किया है–

**एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।**

**आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥७०॥**

श्रीमद्भागवत (१/३), योगसूत्र (१/१२५) के व्यासभाष्य में भी यहीं तथ्य उल्लिखित है।

२. **आसुरि–** शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि– ''आसुरि एक वैदिक एवं कर्मकाण्डी मीमांसक थे, जिन्हें कर्म से विरक्ति हो गई थी। वे जिज्ञासुभाव से महर्षि कपिल की शरण में आए। जहाँ उन्होंने इन्हें सांख्यशास्त्र की शिक्षा प्रदान की''।

सांख्यकारिका की टीका जयमंगला एवं माठरवृत्ति में भी इस कथा का उल्लेख करते हुए कपिल द्वारा आसुरि को सांख्यशास्त्र का ज्ञान प्रदान करने का उल्लेख किया गया है। आसुरि का कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, केवल 'षड्दर्शन समुच्चय' की हरिभद्रकृत टीका में एक श्लोक आसुरि के नाम से उपलब्ध होता है–

**विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।**

**प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥**

इस आधार पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि आसुरि ने किसी ग्रन्थ की संरचना अवश्य ही होगी, जो बाद में लुप्त हो गया। कुछ विद्वानों ने इस सम्बन्ध में यह भी सम्भावना व्यक्त की है कि पञ्चशिखाचार्य ने कपिल द्वारा विरचित 'तन्त्र' एवं आसुरि प्रणीत वाङ्मय (ग्रन्थ) का अपने 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ में समावेश कर लिया। परिणामस्वरूप आज 'षष्टितन्त्र' के लुप्त होने के साथ ही कपिलतन्त्र एवं आसुरि-ग्रन्थ दोनों विलुप्त हो गए।

३. **पञ्चशिख–** ये सांख्य के प्रवर्तक आचार्य कपिल के प्रशिष्य थे। ये भी सांख्य के प्रसिद्ध आचार्य हैं। सांख्यपरम्परा इन्हें 'षष्टितन्त्र' का कर्ता स्वीकार करती है। महाभारत की एक कथा के अनुसार– 'कपिला नामक ब्राह्मणी' के दुग्धपान से भरणपोषण के कारण इनका 'कापिलेय' नाम पड़ा।

**ब्राह्मणी कपिला नाम काचिदासीत् कुटुम्बिनी।**

**तस्याः पुत्रत्वमागम्य स्त्रियः स पिबति स्तनौ॥**

**ततः स कापिलेयत्वं लेभे बुद्धिं च नैष्ठिकीम्।**

(महा० १२/२१८/१५, १६)

यही बालक आगे चलकर 'पञ्चशिख' के नाम से विख्यात हुआ।

**पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः।**

**पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः॥** (महा० १२/२/८)

गार्बे 'आचार्य पञ्चशिख' को ईसा की प्रथम शताब्दी में स्वीकार करते हैं, किन्तु महाभारत में विस्तार से उल्लेख होने के कारण इसके औचित्य में संदेह प्रतीत होता है। महाभारत में ही एक स्थल पर उन्हें **'पराशरसगोत्र'** एवं भिक्षु भी कहा है–

**पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।**

**भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसंमतः॥** (महा० १२/३२०/२४)

यद्यपि पञ्चशिख विरचित 'षष्टितन्त्र' आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु सांख्य और योग के विभिन्न ग्रन्थों में पञ्चशिख के नाम से अनेक वचन उपलब्ध होते हैं।[1] साथ ही सांख्यकारिका की सत्रहवीं कारिका के गौडपाद-भाष्य में षष्टितन्त्र के नाम से भी 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधान प्रवर्तते' वचन मिलता है।

कुछ विद्वानों ने आचार्य पञ्चशिख के एक अन्य ग्रन्थ 'भिक्षुसूत्र' का भी उल्लेख किया है तथा उन्हें आचार्य पाणिनि, बुद्ध एवं महाभारत से पूर्वकाल में स्थापित किया है।

चीनी परम्परा भी षष्टितन्त्र को पञ्चशिख की संरचना स्वीकार करती है। ब्रजमोहन चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ सांख्यकारिका की भूमिका में विस्तृत विवेचन के पश्चात् निष्कर्ष निकाला है कि– 'ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक लोग पञ्चशिख की रचनाओं से पूर्णतया परिचित हो चुके थे।' ये निश्चय ही सांख्य के प्रमुख व्याख्याता आचार्य थे, इसीलिए सम्पूर्ण सांख्यग्रन्थों में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से इनके मतों का उल्लेख मिलता है। किन्तु इनके पारिवारिक जीवन के विषय में हमें कुछ भी जानकारी नहीं है।

४. **विन्ध्यवासी–** इन्हीं का दूसरा नाम 'विन्ध्यवास' भी कहा गया है। कुछ विद्वानों ने इन्हें और ईश्वरकृष्ण दोनों को एक ही माना है।[2] किन्तु ऐसा मानने का ठोस आधार उपलब्ध नहीं होता।[3] वस्तुतः विन्ध्य पर्वत के वनों में रहने के कारण इन्हें विन्ध्यवासी कहा गया है। इनका वास्तविक नाम 'रुद्रिल' था। ये भी सांख्य के प्रसिद्ध आचार्य माने गए हैं। विभिन्न ग्रन्थों– श्लोकवार्तिकतत्त्वसंग्रह पञ्जिका, योगसूत्र भोजवृत्ति, सांख्यकारिका की युक्तिदीपिकाटीका आदि) में इसके सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने अवश्य ही किसी प्रौढ़ सांख्य ग्रन्थ की संरचना की होगी। जो आज हमें उपलब्ध नहीं है। इनका समय विद्वानों ने ईसा की चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर पञ्चम शताब्दी के मध्य तक स्थापित किया है।

चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित सांख्यकारिका की माठरवृत्ति टीका की भूमिका में तनसुखराम शर्मा ने विन्ध्यवासी एवं व्याडि (प्रसिद्धि वैयाकरण) को एक माना है। उनके अनुसार– व्याडिवर्ष नामक प्रसिद्ध वैयाकरण के शिष्य तथा आचार्य पाणिनि के सहपाठी थे। उन्होंने इन्हें नन्दों के समय में स्वीकार किया है। कथासरित्सागर में व्याडि को नन्दों का मन्त्री कहा गया है।

माठरवृत्ति की भूमिका में इन्हें पाणिनि सूत्रों के संग्रहटीकाकार, कोशकार तथा महाभाष्यकार पतञ्जलि से पूर्ववर्ती सांख्य एवं योगदर्शन के आचार्य के रूप में उद्धृत किया गया है–

---

१. योगसूत्रव्यासभाष्य, सांख्यतत्त्व कौमुदी– सां० का० २। योगभाष्य १/४। योगभाष्य १/१७, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य-भामती २/१/१०, योगभाष्य– १/३७, २/६, २/२०।

२. J.R. A. S. I 205 P. 47.52 Dr. Tekakusu.

३. डॉ हरदत्त शर्मा ने विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्ण को भिन्न स्वीकार किया है। (सांख्यतत्त्व कौमुदी की भूमिका, अनु० महा० पं० गंगानाथ झा)

**स च भगवतो वर्षस्य शिष्यो नन्दसमकालीनः पाणिनिसूत्राणां संग्रहाख्यटीकायाः, कस्यचित् कोशस्य च कर्ता, दाक्षायणः पतञ्जलेरपि पुरोगामी सांख्ययोगाचार्यश्च।** (माठरवृत्ति– भूमिका, पृ० ३)

चीनी परम्परा इन्हें 'हिरण्यसप्तति' नामक प्रसिद्ध सांख्यग्रन्थ का निर्माता स्वीकार करती है, किन्तु डॉ० बेलवल्कर 'हिरण्यसप्तति' को सांख्यकारिका की ही एक टीका स्वीकार करते हैं।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इन्हें कैयट द्वारा लक्षश्लोकात्मक कहे गये 'संग्रह' नामक ग्रन्थ का रचयिता बताते हुए, अत्यन्त सम्मान के साथ इनका उल्लेख किया है।

इस सम्पूर्ण विवरण के आधार पर संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि विन्ध्यवासी, विन्ध्यवास अथवा व्याडि तीनों को एक ही मानना उचित प्रतीत होता है तथा इनका स्थितिकाल ईसा पू० चतुर्थ शताब्दी के लगभग स्वीकार करना तर्कसंगत प्रतीत होता है।

कीथ ने सांख्य के विन्ध्यवासी एवं वैयाकरण व्याडि को एक स्वीकार करते हुए भी हिरण्यसप्ततिकार से उन्हें भिन्न एवं स्वतन्त्र माना है।

५. **जैगीषव्य–** ये भी सांख्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य थे। कूर्म पुराण में इन्हें पञ्चशिख का सहपाठी कहा गया है। महाभारत में इन्हें सांख्य के आचार्य देवल का गुरु बताया गया है। योगसूत्रों के व्यासभाष्य में (२/५५) इन्हें जितेन्द्रिय कहा गया है– "**चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः**"। इनकी कोई रचना आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु महाभारत आदि ग्रन्थों में इनके सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है।

महाभारत में इनके विषय में चर्चा हुई है। अतः यह माना जा सकता है कि ये महाभारत से पूर्व रहे होंगे। कुछ विद्वानों ने इन्हें पञ्चशिख के कुछ बाद में स्थापित किया है।

अश्वघोष ने बुद्धचरित (१२/६६) में सांख्य एवं योग के प्राचीन आचार्यों के रूप में इनका भी उल्लेख किया है और कहा है कि– इन्हें सांख्य द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हुई। यही बात जयमंगला टीका की भूमिका में भी कही गई है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्व कौमुदी टीका में इन्हें अनेक जन्मों की घटनाओं को स्मरण करने वाला माना है। उन्होंने ही न्यायवार्तिक की तात्पर्यटीका में इनका धारणाशास्त्र के निर्माता के रूप में उल्लेख किया है।

६. **वार्षगण्य–** ये भी सांख्य के प्रमुख आचार्यों में परिगणित है। इनके विषय में बहुत अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, क्योंकि न तो इनका कोई ग्रन्थ मिलता है और न ही अन्य आचार्यों ने इनकी विस्तृत चर्चा ही की है, अपितु विभिन्न ग्रन्थों में इनके सिद्धान्तों का नाम निर्देशपूर्वक उल्लेख अवश्य मिलता है। कुछ स्थलों पर इनके अनुयायियों, जिन्हें 'वार्षगणाः' कहा गया है, के नाम से भी इसके सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। जैसे–

(क) मूर्तिव्यवधि जातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः। (यो० भा०, पृ० ३/५३)

(ख) श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः (युक्तिदीपिका, पृ० ३९)

(ग) साधारणो हि महान् प्रकृतित्वात् इति वार्षगणानां पक्षः (युक्ति०, पृ० १४०)

(घ) तथा च वार्षगणाः पठन्ति (युक्तिदीपिका, पृ० ९५)

(ङ) एकरूपाणि तन्मात्राणीत्यन्ये, एकोत्तराणीति वार्षगण्यः (युक्तिदीपिका, पृ० १०८)

(च) तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति (युक्तिदीपिका, पृ० ७२)

इन उल्लेखों के आधार पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है। कि वार्षगण्यः सांख्यशास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य रहे। सांख्य सिद्धान्तों के विषय में उनकी विशेष मान्यताएँ रहीं, जो अन्य आचार्यों के साथ भिन्नता भी रखती थी। उनके अनुयायियों की लम्बी परम्परा थी। इसीलिए उन्हें 'वार्षगणाः' के रूप में उद्धृत किया गया तथा वार्षगण्य ने निश्चय ही किसी ग्रन्थ का प्रणयन किया होगा, जो आज विलुप्त हो गया है।

ईसा की प्रथम शताब्दी में स्थित बौद्ध दार्शनिक महाकवि अश्वघोष ने बुद्धचरित में (१२/३३) इनके 'पञ्चपर्वाऽविद्या' वचन का उल्लेख किया है। जिसे सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने वार्षगण्य के नाम लिखा है—

**'पञ्चपर्वाऽविद्या' इत्याह स्मभगवान् वार्षगण्यः** (सां० त० कौ० का०४७)

इस आधार पर कहा जा सकता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक ये सांख्य के लब्धप्रतिष्ठ आचार्य के रूप में विख्यात हो चुके थे। अतः इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी से पर्याप्त पूर्व में निर्धारित करना उचित प्रतीत होता है।

कुछ विद्वानों ने 'वार्षगण्य' को 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ का प्रणेता भी माना है। किन्तु इस विचार को अधिकांश विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है और षष्टितन्त्र का प्रणेता आचार्य पञ्चशिख को ही माना है। जिसका हम पूर्व में ही उल्लेख कर चुके हैं।

इसके अतिरिक्त भी सांख्यकारिकाकार से पूर्व में— 'वोढु, असित, देवल, सनक,सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, भृगु, शुक्र, काश्यप, पराशर, गर्ग, गौतम, नारद, अगस्त्य, पुलस्त्य, हारीत, उल्लूक, वाजीकि, बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, कौडिन्य, मूक आदि आचार्यों का भी स्मृति, पुराण, महाभारत, सांख्यकारिका, सांख्यसूत्र तथा सांख्यकारिका की टीका-प्रटीकाएँ आदिग्रन्थों में नामोल्लेख हुआ है, किन्तु इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, केवल इनमें से कुछ के मतों का उल्लेख अवश्य विभिन्न ग्रन्थों में हुआ है।

वस्तुतः ये सभी नाम उस काल से सम्बन्ध रखते हैं, जिसका हमारे पास विधिवत् इतिहास उपलब्ध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक समय में सांख्य अत्यन्त चर्चित दर्शन रहा, अतः प्रायः सभी प्रमुख चिन्तकों ने खण्डन अथवा मण्डन की दृष्टि से, जो भी कुछ सांख्य के विषय में कहा, उनके नामों का उल्लेख अन्यान्य ग्रन्थों में कर दिया गया। अतः इस दृष्टि से इन सभी आचार्यों का सांख्य के इतिहास में अत्यधिक महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। पुनरपि इनमें से वोढु, देवल और सनकादि का हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं, क्योंकि कुछ विद्वानों ने इन्हें सांख्य आचार्यों के रूप में मान्यता प्रदान की है।

(क) **वोढु**— ऋषितर्पण नामक ग्रन्थ में पञ्चशिख से पूर्व एवं आसुरि के बाद इनके नाम का उल्लेख मिलता है। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। वेबर ने बुद्ध और वोढु को एक मानते

हुए, इसे मात्र नाम का ब्राह्मणीकरण स्वीकार किया है। कीथ ने इन्हें अथर्ववेद के परिशिष्ट के कर्ता के रूप में मानते हुए, इनको आसुरि से पूर्व माना है। इनका यत्र-तत्र नामोल्लेख ही मिलता है।

(ख) **देवल–** महाभारत के शान्तिपर्व में नारद एवं असितदेवल का संवाद अत्यन्त विस्तृत रूप में आया है। (महा० १२/२७४/३९) इसी प्रसंग में सांख्य की आचारसंहिता के विषय में विस्तार से चर्चा की गई है और कहा गया है कि– सांख्यदर्शन पाप और पुण्य दोनों का विनाशक है, जिससे प्रमाता ब्रह्मभाव को प्राप्त करके मोक्ष की अनुभूति करता है।

महामहोपाध्याय काणे ने धर्मशास्त्र के इतिहास में इन्हें भी स्मृतिकार के रूप में मानते हुए ईसा की चतुर्थ शताब्दी से षष्ठ शताब्दी के मध्य स्वीकार किया है। माठरवृत्ति में उल्लिखित सांख्याचार्यों की परम्परा में 'देवल' अन्त में परिगणित हैं। इसके बाद ही ईश्वरकृष्ण का उल्लेख हुआ है– "**कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानं ततः पञ्चशिखेन तस्माद् भार्गवोलूक-वाल्मीकिहारीत-देवलप्रभृतीनागतम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्।**" (माठरवृत्ति-७१)

साथ ही देवल के साथ 'प्रभृति' शब्द के प्रयोग से देवल एवं ईश्वरकृष्ण के काल में पर्याप्त अन्तर की भी प्रतीति हो रही है, किन्तु यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि माठरवृत्ति में उल्लिखित आचार्यों की नामावली की यह पपरम्परा अन्य प्रमाणों से परिपुष्ट नहीं होती। पुनरपि इतना तो अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि देवल भी सांख्य के प्रतिष्ठित आचार्य रहे तथा उन्हें ईश्वरकृष्ण से पूर्व मानना उचित प्रतीत होता है।

(ग) **सनकादि–** प्रथमकारिका के गौडपादभाष्य में 'सनक, सनन्दन, सनातन, आसुरि, कपिल, वोढु एवं पञ्चशिख आदि सांख्य के आचार्यों का उल्लेख किया गया है–

**सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।**
**आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा॥**
**इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्तप्रोक्ता महर्षयः॥** (गौडपादभाष्य-१)

स्पष्ट ही यहाँ इन सातों आचार्यों को ब्रह्मा का पुत्र बताया गया है। महाभारत में भी शान्तिपर्व के अन्तर्गत कुछ भिन्न रूप में इन आचार्यों को परिगणित किया है (सन, सनक, सुजात, सनक सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन), किन्तु इनमें से सांख्य के आचार्य के रूप में सांख्यसूत्र में केवल सनन्दन का उल्लेख मिलता है–

**लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः** (सा० सू० ६/६९)

कपिल तो निर्विवाद रूप से सांख्य के प्रवर्तक आचार्य हैं, ही। यहाँ वाल्मीकि और शुक के सांख्य आचार्य होने के सम्बन्ध में अन्यत्र कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, किन्तु फिर भी इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इन विद्वानों ने निश्चय ही सांख्य पर कोई व्याख्यान किया होगा जो आज उपलब्ध नहीं है तथा उसका अधिक प्रचार भी नहीं हो सका होगा।

यहाँ तक हमने सांख्य के प्रमुख आचार्यों के विषय में विचार प्रस्तुत किया। अब हम सांख्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के विषय में विवेचन प्रस्तुत करेंगे। यह अत्यन्त आश्चर्य का

विषय है कि भारतीय दर्शनजगत् में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावित करने वाले सांख्यदर्शन के आचार्यों की परम्परा भले ही लम्बी हो, किन्तु इसका उपलब्ध साहित्य अत्यल्प ही है। यदि हम इस दर्शन में से सांख्यकारिका तथा उसके भाष्य, टीका साहित्य को निकाल दें तो उपलब्ध साहित्य नगण्य ही होगा।

फिर भी यहाँ इस दर्शन के अनुपलब्ध एवं उपलब्ध, मौलिक एवं व्याख्या ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत करना उचित होगा–

**(छ) सांख्यदर्शन के प्रमुख प्राचीन ग्रन्थ**

१. **सांख्यसूत्र–** भारतीयदर्शन की एक परम्परा रही है कि इनके प्रवर्तक ग्रन्थ प्रायः सूत्ररूप में लिखे गए। इसी आधार पर विद्वानों ने कल्पना की कि सांख्य के प्रवर्तक आचार्य कपिल ने भी निश्चित रूप से सूत्रों में ही सांख्यसिद्धान्त का निरूपण किया होगा, जिसका उल्लेख सांख्यकारिका आदि अनेक सांख्यग्रन्थों में हुआ भी है, किन्तु दैवयोग से वह सूत्रात्मक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। बहुत सम्भव है वह कभी लिपिबद्ध हुआ ही न हो।

जो सांख्यसूत्र हमें आज मिलता है, वस्तुतः आद्य कपिल की रचना नहीं है, अपितु बहुत बाद में ईसा की नवम शताब्दी के लगभग लिखी गई है। इस सम्बन्ध में विद्वानों का कहना है कि ''प्राचीन सांख्यसूत्र के रहते ऐसा कोई कारण नहीं था कि प्राचीन भाष्यकार शङ्कराचार्य एवं माध्वाचार्य आदि सांख्य के तत्त्वों के प्रसंग में एक बार भी सांख्यसूत्र को उद्धृत न करके केवल सांख्यकारिकाओं को ही उदाहरण रूप में देते।'' जो स्वयं में एक प्रबल तर्क है।

अतः इस सांख्यसूत्र के विषय में यही कहना उचित होगा कि सांख्य के प्रवर्तक आचार्य महर्षि कपिल द्वारा विरचित 'सांख्यसूत्र' के उनके समय में होने की पूरी सम्भावना है, किन्तु वर्तमान में वह उपलब्ध नहीं है। अतः उनके विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे संख्या में कितने थे? उसमें कितने अध्याय अथवा पाद थे? अर्वाचीन सांख्यसूत्र का विवेचन हम बाद में करेंगे।

२. **षष्टितन्त्र–** इसे सांख्य का आकरग्रन्थ माना गया है। जयमंगला टीका में इसके अनेक उद्धरणों का उल्लेख हुआ है। इसे आसुरि शिष्य पञ्चशिख की रचना स्वीकार किया गया है (पञ्चशिखेन मुनिना बहुधाकृतं तन्त्रं षष्टितन्त्राख्यं षष्टिखण्डं कृतमिति। तत्रैव षष्टिरर्था व्याख्याताः (जयमंगला)

स्पष्ट है कि इस कृति के साठ अध्यायों में सांख्य के साठ तत्त्वों का विस्तार से विवेचन किया गया।

योगभाष्य में इसके अनेक उद्धरण मिलते हैं। यद्यपि विद्वानों में इस ग्रन्थ के कर्ता के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है और उसका कारण इसके कर्ता के रूप में विविध विद्वानों के नाम का उल्लेख है। जैसे– योगभाष्य में उपलब्ध षष्टितन्त्र के **''गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं यातं तन्मायेव सुतुच्छकम्''** श्लोक को वाचस्पतिमिश्र 'भामती' टीका में वार्षगण्य कृत मानते हैं तथा षष्टितन्त्र को योगशास्त्र का ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।

इसी प्रकार ब्र० सू० (२/१/१) में षष्टितन्त्र को महर्षि कपिल की रचना माना गया है (कपिलमहर्षिप्रणीतषष्टितन्त्राख्यस्मृतेः) यहाँ इसे स्मृति कहा गया है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में आचार्यशंकर परमर्षि द्वारा विरचित 'तन्त्र' नामक जिस स्मृति का उल्लेख किया गया है, उसमें विद्वानों ने षष्टितन्त्र की ही सम्भावना व्यक्त की है।

इस प्रकार मतवैमत्य के रहते हुए भी अधिकांश विद्वान् षष्टितन्त्र को आचार्य पञ्चशिख की रचना ही मानते हैं और इसका प्रमुख कारण सांख्यकारिका की प्रसिद्ध टीका जयमंगला के कर्ता द्वारा बार-बार उल्लेख रहा है।

३. **राजवार्तिक**— वाचसपतिमिश्र ने तत्त्वकौमुदी टीका में बहत्तरवीं कारिका की व्याख्या में इस नाम से तीन श्लोकों को उद्धृत किया है—

**प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता।**
**पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च॥**
**शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश।**
**विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः॥**
**करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा स्मृतम्।**
**इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः॥**

इनमें सांख्य के साठ तत्त्वों का नामोल्लेख किया गया है। गार्बे ने इसका प्रणेता राजा भोज को माना है। इसके विपरीत दासगुप्त इसे सांख्यकारिका की ही एक टीका मानते हैं जो आज उपलब्ध नहीं है।

साथ ही इन तीन श्लोकों के अतिरिक्त अन्यत्र किसी सांख्यग्रन्थ आदि में राजवार्तिक का कोई उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता है। जयमंगला, माठरवृत्ति,सांख्यतत्त्व विवेक, तत्त्वयथार्थदीपिका, तत्त्वसमाससूत्र एवं अहिर्बुध्नसंहिता में राजवार्तिक के इन्हीं तीन श्लोकों में परिगणित सांख्यशास्त्र के तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। अहिर्बुध्नसंहिता में तो क्रम भी प्रायः यही रहा है।

अतः इस आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि यह भी सांख्यकारिका की कोई टीका रही होगी, जिसके महत्त्व को वाचस्पति मिश्र ने भी स्वीकार करते हुए अपनी टीका में स्थान दिया। साथ ही किसी प्राचीन ग्रन्थ की टीका की सम्भावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता।

४. **एपिक सांख्य**— महाभारत, गीता, श्रीमद्भागवत, देवी भागवत, वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण स्कन्दपुराण (प्रभासखण्ड), मनुस्मृति, शंखस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि ग्रन्थों में भी सांख्य सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। इनमें से कुछ ग्रन्थों में तो अत्यन्त प्रौढ़ एवं विस्तृत विवेचन भी उपलब्ध होता है, क्योंकि इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर विवेचन महाभारत में हुआ है। अतः आधुनिक विद्वानों ने इसे 'एपिक सांख्य' की संज्ञा प्रदान की है।

वस्तुतः इस सम्पूर्ण विवेचन को संग्रह करके शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है जो सांख्यशास्त्र को स्वयं में बहुत बड़ी देन होगा। महाभारत के वनपर्व में सांख्य के तीन गुण,

व्यक्त, अव्यक्त, चौबीस तत्त्वों सहित, पंचमहाभूतों का विस्तृत एवं स्पष्ट उल्लेख हुआ है। शान्तिपर्व में पुरुष को निर्गुण एवं निर्विकार बताते हुए प्रकृति को गुणों की सृष्टि करने वाला कहा गया है।[1]

यहाँ गुण को आत्मा का धर्म होने से मना किया गया है। प्रकृति के लिए 'सत्त्व' शब्द का प्रयोग भी यहाँ किया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में ही भीष्मपितामह द्वारा सांख्य एवं योग का विशद विवेचन भी किया गया है।

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत तथा देवीभागवत पुराणों में सांख्य के तत्त्वों का अत्यन्त व्यवस्थित विवेचन उपलब्ध होता है। इस सम्पूर्ण विवेचन की एक विशेषता है कि इसमें पुरुष एवं प्रकृति के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व ईश्वर को भी मान्यता प्रदान की गई है जो पुरुष एवं प्रकृति दोनों का नियन्ता है। इसलिए इसे **'सेश्वर सांख्य'** की संज्ञा दी जाती है। यह ईश्वर वेदान्त के ब्रह्म से मिलता जुलता है। इसकी आराधना से ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भागवत पुराण के तृतीय अध्याय में सांख्य सिद्धान्तों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। सम्पूर्ण पौराणिक एवं महाभारत के सांख्य विवेचन में अत्यन्त साम्य मिलता है। इसके अतिरिक्त वायुपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण एवं स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड में सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों का पर्याप्त विवेचन हुआ है।

ईसा पूर्व लगभग २०० वर्ष से लेकर लगभग १००० ई० के मध्य लिखे गये स्मृति साहित्य में प्राचीनतम मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में सत्त्व, रजस् एवं तमोगुण के स्वरूप का विवेचन करके आत्मज्ञान की सर्वोच्चता का प्रतिपादन किया गया है। शंख स्मृति में सांख्य के चौबीस तत्त्वों का विस्तार से वर्णन मिलता है। वहाँ पुरुष को विष्णु के रूप में कहा गया है। (७/२१/२५)

याज्ञवल्क्य स्मृति में (३/१७९) व्यक्त से बुद्धि, उससे अहंकार तथा अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति का कथन हुआ है। इस सम्पूर्ण विवेचन में प्रायः ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है। इसीलिए इसे सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। वस्तुतः सांख्य अपने आरम्भिक काल में सेश्वर रहा, किन्तु सांख्यकारिका, सांख्यसूत्र एवं समास तत्त्वसूत्र एवं उनकी टीकाओं में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया। अतः इनमें प्रतिपादित सांख्य निरीश्वर सांख्य की कोटि में आता है।

सांख्यकारिका एवं उसकी टीकाओं की विस्तार से चर्चा हम बाद में करेंगे अर्वाचीन सांख्यसूत्र एवं तत्त्वसमास सूत्र का उल्लेख किया जा रहा है—

५. **अर्वाचीन सांख्यसूत्र**— छः अध्यायों के अन्तर्गत ५२७ सूत्रों में निबद्ध इस सूत्रग्रन्थ के प्रथम तीन अध्यायों में सांख्यदर्शन के सभी सिद्धान्तों का विस्तार से विवेचन हुआ है। चतुर्थ अध्याय में उदाहरण दिए गए हैं तथा पञ्चम अध्याय में विरोधियों के सिद्धान्तों का तर्कपूर्ण

१. महाभारत शान्तिपर्व ११०/१७,२१, ३३, ३५

पद्धति से खण्डन किया गया है। अन्तिम षष्ठ अध्याय में पुनः सांख्य सिद्धान्तों की प्रस्थापना की गई, है। व्रजमोहन चतुर्वेदी ने अपने 'सांख्यकारिका' ग्रन्थ के परिशिष्ट में सम्पूर्ण ग्रन्थ को मूलरूप में उद्धृत कर सांख्य जगत् पर अत्यन्त उपकार किया है।

कुछ विद्वानों ने इसे आदि कपिल की रचना माना है। उनमें प्रमुख रूप से पं० उदयवीर शास्त्री का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने 'एन्टीक्विटी ऑफ दॉ सांख्यसूत्र' नामक निबन्ध में प्रतिपादित किया है कि 'कपिलकृत मूल सांख्यसूत्रों में अनेक सूत्र बाद में प्रक्षिप्त कर दिए गए, जिससे पूरे ग्रन्थ की रचना बाद में होने की भ्रान्ति होती है।' उन्होंने इस रचना का इस रूप में आने का समय चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर पञ्चम शताब्दी ई० तक माना है।

किन्तु अधिकांश विद्वान् उनके इस कथन से सहमत नहीं हैं। उन्होंने अनेक तर्क देते हुए इसे लगभग ईसा की नवम शताब्दी की रचना माना है। उनके प्रमुख तर्क निम्नलिखित हैं–

(क) इन सूत्रों में प्रयुक्त अनेक वाक्यों का अर्वाचीन ग्रन्थों– ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र, वेदान्तदर्शन, सांख्यकारिका आदि से ग्रहण किया गया है।

(ख) सर्वदर्शनसंग्रहकार द्वारा इनका उल्लेख नहीं किया गया है।

(ग) इन सूत्रों में पञ्चशिखाचार्य का उल्लेख स्वयं में बहुत बड़ा प्रश्न चिह्न उपस्थित करता है कि यह आदि कपिल की रचना है। (अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः (सा० सू० ६/६८)

(घ) शङ्कराचार्य और माधवाचार्य ने सांख्यदर्शन के तत्त्वों के विवेचन में सांख्यकारिका के उद्धरण दिए हैं, सांख्यसूत्र के नहीं, क्यों?

(ङ) यदि सांख्यसूत्र आर्षग्रन्थ होता तो सांख्य के प्राचीन भाष्यकार इसका उल्लेख अवश्य करते।

(च) वाचसपति मिश्र, जिन्होंने अन्य दर्शनों एवं भाष्यों पर टीकाएँ कीं, निश्चय ही आर्षग्रन्थ सांख्यसूत्र पर टीका करते, अर्वाचीन सांख्यकारिका पर नहीं।

**वर्तमान सांख्यसूत्र की टीकाएँ–** अर्वाचीन होते हुए भी यह ग्रन्थ सांख्य सिद्धान्तों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए अनेक विद्वानों द्वारा इसकी टीकाएँ की गई जिनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है–

(क) **अनिरुद्धवृत्ति–** इसके वृत्तिकार आचार्य अनिरुद्ध हैं। इनका समय १५वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

(ख) **सांख्यवृत्तिसार–** यह स्वयंप्रकाश तीर्थ के शिष्य महादेव सरस्वती की रचना है, इन्हें वेदान्ती महादेव के नाम से भी जाना जाता है। अनिरुद्ध टीका से यह अत्यन्त प्रभावित है। कुछ विद्वानों ने तो इसे अनिरुद्ध टीका का संक्षिप्तीकरण ही स्वीकार किया है। पुनरपि अनेक स्थलों पर इसका मौलिक चिन्तन द्रष्टव्य है।

(ग) **सांख्यप्रवचन भाष्य–** विज्ञानभिक्षु द्वारा सांख्यसूत्रों पर अत्यन्त विस्तृत भाष्य 'प्रवचन' भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। वेदान्ती होते हुए भी उन्होने इस भाष्य की रचना की।

(घ) **लघुसांख्यवृत्ति–** विज्ञानभिक्षु के भाष्य के आधार पर प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट ने सांख्यसूत्रों पर इसकी रचना की।

(ङ) सांख्यकाष्ठजिह्वनाम से प्रसिद्ध आचार्य विश्वेश्वरदत्त मिश्र द्वारा सांख्यसूत्रों पर इस टीका का प्रणयन किया गया। जिन्हें बाद में देवतीर्थ स्वामी के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

६. **तत्त्वसमास अथवा समाससूत्र–** मात्र २५ सूत्रों में निबद्ध इस कृति को भी कुछ विद्वानों ने मूल सांख्यसूत्र की संज्ञा प्रदान की है, किन्तु वाचस्पति मिश्र, आचार्यशङ्कर आदि की कृतियों में इसके उद्धरण उपलब्ध न होने तथा माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह में इसका नामोल्लेख न होने के कारण अन्य विद्वान् इस कृति को माधव के भी बहुत बाद में लगभग चौदहवीं शती की रचना स्वीकार करते हैं।

विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र, सांख्यसार एवं तत्त्वसमास को एक ही व्यक्ति की कृति माना है। मैक्समूलर को पहले इसके प्राचीन एवं मौलिक होने का संदेह हुआ था, किन्तु बाद में उन्होंने स्वयं ही इसे सांख्यकारिका के पूर्व की रचना माना, क्योंकि सांख्यकारिका तथा तत्त्व समास में से उन्होंने, तत्त्वसमास के विवेचन को अधिक प्राचीन स्वीकार किया है।

इसकी भी कुछ टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। जिनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख करते हैं–

(क) **सर्वोपकारिणी–** इसमें इसके कर्ता का नामोल्लेख नहीं हुआ है।

(ख) **सांख्यसूत्र विवरण–** इसके कर्ता का नाम भी ज्ञात नहीं है।

(ग) **सांख्य-क्रम-दीपिका–** इसे ही सांख्यालङ्कार अथवा सांख्यसूत्र प्रवेशिका के नाम से भी जाना जाता है। यह भी किसी अज्ञातनामा व्यक्ति की टीका है।

(घ) **तत्त्वयाथार्थ्यदीपन–**. यह टीका विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावगणेश दीक्षित की है। इनके पिता का नाम भावविश्वनाथ कहा जाता है।

(ङ) **अनामव्याख्या–** इन सूत्रों पर एक अज्ञातनाम वाली अन्वयात्मक टीका रघुनन्दनदीक्षित के पुत्र क्षेमेन्द्र दीक्षित की भी उपलब्ध होती है।

यहाँ तक हमने सांख्यदर्शन पर उपलब्ध सांख्यकारिकेतर साहित्य एवं उनके आचार्यों का संक्षेपउल्लेख किया। अब हम आचार्य ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्य के प्रसिद्ध प्रकरणग्रन्थ सांख्यकारिका एवं उसकी टीका, प्रटीकाओं का विस्तार से उल्लेख करेंगे–

### (ज) ईश्वरकृष्ण (ईसा पूर्व १००वीं० शती) एवं प्रमुख टीकाएँ

१. ईश्वरकृष्ण का नाम सांख्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण प्रकरणग्रन्थ के कर्ता रूप में जाना जाता है, किन्तु इनके समय एवं जन्मस्थान के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इन्होंने सांख्यकारिका की ७० से लेकर ७२ तक तीन कारिकाओं में अपनी गुरुपरम्परा का उल्लेख अवश्य किया है, किन्तु स्वयं के माता-पिता, जन्मस्थान एवं काल के विषय में कोई उल्लेख नहीं किया।

वहाँ इतना अवश्य कहा गया है कि पञ्चशिख विरचित षष्टितन्त्र नामक सांख्य के विस्तृत ग्रन्थ को आधार बनाकर उसके सभी सिद्धान्तों एवं अभिप्राय को अत्यन्त संक्षेप में सरल शैली

में ७० कारिकाओं में निबद्ध कर दिया गया है। षष्टितन्त्र में वर्णित आख्यान एवं तर्क वितर्क आदि जो दूसरे सिद्धान्तों के खण्डन के लिए किए गए, इस ग्रन्थ में छोड़ दिया गया है।

यह सांख्यज्ञान कपिल मुनि ने कृपा करके आसुरि को प्रदान किया तथा आसुरि ने यह पञ्चशिख को दिया, जिन्होंने एकतन्त्र नामक ग्रन्थ की रचना की। वह तन्त्र यानि षष्टितन्त्र ही ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका का उपजीव्य ग्रन्थ है।

२. **काल–** ईश्वरकृष्ण के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में अत्यन्त मतभेद है–

(क) **डॉ० तकाकुसु के अनुसार–** 'ईश्वरकृष्ण का समय ४५० ई० के आस-पास था।

(ख) डॉ० विसेंट स्मिथ ने इन्हें वसुबन्धु से पूर्वकालीन मानते हुए २४० ई० में स्थित माना है, क्योंकि वसुबन्धु को उन्होंने ३२८-३६० ई० के मध्य स्वीकार किया है।

(ग) डॉ० दासगुप्त ने इनका समय हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफी के खण्ड-१ पृ० २१८ पर विवेचनपूर्वक २०० ई० निर्धारित किया है।

(घ) गार्बे ने इन्हें एक सौ ई० में स्थित माना है।

(ङ) डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र, तत्त्वकौमुदी प्रभा की भूमिका (पृ० २५) में ईश्वर कृष्ण का समय ई० प्रथम शतक के अन्त से पर्याप्त पूर्व अर्थात् ई० पू० प्रथम शती के आस-पास माना है।

(च) डॉ० बेल्वल्कर इन्हें तृतीय शतक के मध्य में कहीं मानते हैं।

(छ) पं० गोपीनाथ कविराज, जयमंगला की भूमिका (पृ० ७) में जैनग्रन्थ अनुयोगद्वारसूत्र को आधार बनाकर आचार्य ईश्वरकृष्ण को ई० पू० प्रथम शताब्दी में निर्धारित किया है।

(ज) डॉ० कीथ ने इनका समय निर्धारित करते हुए कहा कि– 'ईश्वरकृष्ण का समय ३०० ई० के बाद नहीं ले जाया जा सकता (सांख्य सिस्टम– पृ० ४३)

(झ) आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इन्हें ईसा की प्रथम शती से पूर्व माना है।

(भारतीयदर्शन– पृ० २५४)

(ञ) **उमेश मिश्र के अनुसार–** 'ईश्वरकृष्ण का समय ईसा के पूर्व द्वितीय शताब्दी कहा जा सकता है।' (भारतीयदर्शन– पृ० २७६)

(ट) डॉ० व्रजमोहन चतुर्वेदी ने (सांख्यकारिका-भूमिका– पृ० ३१) आचार्य ईश्वर कृष्ण के काल पर विस्तार से विचार करते हुए जहाँ अन्य विद्वानों के मतों का उल्लेख किया, वहीं डॉ० त्रयम्बक गोविन्द माईणकर के मत की विस्तार से चर्चा करते हुए आभ्यन्तर एवं बाह्यसाक्ष्यों के आधार पर ईश्वरकृष्ण एवं कालिदास को एक व्यक्ति मानते हुए इन्हें गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय दोनों के समय में विद्यमान होने के प्रति अपनी सहमति व्यक्ति की है।

वहाँ डॉ० चतुर्वेदी लिखते हैं– ''डॉ० माईणकर की प्रस्थापना में अन्तर्विरोध कहीं नहीं है और विद्वद्वर्ग ने इसका समर्थन नहीं तो विरोध भी नहीं किया है। इसके स्वीकृत हो जाने पर ईश्वरकृष्ण के साथ-साथ कालिदास और भर्तृमीढ-या भर्तृमेण्ढ की समय आदि की समस्या का भी समाधान हो जाता है।'' (साख्यकारिका– भूमिका, पृ० ३२)

डॉ० माईणकर ने उत्तरामचरितम् के टीकाकार घनश्याम तथा राजशेखर के उल्लेखों के आधार पर पर्याप्त अनुसंधानपूर्वक सिद्ध किया है कि ईश्वरकृष्ण, भर्तृमीढ और कालिदास एक ही व्यक्ति के विभिन्न नाम हैं। ईश्वरकृष्ण पहले अनीश्वरवादी, सांख्यसिद्धान्त के समर्थक थे। बाद में वे ही शैवमत के अनुयायी होकर कालिदास के रूप में विख्यात हुए। उन्होंने विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्ण को भी भिन्न व्यक्ति नहीं माना है, अपितु उनके मत में विन्ध्यवासी नाम उनके जन्मस्थान की ओर संकेत करता है।

उन्होंने सम्भावना व्यक्त की कि ''सम्भवतः ईश्वरकृष्ण उनका घर का नाम था और कालिदास और भर्तृमीढ उनकी उपाधियाँ थी।''

हमारे विचार में, इस मत में ईश्वरकृष्ण को समुद्रगुप्त के समय में स्वीकार करने में विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए, किन्तु कालिदास एवं ईश्वरकृष्ण दोनों को एक व्यक्ति स्वीकार करने पर अनेक विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित होंगी। अतः प्रस्तुत विवेच्य में हम इस मत की केवल इतनी ही उपयोगिता स्वीकार करते हैं। कि ईश्वरकृष्ण का समय ई० पू० प्रथम शती के आस-पास स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। यहाँ तक हमने सांख्यकारिका के कर्ता के विषय में विचार किया।

अब हम उनकी कृति के विषय में चर्चा करेंगे—

३. **सांख्यकारिका–** यह सांख्यशास्त्र के उपलब्ध शास्त्रीयग्रन्थों में प्राचीनतम एवं प्रतिनिधि ग्रन्थ है। सांख्यसिद्धान्तों की लोकप्रियता के परिणामस्वरूप, महाभारत, पुराण, स्मृतिग्रन्थ (धर्मशास्त्र) आयुर्वेद, कामशास्त्र, शैव, वेदान्त, जैन, बौद्धदार्शनिकों द्वारा इनका प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख किया गया, इस दर्शन के विवेचन के अभाव में मानों उनकी बात पूरी ही नहीं होती थी। ऐसी स्थिति में सांख्य के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता अनुभव की गई जो सांख्य के सिद्धान्तों को अत्यन्त सरल एवं संक्षिप्त रूप में परिपूर्णता के साथ प्रस्तुत कर सके।

जिसे आचार्य ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्यकारिका' ग्रन्थ का प्रणयन करके पूरा किया। सम्भव है, इससे पूर्व सांख्य पर कुछ छुटपुट ग्रन्थ रहे हों, किन्तु वे सब इसकी लोकप्रियता के समक्ष अप्रचलित होकर काल-कवलित हो गए और एक मात्र सांख्यकारिका ग्रन्थ ही प्रतिनिधिग्रन्थ के रूप में आज उपलब्ध होता है। इसकी प्राचीनता का प्रतिपादन ईश्वरकृष्ण के कालनिर्धारण के समय हम पहले ही कर चुके हैं।

४. **सांख्यकारिका का महत्त्व–** इस बारे में हम पहले भी लिख चुके हैं कि यदि सांख्यशास्त्र के ग्रन्थों में से सांख्यकारिका एवं इस पर लिखी टीका, प्रटीकाओं को निकाल दें, तो शेष अगुलीगण्य सांख्यसाहित्य ही बचेगा। साथ ही निरीश्वर सांख्य के प्रतिपादन की दृष्टि से तो इसे आद्यग्रन्थ भी स्वीकार किया जा सकता है।

एपिक-सांख्य में प्रतिपादित (महाभारत एवं पुराणों के सांख्य) सिद्धान्तों में ईश्वर की सत्ता को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया गया है। इसीलिए यह सेश्वर सांख्य के रूप में जाना जाता

है, किन्तु सांख्यकारिका सांख्यसिद्धान्तों का ऐसा ग्रन्थ है, जहाँ ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। यहाँ पुरुष और प्रकृति दो नित्य तत्त्व हैं, इनसे ऊपर किसी अन्य की सत्ता नहीं है। अतः सांख्यकारिका निरीश्वर सांख्य का प्रतिपादक ग्रन्थ है, क्योंकि इससे पूर्व इस सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रन्थ अन्य उपलब्ध नहीं होता। अतः सांख्यकारिका को निरीश्वरसांख्य के प्रतिपादन की दृष्टि से आद्यग्रन्थ माना जा सकता है।

आद्य आचार्य कपिलकृत सांख्यसूत्र एवं षष्टितंत्र आदि ग्रन्थों के आज उपलब्ध न होने के कारण सांख्यकारिका ही सांख्यशास्त्र का प्रामाणिक, प्राचीन एवं प्रतिनिधि ग्रन्थ रह जाता है। सांख्य के शास्त्रीय प्राचीनस्वरूप को प्रस्तुत करने वाला यही एक मात्र आधार है। अतः इसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।

इसके अतिरिक्त वाचस्पतिमिश्र भी इसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। तभी तो उन्होंने जहाँ भारतीयदर्शन की सभी विधाओं के महत्त्वपूर्ण सूत्रग्रन्थों एवं भाष्यों पर टीकाएँ की, वहीं सांख्यकारिका पर भी 'तत्त्वकौमुदी' नामक टीका लिखकर इसे मान्यता प्रदान की। इतना ही नहीं, चीनी एवं तिब्बती भावाओं में हुए इस ग्रन्थ के अनुवाद भी इस बात के प्रमाण हैं कि सांख्यकारिका ही सांख्यदर्शन का प्रमाणिक एवं प्रतिनिधि, प्राचीनग्रन्थ है। भारतीय विद्वानों ने भी इस ग्रन्थ के महत्त्व को स्वीकार करते हुए सर्वाधिक भाष्य एवं टीकाएँ लिखी, जिनका विवेचन आगे किया जाएगा। यहाँ हम सांख्यकारिका के वर्ण्यविषय पर किञ्चित् चर्चा करेंगे।

५. **सांख्यकारिका का वर्ण्यविषय–** साख्यंकारिका में कुल ७२ कारिकाएँ हैं। अन्तिम तीन कारिकाओं में सांख्यशास्त्र की आचार्य परम्परा का दिग्दर्शन कराया गया है। शेष ६९ कारिकाओं की सूत्रात्मक शैली में सांख्यसिद्धान्तों का अत्यन्त सरल रूप से प्रतिपादन किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ आर्या छन्द में निबद्ध है। एक विद्वत्परम्परा इसी ग्रन्थ को सांख्यसप्तति, हिरण्य सप्तति अथवा सुवर्णसप्तति के रूप में भी स्वीकार करती है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण इसकी सत्तर कारिकाओं में सांख्यसिद्धान्त का प्रतिपादन रहा है। यद्यपि यहाँ यह ६९ कारिकाओं में ही मिलता है, किन्तु उनके मत में– "६१वीं कारिका पर किया गया गौडपादभाष्य वस्तुतः एक नहीं दो कारिकाओं का है।"

आचार्य गौडपाद ने ६९ कारिकाओं पर भाष्य किया है। इसीलिए कुछ विद्वानों में यह विप्रतिपत्ति पैदा हुई कि सांख्यकारिका वस्तुतः सांख्यसप्तति नहीं है, क्योंकि इसमें सत्तर कारिकाएँ ही नहीं हैं।

सांख्यकारिका की अन्तिम तीन कारिकाओं से ज्ञात होता है कि इसका प्रमुख उपजीव्य ग्रन्थ षष्टितन्त्र रहा है। वहाँ सांख्य सिद्धान्तों को अत्यन्त विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया था। अनेक उदाहरण एवं आख्यायिकाएँ देते हुए विषय को भली प्रकार समझाया गया था। उस समय प्रचलित अन्य सिद्धान्तों का पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुतीकरण करके खण्डन किया गया था।

इतने विस्तृत विषय को सांख्यकारिका में अत्यन्त संक्षिप्त एवं सरलशैली में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ दृष्टान्त, आख्यायिकाएँ और प्रतिपक्षादि के विवरण को छोड़ दिया गया है।

प्रारम्भ में ग्रन्थ के 'प्रयोजन' का उल्लेख करते हुए दुःख का विनाश करने वाले वैदिक एवं लौकिक उपायों की निरर्थकता प्रतिपादित करने के बाद कारिकाकार ने दुःख की 'एकान्तिक' एवं 'आत्यन्तिक' निवृत्ति के लिए सांख्यशास्त्र के ज्ञान की अनिवार्यता प्रतिपादित की है।

पुनः सांख्य के प्रमेय (जानने योग्य) पदार्थों, व्यक्त (विकृति) अव्यक्त (प्रकृति) तथा ज्ञ (पुरुष) का उल्लेख करके इन्हें जानने के लिए तीन प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द) की ही अनिवार्य आवश्यकता का लक्षणोल्लेखपूर्वक प्रतिपादन किया है। इसके पश्चात् सांख्य के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सत्कार्यवाद का प्रतिपादन किया है।

इसके बाद व्यक्त एवं अव्यक्त के साम्य, वैषम्य का प्रतिपादन करके प्रकृति के तीन गुणों सत्त्व, रजस् और तमस् का विस्तार से उल्लेख किया गया है। पुनः व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष की सत्ता सिद्ध करके सांख्य के प्रसिद्ध सिद्धान्त पुरुषबहुत्व का विस्तार से प्रतिपादन किया है। इसके बाद पुरुष और प्रकृति के संयोग के कारण सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है। सृष्टि क्रम में प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, मन और पञ्चतन्मात्राओं के गण की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है तथा यहीं पर पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति मानी है। इसी क्रम में व्यक्त पदार्थों की परिभाषा भी की गई है। यही ४० से ४२वीं कारिका तक सूक्ष्मशरीर के स्वरूप की विस्तार से चर्चा की गई है।

इसी प्रसंग में सूक्ष्मशरीर के धर्म आदिभावों का उल्लेख भेदपूर्वक करते हुए 'कलल' (रजस् और वीर्य का मिश्रण) को सभी भावों का आश्रय बताया गया है। इसके पश्चात् ५४ कारिका तक भावों और लिङ्ग का परस्पर सम्बन्ध बताकर भौतिक- सृष्टि के भेदों एवं गुण सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख किया है। पुनः मनुष्य किस कारण दुःख का अनुभव करता है? इसका कथन ५५वीं कारिका में हुआ है।

इसके बाद अचेतन प्रकृति किस कारण, किस प्रकार सृष्टिकार्य में प्रवृत्त होती है, का प्रतिपादन करके, बताया गया है कि प्रकृति, पुरुष से कब निवृत्त होती है। वस्तुतः प्रकृति ही कर्मों से बद्ध और मुक्त होती है, पुरुष नहीं। इसके पश्चात् तत्त्वज्ञान के स्वरूप एवं फल की चर्चा की गई है और कहा गया है कि विवेकज्ञान के पश्चात् उस व्यक्ति के प्रति प्रकृति का सृष्टि व्यापार अवरुद्ध हो जाता है तथा इस स्थिति में भी प्रारब्धकर्मों के भोग की समाप्ति तक, यह शरीर बना रहता है और अन्त में वर्तमान शरीर के छूट जाने पर तत्त्वज्ञानी को एकान्तिक एवं आत्यन्तिक कैवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

६. **सांख्यकारिका की टीकाएँ–** जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि सांख्यकारिका सांख्यदर्शन का संक्षिप्त और सारगर्भित ग्रन्थ होने के साथ-साथ सांख्य के सम्पूर्ण दर्शन को प्रस्तुत करता है। अतः इसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए अनेक विद्वानों ने टीकाएँ लिखीं जिनका संक्षिप्त विवरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

(अ) **गौडपादभाष्य–** आचार्य गौडपाद ने ईसा की सप्तम शताब्दी के लगभग सांख्यकारिका पर भाष्य की रचना की, जिसे गौडपादभाष्य के नाम से जाना जाता है, किन्तु

कुछ विद्वान् इन्हें पांचवीं, छठी शताब्दी में स्थित मानते हैं (भारतीयदर्शन, वाचस्पति गैरोला– पृ० २९४)। इन्हें शङ्कराचार्य के गुरु गोविन्दपाद का भी गुरु माना गया है। यह सांख्यकारिका की प्राचीनतम टीका मानी जाती है जो संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त गम्भीर है। इसमें ६९ कारिकाओं पर भाष्य किया गया है।

**कुछ विद्वानों के मत में–** 'अद्वैत वेदान्त के आचार्य गौडपाद जिन्होंने माण्डूक्यकारिका की रचना की, सांख्यकारिका के भाष्य गौडपाद से भिन्न है, किन्तु कुछ विद्वानों ने दोनों को एक माना है। दोनों में एक सांख्य के आचार्य हैं तो दूसरे वेदान्त के। लेखन शैली की भिन्नता भी देखने को मिलती है, साथ ही वैचारिक प्रौढता का स्तर भी भिन्न प्रतीत होता है। अतः इन आधारों पर दोनों को भिन्न मानने का पक्ष प्रबल प्रतीत होता है। इसका अनेक स्थानों से प्रकाशन हुआ है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी से पं० ढुंढिराज शास्त्री ने टिप्पणी सहित इसका प्रकाशन कराया, जिसका द्वितीय संस्करण वि० स० २०१० में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त डॉ० त्र्यम्बक गोविन्द माईणाकर द्वारा अंग्रेजी भाषानुवाद सहित इसका प्रकाशन ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना से भी कराया गया।

(ब) **माठरवृत्ति–** आचार्य माठर द्वारा सांख्यकारिका की ७३ कारिकाओं पर लिखी गई यह टीका माठरवृत्ति के नाम से जानी जाती है। गौडपादभाष्य एवं इसमें अत्यन्त साम्य देखने को मिलता है और यदि गौडपादभाष्य को इसका संक्षिप्त रूपान्तर कहा जाए तो सम्भवतः कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। कुछ विद्वान् इसे गौडपाद से पूर्व की रचना मानते हैं, उनके मत में 'इसके रचयिता आचार्य माठर सम्राट कनिष्क के काल में स्थित थे। अतः इसे प्रथम शताब्दी ईसवी की रचना माना जा सकता है। उनके मत का आधार प्रथम शताब्दी ई० के जैनग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र', हरिभद्रसूरि रचित 'षड्दर्शनसमुच्चय' की गुणरत्नकृत टीका में माठरवृत्ति का उल्लेख किया जाना भी रहा है।

यद्यपि इसका चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से प्रकाशन हुआ है, किन्तु विद्वानों ने इसे प्रामाणिक एवं प्राचीन लेखक का नहीं माना है (भारतीयदर्शनशास्त्र का इतिहास, डॉ हरिदत्तशास्त्री, पृ० २९१)। डॉ० उमेश मिश्र ने 'गौडपादभाष्य एवं माठरवृत्ति' लेख में आचार्य माठर को १००० ई० आस-पास स्वीकार किया है। (ऑल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस के छठे अधिवेशन मे पठित) डॉ० जानसन भी 'अरली सांख्य' नामक अपने ग्रन्थ में इसी बात को स्वीकार करते हैं (पृ० ११), किन्तु पं० उदयवीरशास्त्री ने इसे सांख्यकारिका की सर्वाधिक प्राचीन टीका माना है। (सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ४०८)

(स) **जयमंगला–** आचार्य शङ्कर के नाम से उपलब्ध यह टीका भी सांख्यकारिका की महत्त्वपूर्ण टीकाओं में मानी जाती है। यह सम्पूर्ण ७२ कारिकाओं पर उपलब्ध होती है। डॉ० हरदत्त शर्मा ने इसका सम्पादन किया तथा महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने इसकी विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी। इसका प्रकाशन कलकत्ता से हुआ है। इसके प्रारम्भ में प्रयुक्त श्लोक में यही नाम उपलब्ध होता है–

**अभिगततत्त्वालोकं लोकोत्तरवादिनं प्रणम्य मुनिम्।**
**क्रियते सप्ततिकायाष्टीका 'जयमंगला' नाम॥**

गौडपादभाष्य के पाठों से इसमें कुछ स्थलों पर भिन्नता मिलती है। जिसका विस्तृत विवेचन हम सांख्यकारिका की प्रमुख टीकाओं के अलग से प्रकाशित क्रिटिकल एडीशन में करेंगे।

इसके लेखक के नाम एवं समय के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है, जिसका अनुमान पं० उदयवीर शास्त्री के कथन से लगाया जा सकता है– ''न तो इसका नाम शङ्कर था, न शङ्कराचार्य और न शङ्करार्य ही था। पर वह बौद्ध नहीं था। इस टीका का समय ७०० ई० के बाद का नहीं हो सकता'। किन्तु महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने इस टीका का कर्ता शङ्करार्य नामक बौद्धभिक्षु को माना है। (द्रष्टव्य डॉ० हरदत्त द्वारा सम्पादित जयमंगलाटीका की भूमिका)

किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह टीका वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी टीका से पूर्व की रचना है, क्योंकि उन्होंने अनेक स्थलों पर जयमंगला टीका का खण्डन किया है।

(द) **युक्तिदीपिका–** सांख्यकारिका की प्राचीन टीकाओं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, विस्तृत एवं ममस्पर्शी टीका मानी जाती है। इसके कर्ता का नामोल्लेख नहीं मिलता। इसका 'कलकत्ता संस्कृत सीरीज (सं० २३) तथा मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली से प्रकाशन हुआ है। सांख्य के इतिहास की जानकारी की दृष्टि से भी इसे उपयोगी कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें वसुबन्धु एवं दिङ्नाग जैसे प्राचीन बौद्धाचार्यों के मतों का स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है। साथ ही शबरस्वामी का भी उल्लेख मिलता है।

सांख्यदर्शन के कुछ प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों की भी इस टीका में चर्चा होने से इसका ऐतिहासिक महत्त्व बढ़ जाता है, क्योंकि इसमें प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर भट्ट का नामोल्लेख नहीं हुआ है। अतः इसे इन आचार्यों से पूर्व की रचना स्वीकार किया जा सकता है। कुमारिल भट्ट को ईसा की सप्तम शती के अन्त एवं अष्टम शती के पूर्वार्द्ध में स्थित माना जाता है। अतः विद्वानों ने इसे सप्तम शती के पूर्वार्द्ध की रचना माना है।

इस टीका के अन्त में 'कृतिरियं श्री वाचस्पतिमिश्राणाम्' लिखा होने के कारण कुछ विद्वानों ने इसे वाचस्पतिकृत भी माना है, किन्तु अधिकांश विद्वानों ने इससे अपनी असहमति व्यक्ति करते हुए इसे एक भूल स्वीकार किया है (भारतीयदर्शन-उमेशमिश्र– पृ० २७९)

(य) **सांख्यतत्त्वकौमुदी–** यद्यपि सांख्यकारिका की उपर्युक्त टीकाओं में किसी न किसी वैशिष्ट्य के दर्शन होते हैं, किन्तु आचार्य वाचस्पतिमिश्र कृत तत्त्वकौमुदी टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, विस्तृत एवं गम्भीर प्रतीत होती है। इसी का परिणाम है कि विद्वत्तापूर्ण यह टीका इतनी लोकप्रिय हुई कि इस पर भी अनेक विद्वानों ने प्रटीकाएँ कीं, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे।

सांख्यकारिका में सांख्यदर्शन के जिन सिद्धान्तों को सूत्रात्मकशैली में प्रस्तुत करने के कारण अत्यन्त संक्षेप में निबद्ध किया है, उन सबकी सोदाहरण अत्यन्त विस्तारपूर्वक व्याख्या इस टीका की महती विशेषता है। इसका समय ईसा की अष्टम शती का अन्तिम चरण अर्थात् ७८३ ई० के लगभग माना गया है। कुछ विद्वान् इन्हें नवम एवं दशम शताब्दी में स्थित भी मानते हैं।

इसमें अनेक स्थलों पर गौडपादभाष्य तथा जयमंगलाटीका का अत्यन्त मर्यादापूर्वक खण्डन भी किया गया है। इस टीका के विषय में यदि संक्षेप में कहा जाए तो कह सकते हैं कि यदि हम सांख्यकारिका एवं सांख्यदर्शन को ठीक-ठीक समझना चाहते हैं तो इसकी तत्त्वकौमुदी टीका का अध्ययन अत्यन्त अनिवार्य है। इसे सांख्य के सीधे-सादे प्रतीत होने वाले सिद्धान्तों की सारगर्भित तथा सूक्ष्मविवेचनी व्याख्या भी कहा जा सकता है। न्याय की शैली अपनाने के कारण विद्वानों के लिए भी यह प्रयत्नपूर्वक समझने की वस्तु हो गई है।

**आचार्य वाचस्पति मिश्र** को विद्वत्परम्परा 'द्वादशदर्शनकाननपञ्चानन' कहकर सम्मानित करती है। इसका कारण इनका सभी दर्शनों में वैदुष्यपूर्ण पाण्डित्य रहा है। वे शाङ्करवेदान्त में निष्णात होने के साथ-साथ न्याय-वैशेषिक एवं सांख्य-योग के भी धुरन्धर विद्वान् थे। इन्होंने सांख्य की तत्त्वकौमुदी टीका लिखने के साथ ब्रह्मसूत्र शाङ्कर-भाष्य पर 'भामती' टीका, योगसूत्रों के व्यासभाष्य पर 'तत्त्ववैशारदी' टीका, उद्योतकर के न्यायवार्तिक पर 'तात्पर्यटीका' तथा आचार्य मण्डनमिश्र के विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' नामक टीका की संरचना की।

इसके अतिरिक्त वेदान्त के 'ब्रह्मतत्त्व समीक्षा' मीमांसा के 'तत्त्वबिन्दु' तथा न्याय दर्शन के 'न्यायसूचीनिबंध' आदि ग्रन्थों की भी इन्होंने संरचना की। 'ब्रह्मतत्त्व समीक्षा' ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। वाचस्पति मिश्र मिथिला निवासी थे। इन्होंने न्यायशास्त्र का अध्ययन कर्नाटक निवासी त्रिलोचन से किया था। अन्य दर्शनों के ज्ञाता होते हुए भी ये मुख्यरूप से नैयायिक थे। यही कारण है कि इन्होंने न्याय की दृष्टि से ही सांख्य के तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया, जिसकी विद्वानों ने आलोचना भी की (भारतीयदर्शन, उमेश मिश्र– पृ० २७९)

अलग-अलग दर्शनों पर लेखनी चलाते समय इनकी विशेषता रही कि इन्होंने व्याख्या उस दर्शन के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए ही प्रस्तुत की। प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण उसके सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में करते हुए, कहीं भी अपने सिद्धान्तों तथा मान्यताओं का आरोप नहीं किया और न ही कहीं, उनकी अनावश्यक आलोचना ही की।

**तत्त्वकौमुदी की टीकाएँ–** जैसा हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि तत्त्वकौमुदी अपनी न्यायनिष्ठ शैली के कारण सामान्य अध्येता के लिए क्लिष्ट हो गई और अलग-अलग विद्वानों ने इस पर भी अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। जिनका हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं–

१. निर्णय सागर से प्रकाशित पं० शिवनारायण शास्त्री की सारबोधिनी टीका।

२. बालराम उदासीन की विद्वत्तोषिणी टीका।

३. वंशीधरमिश्र की सांख्यतरुदिवाकर टीका।

४. श्रीकृष्ण बल्लभाचार्य की किरणावली टीका।

५. पं० हरीराम शुक्ल की सुषमा टीका।

६. पञ्चानन शास्त्री मुसलगांवकर की तत्त्वप्रकाशिका टीका।

७. पञ्चानन भट्टाचार्य की पूर्णिमा टीका।

८. कृष्णनाथ न्यायपञ्चानन की आवरणवारिणी टीका।

९. आद्याप्रसाद मिश्र की प्रभा हिन्दी टीका।

१०. रमाशङ्कर भट्टाचार्य की ज्योतिष्मती हिन्दी टीका।

११. महामहोपाध्याय गंगानाथ झा का अंग्रेजी अनुवाद आदि उल्लेखनीय हैं।

किन्तु इस सभी में पं० शिवनारायण की सारबोधिनी टीका विस्तार एवं गहनता की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

सांख्यकारिका की अन्य टीकाएँ– उपरोक्त छः टीकाओं के अतिरिक्त भी सांख्यकारिका पर मुडुम्ब नरसिंह स्वामिन् नामक विद्वान् आचार्य ने ''सांख्यतरु बसन्त'' एवं आचार्य नारायणतीर्थ ने ''सांख्यचन्द्रिका'' नामक टीकाओं की भी संरचना की, किन्तु ये आधुनिक काल में लिखी गई हैं। इनमें से विद्वानों ने सांख्यचन्द्रिका का समय ईसा की १७वीं शती का उत्तरार्द्ध एवं १८वीं शती का पूर्वार्द्ध माना है (सांख्यकारिका– रामकृष्णआचार्य भूमिका, पृ० २८

**(झ) सांख्य के प्रमुख सिद्धान्त**

१. **प्रयोजन–** इस संसार में दुःख का अस्तित्व है, इसमें कोई संदेह नहीं है, क्योंकि व्यक्ति का स्वयं का अनुभव इसमें प्रमाण है। 'मैं सुखी हूँ,' 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा अनुभव उसे प्रत्येक क्षण होता रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्राणी का स्वभाव है कि वह दुःख से बचना चाहता है, उसके लिए वह हर सम्भव प्रयास भी करता है, किन्तु इसमें उसे सफलता ही मिले यह आवश्यक नहीं है। साथ ही उस प्रयास अथवा उपाय के बाद पुनः उस दुःख की प्राप्ति नहीं होगी, यह भी सम्भव नहीं है।

इसके विपरीत सांख्यशास्त्र का कथन है कि इस (शास्त्र) के अध्ययन के परिणामस्वरूप होने वाले ज्ञान से त्रिविध दुःखों की निश्चित रूप से (एकान्तिक) एवं हमेशा के लिए (आत्यन्तिक) निवृत्ति सम्भव है। अतः जो व्यक्ति दुःखों से हमेशा के लिए छुटकारा पाना चाहता है उसे अवश्य ही सांख्यशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। सांख्य का प्रमुख विवेच्य है– व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ। इन्हीं तीन का सांख्य के प्रकरणग्रन्थ सांख्यकारिका में ७० कारिकाओं के अन्तर्गत विवेचन हुआ है। यहाँ ये तीनों प्रमेय पदार्थ हैं। इसीलिए सांख्य 'प्रमेयशास्त्र' भी कहलाता है, जिन्हें प्रत्यक्ष अनुमान एवं आप्तप्रमाण द्वारा भलीप्रकार जान लेने पर दुःखों की हमेशा के लिए निवृत्ति होती है तथा मोक्ष (जिसे कैवल्य भी कहते हैं) की प्राप्ति होती है। इस प्रकार सांख्यशास्त्र का मुख्य प्रयोजन हुआ– ''दुःखों की एकान्तिक (निश्चित रूप से) तथा आत्यन्तिक (नित्य रूप से) निवृत्ति।''

इस प्रसङ्ग में जिज्ञासा सम्भव है कि यह 'दुःखत्रय' है क्या? जिस की निवृत्ति की बात इस शास्त्र के अध्ययन द्वारा की जा रही है। साथ ही शास्त्र-अध्ययन जैसे कठिन उपाय के अतिरिक्त क्या अन्य किसी उपाय द्वारा उसकी निवृत्ति सम्भव नहीं है? यदि सम्भव है तो उसका प्रयोग आप क्यों नहीं करते? इन जिज्ञासाओं का क्रमशः उत्तर है—

**दुःखत्रय–** दुःख तीन प्रकार का होता है— १. आध्यात्मिक २. आधिभौतिक ३ आधिदैविक।

१. **आध्यात्मिक–** इसका सम्बन्ध शरीर में स्थित (आत्मा को छोड़कर) आन्तरिक तत्त्वों से है। किसी भी प्रकार के दुःख का सम्बन्ध आत्मा से नहीं होता, क्योंकि पुरुष (आत्मा) में दुःखों के मूलकारण सत्त्व, रजस्, और तमस् का अभाव रहता है, अपितु ये मन, बुद्धि, अहंकार, ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय से युक्त शरीर में होते हैं। इसी दृष्टि से आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का होता है—

(क) **शारीरिक–** शरीर के प्रमुख तत्त्व— 'वात', 'पित्त' एवं 'कफ' की विषमता के कारण उत्पन्न होने वाला दुःख शारीरिक कहलाता है। जैसे— ज्वर आदि। यह पुनः दो प्रकार का होता है— (अ) नैसर्गिक— भूख आदि (ब) त्रिदोष— जन्य-बुखार आदि।

(ख) **मानसिक–** काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, भय आदि भावों के कारण होने वाला दुःख मानसिक कहलाता है। इसी प्रकार किसी इच्छित वस्तु के प्राप्त न होने और अनिच्छित वस्तु के प्राप्त होने की स्थिति में होने वाला कष्ट भी मानसिक दुःख की श्रेणी में रखा जाएगा।

२. **आधिभौतिक–** जिन्हें हम देख सकते हैं, ऐसे बाह्य कारणों अथवा पदार्थों से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिभौतिक कहलाता है। जैसे— शेर, व्याध्र, सर्प, मनुष्य आदि प्राणियों से उत्पन्न होने वाला दुःख अथवा कष्ट।

३. **आधिदैविक–** प्रत्यक्ष दिखाई न देने वाली देवयोनियों— यक्ष, भूतप्रेत राक्षस, किन्नर, ग्रह आदि, वायु, अग्नि, जल आदि देवों के प्रकोप से होने वाले आँधी-तूफान, अग्निकाण्ड, बाढ़ आदि आधिभौतिक कष्ट की श्रेणी में आते हैं। ये ही त्रिविध दुःख हैं।

इन्हें जानने के बाद कोई भी व्यक्ति सहज रूप में कह सकता है कि इनसे छुटकारा पाने के लिए तो आपके सांख्यशास्त्र के अध्ययन जैसे उपाय की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इन दुःखों से छुटकारा पाने के अनेक लौकिक उपाय, (जो आसान भी हैं) विद्यमान हैं। जैसे— शारीरिक रोग— 'बुखार' आदि को दूर करने के लिए अनेक प्रकार की औषधियों, जड़ीबूटियों आदि का विधान हमारे आयुर्वेद आदि चिकित्साशास्त्रों द्वारा बताया गया है। इसी प्रकार नैसर्गिक शारीरिक दुःख भूखादि को भोजनादि करके दूर किया जा सकता है।

मानसिक दुःखों की शान्ति मनोनुकूल सुन्दर पदार्थों को प्राप्त करने, उपभोग करने से आसानी से हो जाती है। इसी प्रकार दैवी प्रकोपों से होने वाले आधिदैविक दुःखों को भी व्यक्ति उचित मणि-मन्त्र आदि के प्रयोग से सहज ही शान्त कर सकता है तथा आधिभौतिक दुःखों से बचने के लिए, नीतिशास्त्रों एवं शिष्टजनों द्वारा कहे गए उपदेशों के अनुसार सावधानी पूर्वक आचरण करना ही पर्याप्त है।

इस प्रकार उक्त त्रिविधदुःख की शान्ति के लिए अनेक लौकिक उपायों के होते हुए (जो सभी को सहज ही उपलब्ध भी हैं) कोई भी व्यक्ति सांख्य-शास्त्र के अध्ययन रूप कठिन उपाय का प्रयोग क्यों करेगा? क्योंकि कहा भी गया है कि यदि किसी व्यक्ति को अपने घर के कोने में ही शहद मिल जाए तो उसे प्राप्त करने के लिए वह जंगल में भटकने के लिए क्यों जाएगा? इसलिए इन त्रिविध दुःखों की निवृत्ति के लिए आपका यह सांख्यदर्शन लेखन और इसका अध्ययन व्यर्थ ही है।

प्रतिपक्षी द्वारा ऐसी शंका करने पर ग्रन्थकार कहते हैं– जिन लौकिक उपायों से दुःखों को दूर करने की आप बात कर रहे हैं। उनके विषय में यह भी तो जरा विचार करें कि क्या वे उपाय दुःख को एकान्तिक एवं आत्यन्तिक रूप से दूर करने में समर्थ हैं अर्थात् रोग विशेष की प्रसिद्ध औषधि लेने से क्या वह अनिवार्य रूप से दूर हो जाएगा? क्योंकि ऐसा भी देखने में आता है कि प्रसिद्ध औषधियाँ भी सभी को हमेशा लाभ नहीं करती हैं। यह तो हुआ दुःख के एकान्तिक अर्थात् अनिवार्य रूप से विनाश का अभाव।

उस रोग विशेष की हमेशा के लिए निवृत्ति ही दूसरा आत्यन्तिक रूप है। अर्थात् जो औषधि आपने ली है उससे ज्वरादि यदि ठीक हो भी जाते हैं, तो क्या वे दोबारा नहीं, होंगे यह अनिवार्यता उस औषधि के साथ जुड़ी है? यदि नहीं तो यह दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होने से आपके लौकिक उपायों की व्यर्थता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इसलिए यदि आप दुःख की एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति चाहते हैं तो हमारे सांख्यशास्त्र के प्रति आपको जिज्ञासा करनी होगी, उसका अध्ययन करना होगा।

इसी प्रसंग में प्रतिपक्षी दूसरी शङ्का करता है कि ठीक है आप लौकिक उपायों को दुःख के विनाश में (एकान्तिक एवं आत्यन्तिक रूप से) अनुपयोगी कहते हैं, जिसे हम मान भी लेते हैं, किन्तु वेदोक्त उपाय भी तो हैं जिनके द्वारा दुःखों से हमेशा के लिए छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है। जैसे– कहा जाता है कि– स्वर्गकामो यजेत् (स्वर्ग प्राप्त करने के लिए यज्ञ करना चाहिए) तथा ''अपाम सोमममृता अभूम'' (यज्ञ में सोमपान से हम अमर हो जाएँगे)। इस प्रकार यज्ञ के द्वारा व्यक्ति स्वर्ग की प्राप्ति में सक्षम है। यहाँ तक कि अमर होने की बात भी श्रुतियों में कही गई है। अतः इन वेदोक्त उपायों द्वारा दुःख की एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव है। अतः आपकी शास्त्र-जिज्ञासा व्यर्थ है। इसे कौन पढ़ेगा?- - - - क्योंकि व्यक्ति धन कमाकर, यज्ञ करके मरने के बाद स्वर्ग जा सकता है, जहाँ किसी भी वस्तु का अभाव न होने से दुःख का अस्तित्व ही नहीं है।

इस प्रकार की शङ्का के विषय में ग्रन्थकार कहते हैं– कि यह बात तो आपकी ठीक है कि वेदोक्त उपायों से दुःख की निवृत्ति सम्भव है, किन्तु इसे भी तो पूर्णतया दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनमें 'अविशुद्धि', 'क्षय, अतिशय' दोषों की स्थिति प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। अतः सांख्यशास्त्र के अध्ययन से दुःखों की पूर्णतया दोषमुक्त एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति करना, (मोक्ष प्राप्त करना ही) उचित एवं विवेकपूर्ण है। इस प्रसङ्ग में आए, अविशुद्धि, क्षय और अतिशय पद व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। –

(क) **अविशुद्धि–** यदि हम कोई छोटा सा यज्ञ भी करते हैं तो भी अनेक जीवों की हिंसा होती है, फिर स्वर्ग प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े यज्ञों की तो बात ही क्या? (ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्) इसलिए यज्ञ से होने वाले अल्पाल्प पाप को भी भोगना ही होगा। अतः बड़े-बड़े यज्ञों से प्राप्त स्वर्गादि रूप सुख को पूर्णतया दोष मुक्त नहीं कहा जा सकता। अतः त्याज्य है।

(ख) **क्षय–** वेदोक्त उपाय यज्ञादि के द्वारा होने वाले पुण्यों से स्वर्ग की प्राप्ति तो सम्भव है, किन्तु वहाँ स्थिति शाश्वत् नहीं है, क्योंकि कहा भी है– **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति** (गीता ९/२१) अर्थात् पुण्यों के क्षीण होने पर व्यक्ति स्वर्गलोक से पुनः मृत्युलोक में प्रवेश करते हैं। इसलिए वेदोक्त उपायों से प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि की स्थिति केवल पुण्यों के अस्तित्व तक सीमित है। अतः इस उपाय द्वारा भी दुःख की आत्यन्तिक (नित्य) निवृत्ति न होने से त्याज्य है।

(ग) **अतिशयता–** दुःख दूर करने के वेदोक्त उपाय यज्ञादि में एक अतिशयता का दोष भी है। अतः इस उपाय द्वारा पूर्णतया दुःखरहित होना सम्भव नहीं है। जैसे– यदि कोई व्यक्ति ज्योतिष्टोम याग करता है तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और अन्य व्यक्ति धन वा सामर्थ्य की अधिकता होने से यदि वाजपेय याग करता है तो उसे इन्द्रत्व की प्राप्ति होती है। इस स्थिति में पहले व्यक्ति को अन्य व्यक्ति के अधीन रहना होगा। साथ ही कम फल वाले व्यक्ति को अधिक फल वाले व्यक्ति का उत्कर्ष देखकर दुःख होना (ईर्ष्या आदि के कारण) स्वाभाविक है। अतः दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए वेदोक्त उपायों की निरर्थकता स्वतः सिद्ध है। इसलिए यदि आप दुःखों से हमेशा के लिए अनिवार्य रूप से छुटकारा पाना चाहते हैं तो आपको हमारे सांख्यशास्त्र का अध्ययन करना होगा। जिसका मुख्य विवेच्य 'व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ' ये तीन प्रमेय पदार्थ हैं। इन्हें जान लेने से व्यक्ति को कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है तथा उसे दुःखों से हमेशा के लिए छुटकारा प्राप्त हो जाता है। यही हमारे इस शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है। अब हम इन प्रमेय पदार्थों का विवेचन करेंगे–

२. **पुरुष** (ज्ञ)– सांख्यकारिकाकार ने ग्रन्थ का प्रयोजन बताते हुए व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ इन तीन प्रमेय पदार्थों को जान लेने से कैवल्य की प्राप्ति का कथन किया है। वहाँ उन्होंने विवेचन का क्रम क्रमशः व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ रखा है, किन्तु यहाँ हम इसे उल्टे क्रम से प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे समझने में आसानी रहे।

सांख्य मूलरूप से दो तत्त्वों को स्वीकार करता है जो नित्य हैं– पुरुष और प्रकृति। इनमें पुरुष को ही 'आत्मा' भी कहा जा सकता है। इसी को 'ज्ञ' नाम भी दिया गया है। 'मैं हूँ' अथवा 'मैं नहीं हूँ', 'यह मेरी लेखनी है।' इस प्रकार के अनुभव में 'मैं' की अनुभूति 'पुरुष' के अस्तित्व की सत्ता को सिद्ध करती है।

यह सर्वथा शुद्ध एवं चैतन्यस्वरूप है। यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि 'चैतन्य' पुरुष का गुण नहीं, अपितु स्वभाव है। यह निष्क्रिय उदासीन एवं प्रकाशवान् है। जगत्

को उत्पन्न करने वाली प्रकृति है, पुरुष तो उसकी लीला देखते हुए साक्षी के रूप में विद्यमान् रहता है। सुख एवं दुःख शरीर एवं मन के धर्म हैं, पुरुष के नहीं। वह इनसे लेशमात्र भी सम्बद्ध नहीं होता है। वह तो वस्तुतः असंग है।

पुरुष में किसी प्रकार का विकार, परिणाम उत्पन्न नहीं होता, अतः वह अविकारी है। काम, संकल्प, श्रद्धा, धैर्य, विचिकित्सा आदि भाव एवं क्रियाएँ मन, बुद्धि एवं अहंकार से सम्बद्ध हैं, पुरुष से नहीं। पुरुष में कर्तापन की प्रतीति हमें लोहे के टुकड़े में अग्नि के समान होती है, क्योंकि अग्नि से लाल लोहपिण्ड को यह अग्नि है, ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार जल में सूर्य के बिम्ब को भी 'जल में सूर्य' ऐसा कहते हैं। ठीक इसी प्रकार दैनिक जीवन में सुखदुःखादि भावों की अनुभूति 'मेरी है', इस अनुभव के साथ पुरुष (आत्मा) की प्रतीत होती है। जबकि वे वस्तुतः पुरुष की नहीं होती हैं।

सांख्य में पुरुष को 'अनाश्रित', 'अलिङ्ग', 'स्वतन्त्र', 'निरवयव', 'अत्रिगुण' 'विवेकी', 'अविषय', 'असामान्य', 'चेतन', 'अप्रसवधर्मी', 'साक्षी', 'कैवल्य', 'मध्यस्थ', 'उदासीन', 'द्रष्टा', आदि विशेषताओं से युक्त बताया गया है। यद्यपि यहाँ पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गई है, जिसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे, फिर भी इसे 'बद्धपुरुष' और 'मुक्तपुरुष' दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

सृष्टिकाल से पूर्व एवं विवेक होने पर 'मुक्तपुरुष' होता है, अन्यथा सामान्य स्थिति में अनादि काल से प्रत्येक पुरुष 'बद्ध' है। सांख्य का पुरुष बहुत्व का सिद्धान्त बद्धपुरुषों पर लागू होता है, मुक्त पर नहीं, क्योंकि पुरुष बहुत्व की सिद्धि में साधक– 'जन्म, मरण और करण विषयक' युक्तियाँ केवल बद्धपुरुष पर चरितार्थ होती हैं। मुक्तपुरुष का तो न जन्म होता है, न मरण और न ही उसकी इन्द्रियाँ ही होती हैं। निर्गुण होने से उसमें प्रकृत्ति का पूर्णतया अभाव होता है और वह संख्या में एक होता है। बद्धपुरुष भी विवेकज्ञान से मुक्त होकर 'मुक्तपुरुष' के साथ मिलकर ठीक उसी प्रकार एक हो जाता है जैसे जल की एक बूँद समुद्र के साथ मिलकर उसके आकार से आकारित होकर एक हो जाती है।

चैतन्यस्वरूप, प्रकाशवान् पुरुष का 'प्रकाश' जब जडात्मिका प्रकृति (जो सत्त्व रजस् तमस् की साम्यावस्था है) पर पड़ता है तो तीनों गुणों की साम्यावस्था में उथलपुथल होने से उत्पन्न वैषम्य के कारण सृष्टि की उत्पत्ति होती है। प्रस्तुत वर्ण्य विषय में हमारा अभिप्राय मुक्तपुरुष से है, बद्ध से नहीं।

पुरुष की सत्ता अनुमान और शब्द प्रमाण से सिद्ध होती है। ग्रन्थकार ने इसके लिए कुछ युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं जिनका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है–

(क) इस संसार के सभी पदार्थ संघातमय हैं। जैसे– घर, ईंट पत्थर, सीमेंट आदि वस्तुओं का समुदाय है। अतः संघातमय है। संगठित वस्तुओं का स्वभाव होता है कि वे किसी अन्य के उपभोग के लिए होती हैं। इसलिए प्रकृति से उत्पन्न यह संघातरूप संसार निश्चय ही प्रकृति से भिन्न के लिए होना चाहिए और वह 'अन्य' और कोई नहीं, अपितु पुरुष ही है।

(ख) प्रकृति जडात्मिका है और जड़ में चेतन के बिना प्रवृत्ति दिखाई नहीं दे सकती, क्योंकि जड़ रथ तभी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता है, जब उस पर नियन्त्रण करने वाला चेतन सारथि विराजमान होता है। संसाररूप रथ का नियन्ता अन्य कोई नहीं, अपितु वह पुरुष ही है।

(ग) संसार के सभी विषय भोग हैं। इसलिए इनका भोग करने वाला, 'भोक्ता' भी कोई न कोई अवश्य होना चाहिए, जो इससे पूर्णतया भिन्न एवं विलक्षण हो और वह अन्य कोई नहीं केवल पुरुष ही हो सकता है।

(घ) इस संसार में कुछ मनुष्यों द्वारा सब कुछ सुविधाएँ रहते हुए भी सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने की इच्छा देखी जाती है, बुद्ध एवं महावीर इसमें प्रमाण हैं। जिसके लिए वे प्रयत्नशील भी रहते हैं। जड़संसार की, किसी भी वस्तु के लिए इस प्रकार के प्रयत्न की सम्भावना नहीं की जा सकती है। अतः मुक्ति की यह इच्छा एवं प्रयत्न इस बात को सिद्ध करता है कि सांसारिक वस्तुओं से भिन्न कोई तत्त्व अवश्य है और वह तत्त्व अन्य कोई नहीं, अपितु पुरुष ही हो सकता है। कैवल्य ही इसका स्वरूप है। जिसे पाने के लिए व्यक्ति में व्याकुलता देखी जाती है।

(ङ) यह सम्पूर्ण संसार त्रिगुणात्मक है, भोग्य है और उपभोक्ता के लिए आवश्यक है कि वह त्रिगुणातीत हो, क्योंकि त्रिगुण सम्पन्न होने पर वह भी संसार के समान उपकरण ही होगा। अतः उसका त्रिगुणातीत होना ही उपभोक्ता रूप पुरुष के अनुमान में सहायक है।

वस्तुतः यह चेतन पुरुष ही अचेतन प्रकृति का अधिष्ठाता है जो बुद्धि, मन आदि अन्तःकरण और नेत्र आदि बाह्यकरण रूप इन्द्रियों के द्वारा उसी प्रकार संसार रूप संघात का उपयोग करता है, जिस प्रकार रथ का सारथि अश्वों के माध्यम से रथ का प्रयोग करता है। इस कथन की पुष्टि इस बात से भी होती है कि इन्द्रियों एवं सांसारिक विषयों के रहते हुए भी चैतन्य के अभाव में किसी प्रकार की क्रिया देखने को नहीं मिलती है।

सांख्य के दो प्रमुख एवं नित्य तत्त्वों पुरुष एवं प्रकृति में से पुरुष में सत्त्व, रजस् और तमस् का पूर्णतया अभाव होने के कारण सुख, दुःख एवं मोहात्मकता का सर्वथा अभाव रहता है। साथ ही वह किसी का विकार न होने तथा न ही किसी को उत्पन्न कर सकने के कारण न विकृति है और न प्रकृति ही है।

इसके अतिरिक्त यह प्रलयावस्था में भी स्थित रहने के कारण नित्य तथा सर्वव्यापक होने से 'विभु' है। अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य पर निर्भर न होने के कारण ही इसे अनाश्रित कहा गया है। प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध का मुख्य प्रयोजन पुरुष के लिए भोग एवं अपवर्ग (मोक्ष) की सिद्धि करना है।

**सांख्यसिद्धान्त के अनुसार–** चेतन एवं प्रकाशवान् पुरुष का प्रकाश जब त्रिगुणात्मिका एवं जडात्मिका प्रकृति पर पड़ता है, तो प्रकृति में स्थित गुणों में गति उत्पन्न हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप ये तीनों गुण एक दूसरे को दबाने का प्रयास करते हैं और इस क्रम में सर्वप्रथम

महत्, पुनः उससे अहंकार आदि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सृष्टि प्रक्रिया में पुरुष का महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी यह उदासीन है। (द्रष्टव्यकारिका ३)

सामान्य अवस्था में जरामरण आदि से होने वाले दुःख वस्तुतः पुरुष के न होते हुए भी उसके प्रतीत होते हैं, क्योंकि पुरुष सूक्ष्मशरीर के साथ अत्यन्त सम्पृक्त रहता है, जुड़ा रहता है। यह प्रतीति ठीक उस प्रकार की होती है जैसे— जल में पड़ा हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब हिलता हुआ प्रतीत होता है, जबकि वह हिलता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार में प्राप्त होने वाले सुख, दुःख वस्तुतः पुरुष के प्रतीत होते हैं, जबकि वे उसके नहीं होते।

इसी प्रकार जड़ प्रकृति का सम्पूर्ण कार्य पुरुष के मोक्ष के लिए ही स्वतः होता रहता है, ठीक उसी प्रकार जैसे बछड़े के पोषण के लिए दूध स्वतः ही गाय के थनों में आ जाता है। यह पुरुष पूर्णतया अनुपकारी और गुणरहित है। उपकारिणी एवं निःस्वार्थभाव से सेवा करने वाली दासी के समान प्रकृति, पुरुष की सदैव मोक्ष के लिए भोग अपवर्ग की सामग्री प्रदान करते हुए सेवा करती रहती है—

**नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।**
**गुणवत्यगुणस्थ सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति॥६०॥**

पुरुष का बन्धन वस्तुतः हमें दिखाई देता है, जब कि बन्धन एवं मोक्ष पुरुष का न होकर प्रकृति का होता है (रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः (कारिका-६३)। ज्ञान की अवस्था में पुरुष को वस्तुस्थिति का भान होता है और वह प्रेक्षक के समान तटस्थ भाव से दूर खड़ा होकर प्रकृति से स्वयं को अलग समझ लेता है—

**''एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्''।**
**अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥६४॥**

संशयभ्रमादि से रहित विशुद्ध केवल्य स्वरूप इस ज्ञान के होने के पश्चात् प्रकृति इस पुरुष के प्रति अपने सृष्टिरूप प्रपञ्च को ठीक उसी प्रकार सिमेट लेती है जिस प्रकार कोई नृत्यांगना जिन दर्शकों के सामने एक बार नृत्य प्रस्तुत कर देती है, उनके समक्ष दोबारा जाना पसन्द नहीं करती। अथवा ऐसी कुलांगना के समान जिसे स्नान करते हुए अनावृतरूप में किसी पुरुष ने देख लिया हो, उसके सामने फिर से आने से वह कतराती है। (रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तत्ते नर्तकी यथा नृत्यात् (५९)

पुरुष भी प्रकृति के स्वरूप के जान लेने के पश्चात् 'मैंने इसे देख लिया है' ऐसा सोचकर उसके प्रति उपेक्षाभाव धारण करता है— (दृष्टा मया इति उपेक्षक एकः)। इस प्रकार के ज्ञानवान् पुरुष का शरीरपात के पश्चात् अर्थात् पूर्वजन्म के सभी कर्मों का फल भोग लेने पर कैवल्य हो जाता है। पुनः उसका इस संसार में आगमन नहीं होता और वह अपने विराटस्वरूप में ठीक उसी प्रकार मिल जाता है— जैसे, समुद्र के जल में जल की एक बूँद मिलकर एकाकार हो जाती है। यही पुरुष का मोक्ष तथा दुःखों की एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति होती है।

३. **प्रकृति–** सांख्य का दूसरा एवं महत्त्वपूर्ण नित्यतत्त्व है– प्रकृति। इसी को 'प्रधान', 'अव्यक्त', एवं 'मूलाप्रकृति' आदि नामों से भी जाना जाता है। इससे महत् आदि तेइस तत्त्वों की उत्पत्ति होती है– 'प्रकर्षेण क्रियन्ते यस्याः सा प्रकृतिः'। अतः यह प्रकृति कहलाती है। इन्द्रियगोचर न होने के कारण इसे अव्यक्त कहा जाता है तथा प्रलयकाल में सभी भौतिकतत्त्वों के इसमें समा जाने के कारण– प्रकर्षेण धीयते स्थाप्यते अत्र, अखिलम् इति, इसे प्रधान कहते हैं।

सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। प्रकृति के अवयव गुणों के विषय में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे। यहाँ प्रकृति के विषय में उल्लेख करते हैं–

प्रलयावस्था में जब सृष्टि नहीं होती, सांख्य केवल दो तत्त्वों 'पुरुष' एवं 'प्रकृति' की स्थिति को स्वीकार करता है। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। पुरुष का प्रकाश जड़ प्रकृति पर पड़ता है तो उसके गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है तथा वे एक दूसरे को दबाने का प्रयास करते हैं। परिणामस्वरूप सृष्टिकार्य प्रारम्भ होता है। इस क्रम में सर्वप्रथम 'महत्' (बुद्धि), महत् से अहंकार, अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पञ्चतन्मात्राएँ। पुनः पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत कुल मिलाकर २३ तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इन सभी का सृष्टिप्रक्रिया के शीर्षक के अन्तर्गत हम विस्तार से उल्लेख करेंगे। यहाँ केवल इतना बताने का अभिप्राय है कि इन सभी २३ व्यक्त तत्त्वों की उत्पत्ति का मूलकारण प्रकृति ही है। प्रलयकाल में ये सभी तत्त्व जिस क्रम से उत्पन्न होते हैं, अपने-अपने कारण में समाते हुए अन्त में मूलकारण प्रकृति में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

प्रकृति पूर्णतया स्वतन्त्र एवं नित्य होती है, वह अपने व्यापार के लिए किसी पर आश्रित नहीं है। वह सम्पूर्ण संसार को उत्पन्न करने वाली होते हुए भी स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती, इसी कारण इसे प्रकृति तथा 'अहेतुमत्' कहा गया है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इसका प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु इसके कार्यों को देखते हुए शेषवत् अनुमान प्रमाण से (कार्य को देखकर कारण की प्रतीति) इसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है, क्योंकि 'महत्' आदि इसके कार्य हैं और कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती। अतः महत् आदि के कारण मूलप्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है।

इस प्रसङ्ग में एक शङ्का की जा सकती है कि आप जिस प्रकार महत् आदि के 'कारण' मूल-प्रकृति की कल्पना कर रहे हैं, ठीक उसी प्रकार मूल-प्रकृति के 'कारण' किसी अन्य के अस्तित्व की कल्पना भी तो सम्भव है, इसका उत्तर तो यही होगा कि इस प्रकार की कल्पना से 'अनवस्था' दोष उत्पन्न होगा और इस कल्पना की कोई सीमा नही होगी, अतः त्याज्य है।

प्रकृति के अस्तित्व की सिद्धि के लिए कारिकाकार ने पाँच युक्तियों का उल्लेख किया है–

(क) **भेदानां परिमाणात्–** संसार के समस्त सीमित परिमाण वाले एवं परतन्त्र हैं। सीमित परिमाण वाले कार्यों को उत्पन्न करने के लिए किसी एक व्यापक मूलकारण का होना

अत्यावश्यक है, जो अपरिमित और स्वतन्त्र हो। प्रकृति, अव्यक्त अथवा प्रधान है, अतः वह व्यापक कारण ही है।

(ख) **भेदानां समन्वयात्–** प्रकृति से उत्पन्न होने वाले 'महत्' आदि तत्त्व यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं तथापि इन्हें एक सूत्र में बाँधने वाला कोई एक साधारणधर्म होना चाहिए जो इनमें परस्पर समन्वय करने वाला हो। वही प्रधान है।

(ग) **भेदानां शक्तितः प्रवृत्तेश्च–** 'महत्' आदि तत्त्वों में सरूप एवं विरूप परिणाम के लिए प्रवृत्ति देखी जाती है। इसका मुख्य कारण व्यक्त पदार्थों में शक्ति विशेष का होना है तथा उस शक्ति को अलग-अलग पदार्थों में अलग-अलग मानने का औचित्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐसा करने से 'गौरव' नामक दोष की प्राप्ति होगी। इसलिए एक शक्ति को ही मूल आश्रय के रूप में मानना आवश्यक है, जो सभी व्यक्त पदार्थों में सरूप एवं विरूप परिणाम को उत्पन्न करने में समर्थ हो। वह अन्य कोई नहीं, अपितु तीनों गुणों की साम्यावस्था 'अव्यक्त' ही है, क्योंकि गुणों में ही परिणाम की शक्ति भी रहती है।

(घ) **कारण-कार्य-विभागात्–** संसार में प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण होता है अर्थात् सभी पदार्थों में कार्य-कारण-विभाग देखा जाता है, जैसे– बीजरूपकारण का कार्य वृक्ष है। इसी प्रकार महत् कारण है अहंकार उसका कार्य है। अतः महत् रूप कार्य का भी तो कोई कारण होगा। इसलिए वह कारण अन्य कोई नहीं, अपितु प्रकृति अथवा अव्यक्त ही है, अतः उसका अस्तित्व मानना आवश्यक है।

(ङ) **अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य–** सांख्य कारण और कार्य के एकीभाव को स्वीकार करता है। इस कारण सदृश परिणाम के समय कार्य अपने कारण में लीन होकर एकाकार हो जाता है। इसे प्रलयकाल में होने वाली व्युत्क्रम प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। जिसके अनुसार– प्रत्येक कार्य अपने कारण में लीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में महत् आदि कार्यों का अपने कारण में लीन होना अत्यावश्यक है, तभी सम्पूर्ण संसार में कारण-कार्य का अभेद प्रतीत होगा। इसलिए वह कारण ही अव्यक्त है, जिसमें महत् आदि सभी कार्य लीन होकर एक प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार सभी कार्यों के कारणरूप में एक 'अव्यक्त' अथवा प्रधान की सिद्धि होती है। जो नित्य, व्यापक और निष्क्रिय है। यद्यपि इसके गर्भ में रजोगुण की स्थिति के कारण क्रियाशीलता का होना स्वाभाविक है क्योंकि रजोगुण क्रियाशील होता है, किन्तु यह क्रियाशीलता प्रलयकाल में साम्यावस्था के रूप में ही विद्यमान रहती है। वैषम्य के अभाव में क्रिया उत्पन्न न होने के कारण प्रकृति को निष्क्रिय भी कहा जाता है, यद्यपि सृष्टिकाल में पुरुष के संसर्ग के कारण उसमें क्रियाशीलता विद्यमान रहती है।

इस प्रकार महत् से लेकर स्थूलभूत पर्यन्त सम्पूर्ण व्यक्त संसार का मूलकारण प्रकृति है। जो अपनी त्रिगुणता एवं क्रियाशीलता के कारण व्यक्त रूप में परिणत होता है। जिस प्रकार वर्षा का जल नारियल, इमली, आंवला आदि में मीठा, खट्टा, कषाय आदि अनेक स्वादों में परिणत हो जाता है। उसी प्रकार त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही मन, बुद्धि, अहंकार आदि करणों एवं स्थूल एवं

सूक्ष्म भूतों के रूप में परिणत हो जाती है। इनमें भेद का कारण तीनों गुणों का अलग-अलग अनुपात में मिश्रित होना है।

इसके अतिरिक्त यह एक है अधिक नहीं। साथ ही किसी के ऊपर आश्रित न होने के कारण 'अनाश्रित' भी है। प्रलयकाल में भी यह विद्यमान रहती है, इसका लय नहीं होता है। यद्यपि सत्त्व, रजस्, तमस् ये तीन गुण प्रकृति में साम्यावस्था में विद्यमान रहते हैं, तथापि इसे निरवयव कहा जाता है, क्योंकि यहाँ वे विषम रूप में नहीं होते, उन्हें प्रकृति से अलग नहीं किया जा सकता है।

प्रकृति किसी के अधीन भी नहीं है, अतः स्वतन्त्र है। अपने क्रिया कलाप में यह पूर्णतया स्वतन्त्र है, स्वाधीन है। इन सभी दृष्टियों से यह व्यक्त पदार्थों, जिनका सृष्टि प्रक्रिया में उल्लेख किया जाएगा, भिन्न कही जा सकती है, किन्तु व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों में कुछ समानताएँ त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व, प्रसवधर्मित्व, भी देखने को मिलती हैं।

सांख्यकारिकाकार ने मोक्ष की अवस्था में इसकी उपमा ऐसी 'नृत्यांगना' से दी है जो दर्शकों के सामने एक बार नृत्य प्रस्तुत करके विरत हो जाती है। ठीक इसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के समक्ष स्वयं को प्रकट कर निवृत्त हो जाती है–

**रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।**
**पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥५९॥**

इसका सम्पूर्ण सृष्टिरूप प्रयास पुरुष के भोगापवर्ग के लिए ही होता है। यह पूर्णतया निःस्वार्थभाव से उपकारिणी सेविका के समान निर्गुण, प्रत्युपकाररहित पुरुष की अनेक उपायों द्वारा सेवा करती है। यह प्रकृति सुकुमार भावनाओं से युक्त कुलांगना के समान (पर) पुरुष द्वारा एक बार अनावृत्त रूप से देख लिए जाने के पश्चात् पुनः उसके सामने नहीं आती है (या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य)।

यह प्रकृति अपने धर्म-अधर्म, अज्ञान, राग-विराग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य आदि सात रूपों के द्वारा स्वयं ही अपने को बाँधती है तथा अपने एक ज्ञान रूप के द्वारा पुरुष के मोक्ष के लिए स्वयं को मुक्त करती है। (कारिका ६३) इसलिए वस्तुतः किसी भी पुरुष का बन्धन और संसरण आदि नहीं होता है, अपितु नानाश्रया प्रकृति का ही बन्धन, संसरण और मोक्ष होता है।

**तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।**
**संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥६२॥**

**त्रिगुण–** यहाँ तक प्रकृति का स्वरूप क्रिया-कलाप आदि का उल्लेख हुआ। अब हम इसके तीन गुणों का परिचय प्रस्तुत करेंगे। गुण का अर्थ होता है– रस्सी अथवा डोरी। सत्त्व आदि गुणप्रकृति अथवा पुरुष को बांधने का कार्य करते हैं। अतः रस्सी के समान कार्य करने के कारण इन्हें गुण कहा जाता है, ऐसा आचार्य विज्ञानभिक्षु का मानना है।

सांख्यदर्शन में ये प्रकृति के स्वरूपाधायक तत्त्व हैं तथा पुरुष के भोगापवर्ग रूप सिद्धि में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से भी ये गुण कहलाते हैं। यहाँ ये वैशेषिक दर्शन के समान रूप,

रस, गन्ध आदि द्रव्यों में रहने वाले पदार्थ रूप गुण नहीं हैं, अपितु इनमें गुरुत्व, लघुत्व होने, क्रिया तथा द्रव्यधर्मों से युक्त होने तथा संयोग एवं वियोग होने के कारण वास्तव में द्रव्य ही होते हैं।

समस्त संसार में सुख, दुःख एवं मोह की सर्वव्यापकता को देखते हुए ही सांख्य ने इनके मूलभूत आधार सुख के मूल 'सत्त्व', दुःख के मूल 'रजस्' और मोह के मूलकारण 'तमस्' की परिकल्पना अनुमान के आधार पर की है। संसार के सभी पदार्थों में इन तीनों गुणों की स्थिति विद्यमान रहती है, क्योंकि वे सभी सुख दुःख मोहात्मक हैं। उदाहरण के लिए पेड़ से पका हुआ आम गिरा, दो लड़के उसे पाने के लिए दौड़े। जिसे मिल गया वह आनन्दित होता है, जिसे नहीं मिला वह दुःखी होता है तथा इस सम्पूर्ण क्रिया कलाप को दूर खड़ा तीसरा लड़का तटस्थभाव से देखता है और उदासीन रहता है। यह तीन प्रकार की भिन्न प्रतीति प्रत्येक वस्तु में स्थित तीन गुणों का ही परिणाम है।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण देखिए– एक सुन्दर स्त्री अपने प्रिय को सुख प्रदान करती है, अपनी सौतों को वही दुःख देने वाली होती है तथा वही दूसरे पुरुषों में मोह उत्पन्न करने वाली होती है। सांख्य, सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करता है, जिसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे। तदनुसार जो विशेषताएं कार्य में होती हैं, वे सभी कारण में भी रहती हैं। क्योंकि जगत् के मूलकारण प्रकृति में ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं, इसीलिए उनसे उत्पन्न होने वाले सुख दुःख आदि की हमें प्रत्येक पदार्थ में अनुभूति होती है, क्योंकि सुख-दुःख-मोहात्मक होना इन गुणों का स्वभाव है। गुणों की सत्ता सिद्धि के बाद इनके स्वरूपादि पर विचार करते हैं–

(क) **सत्त्वगुण–** सत्त्वगुण हल्का (लघु) प्रकाशक तथा आनन्दस्वरूप, सुख स्वरूप (इष्ट) होता है। इसकी उपस्थिति से वस्तुएँ हल्की होने के कारण ऊपर उठती हैं, जैसे– आग की लपटों का ऊपर उठना, भाप का ऊपर की ओर जाना। इसी प्रकार मनुष्यादि सभी प्राणियों को सुख, हर्ष, सन्तोष एवं आनन्द आदि श्रेष्ठ भावनाओं की अनुभूति सत्त्व के कारण ही होती है। इन्द्रियाँ अपने रूपादि विषयों को ग्रहण करती हैं तथा ज्ञान विषयों को प्रकाशित करता है, यह केवल सत्त्वगुण की उपस्थिति से, प्रभाव से ही सम्भव होता है। प्रलयावस्था में यह केवल अपने ही प्रवाह में निरन्तर प्रवाहित होता रहता है जो प्रकृति की वस्तुतः साम्यावस्था है, किन्तु सृष्टिकाल में यह दूसरे गुणों (रजस्, तमस्) के साथ मिश्रीभाव को प्राप्त होता है। यही स्थिति अन्य गुणों की भी होती है। अपने मूल रूप में यह निष्क्रिय है, किन्तु रजोगुण के प्रभाव से सक्रिय होता है।

(ख) **रजोगुण–** रजोगुण स्वयं भी चञ्चल होता है तथा जिसके सम्पर्क में आता है, उसे भी चञ्चल बनाता है। सांसारिक पदार्थों वायु आदि में जो भी चञ्चलता अथवा गतिशीलता दिखाई देती है वह इसी गुण का प्रभाव है। इसी के कारण मन की चञ्चलता है, इन्द्रियों का दौड़कर अपने विषय को ग्रहण करना आदि क्रियाएँ देखने को मिलती हैं।

सत्त्व और तमस् ये दोनों गुण निष्क्रिय होते हैं, उनमें यही रजोगुण गति प्रदान करता है। यह दुःखात्मक होता है। अतः संसार की वस्तुओं से प्राप्त होने वाला दुःख इसी गुण के प्रभाव के कारण होता है।

(ग) **तमोगुण–** तमोगुण भारी और रोकने वाला होता (गुरु वरणकमेव तमः) यह सत्त्व एवं रजोगुणों का विरोधी है। यदि यह गुण न होता तो रजोगुण हमेशा ही चलायमान रहता, यह उसकी गति को नियन्त्रित करता है। यह जड़ता एवं निष्क्रियता का प्रतीक है। इसके कारण प्रकाश में कमी होने से अंधकार तथा बुद्धि में विषयों को प्रकाशित करने का अभाव होने से मूर्खता का आधान होता है। यह प्रमाद, निद्रा और तन्द्रा को देने वाला है।

तीनों गुणों में परस्पर विरोधी होने पर भी अत्यन्त तालमेल रहता है जिसे दीपक के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है, क्योंकि दीपक में स्थित तेल, बत्ती और अग्नि आपस में विरोधी होने पर भी एक साथ मिलकर प्रकाश का कारण होते हैं। ठीक इसी प्रकार वात, पित्त और कफ परस्पर विरोधी होते हुए भी जिस प्रकार शरीर धारण का कारण बनते हैं। ठीक उसी प्रकार ये तीनों गुण परस्पर विरुद्ध होते हुए भी मिलकर पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। ये तीनों सदैव एक साथ रहते हैं कभी एक दूसरे से वियुक्त नहीं होते (मिथुनवृत्तिः)। एक दूसरे को दबाना इनका स्वभाव है इसलिए सत्त्वगुण रजस् और तमस् को दबाकर प्रभावी होता है। इसी प्रकार रजस् भी सत्त्व और तमस् को दबाता है तथा तमोगुण भी सत्त्व और रजस् को दबाकर अपना कार्य करता है। इसी को कारिकाकार ने 'अभिभववृत्ति' पद द्वारा कहा है।

ये तीनों गुण सदैव परिवर्तन अथवा विकार उत्पन्न करने वाले हैं। जो दो प्रकार का होता है। प्रलयकाल में एक गुण अन्य गुणों से स्वयं को अलग करके अपने ही रूप में परिणत होता रहता है। इस समय इनसे कुछ उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु सृष्टिकाल में इनके आपस में मिलने और विषमता के कारण, एक दूसरे को दबाने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप व्यक्त जगत् की उत्पत्ति होती है। जब तक एक गुण प्रबल होकर दूसरे को नहीं दबाता, तब तक सृष्टिरूप कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती।

इसलिए प्रलयकालीन अवस्था में होने वाला गुणों का परिणाम समान रूप से परिणत होने के कारण 'स्वरूप परिणाम' होता है। अतः उस समय सृष्टि कार्य नहीं होता है। यही तीनों गुणों की साम्यावस्था अर्थात् 'प्रकृति' होती है। इसके अतिरिक्त सृष्टिकाल में होने वाला परिणाम 'विरूप परिणाम' कहलाता है, क्योंकि इस स्थिति में एक गुण प्रबल होकर अन्य दो गुणों को वश में कर लेता है और सृष्टि उत्पन्न होती है।

४. **सृष्टिप्रक्रिया–** सांख्य के अनुसार चेतन एवं तेजोरूप पुरुष का प्रकाश जब त्रिगुणात्मिका एवं जड़ प्रकृति के ऊपर पड़ता है तो प्रकृति के तीनों गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिसके परिणामस्वरूप सृष्टि-प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। दूसरे शब्दों में पुरुष और प्रकृति का संयोग ही सृष्टि का एक मात्र कारण है, अन्यथा स्वभाव से जड़ प्रकृति तथा स्वभाव से निष्क्रिय पुरुष स्वतन्त्ररूप से इस कार्य में सक्षम नहीं होते। वस्तुतः चेतन पुरुष की अध्यक्षता में ही प्रकृति सृष्टिकार्य में समर्थ होती है।

परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले इन दोनों के संयोग को कारिकाकार ने अन्धे और लंगड़े के उदाहरण द्वारा अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। जैसे– अन्धा चल तो सकता है, किन्तु नेत्रेन्द्रिय में विकार के कारण देख नहीं पाता। अतः उसे मार्ग का ज्ञान नहीं होता। इसके विपरीत लंगड़े के पैर खराब होने के कारण वह चल नहीं पाता, किन्तु नेत्रेन्द्रिय ठीक होने से वह मार्ग को देखने में पूर्णतया सक्षम होता है। यदि ये दोनों एक दूसरे से मिल जाएँ तो परस्पर सहयोग से ये कहीं भी आ जा सकते हैं, कुछ भी कार्य सम्पन्न कर सकते हैं।

इसी प्रकार जड़ किन्तु रजोगुण के कारण सक्रिय प्रकृति जो चल तो सकती है, किन्तु देख नहीं सकती, निष्क्रिय, किन्तु चेतन पुरुष, जो देख तो सकता है, किन्तु चल नहीं सकता, के परस्पर सहयोग से सृष्टिरूप कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न हो जाता है।

पुरुष भोक्ता है और प्रकृति भोग्या, भोक्ता के अभाव में भोग पदार्थों की निरर्थकता स्वतः सिद्ध है। पुरुष प्रकृति का यह संयोग सृष्टि के माध्यम से विवेकज्ञान द्वारा मोक्ष (कैवल्य) की प्राप्ति करना है। भोक्ता पुरुष द्वारा देख लिए जाने तक ही प्रकृति सृष्टि रूप कार्य को सम्पादित करती है।

**प्रकृति से महत्**

पुरुष का प्रकाश पड़ने पर समान भाव में स्थित तीनों गुणों में क्षोभ उत्पन्न होने से वे एक दूसरे को दबाने तथा अपने वश में करने के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। बस यहीं से सृष्टि-कार्य प्रारम्भ हो जाता है तथा इस क्रम में सर्वप्रथम 'महत्' तत्त्व, जिसे 'बुद्धि' भी कहते हैं, जो संसार के विस्तार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करने के कारण 'महत्' कहा जाता है, संसार का मानो बीज रूप है, की उत्पत्ति होती है।

'बुद्धि' जिसका स्वरूप ही निश्चयात्मक अथवा अध्यवसायात्मक होता है, प्रत्येक प्राणी में विद्यमान रहती है, स्वयं को तथा अपने सम्पर्क में आने वाले विषयों को प्रकाशित करती है। कारिकाकार ने इसके चार सात्विक– धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य एवं चार तामसिक– अधर्म, अज्ञान, राग, अनैश्वर्य आदि कुल आठ भावों का उल्लेख किया है। इनमें से 'ज्ञान' के अतिरिक्त सात भावों के द्वारा प्रकृति का बन्धन होता है तथा एक भाव 'ज्ञान' के द्वारा उसका मोक्ष होता है, जो वस्तुतः हमें पुरुष का प्रतीत होता है।

जडात्मिका प्रकृति का कार्य होने के कारण 'बुद्धि' स्वयं तो जड़ है, किन्तु पुरुष से अत्यधिक निकटता के कारण उसके चैतन्य का प्रतिबिम्ब बुद्धि के ऊपर पड़ने से वह चेतन के समान प्रतीत होने लगती है। यह मेरा है अथवा यह मेरा नहीं है। यह मुझे करना है, यह मुझे नहीं करना है। इस प्रकार का निश्चय अथवा अध्यवसाय करना ही बुद्धि का कार्य है।

इन्द्रिय और मन का सम्पूर्ण व्यापार बुद्धि के लिए तथा बुद्धि का सम्पूर्ण व्यापार पुरुष के लिए होता है। जिसे कारिकाकार ने अनेकशः 'पुरुषार्थम्' पद का प्रयोग करके निर्दिष्ट किया है। सुख दुःख आदि का अनुभव भी सर्वप्रथम बुद्धि को ही होता है। उसके बाद ही वह उसे पुरुष को प्रदान करती है। जिसका भोक्ता के रूप में पुरुष भोग करता है।

यही बुद्धि अपने 'ज्ञान' रूप भाव के द्वारा पुरुष और प्रकृति की भिन्नता का प्रदर्शन करती है। इसी के सहयोग से पुरुष स्वयं को प्रकृति से भिन्न तथा स्वतन्त्र मानता है। जो उसके अपवर्ग का मार्ग प्रशस्त करने वाला है।

**अहंकार**

महत् तत्त्व से 'अहंकार' नामक दूसरे व्यक्त तत्त्व की उत्पत्ति होती है। मैं भोक्ता हूँ, मैं कर्ता हूँ इत्यादि भ्रान्त धारणाओं के अन्तर्गत स्थित 'मैं' और 'मेरा' अभिमान करना ही इसका स्वरूप है। इन्द्रिय और मन स्वयं के द्वारा अनुभव एवं चिन्तित विषयों को इसी अहंकार को प्रदान करते हैं। इसी के कारण व्यक्ति उन विषयों के साथ सम्बद्ध हो जाता है जो सम्बद्धता अनेक प्रकार के अभिमान रूप में होती है, जैसे– मैं इसके लिए हूँ, मैं इस कार्य में समर्थ नहीं हूँ आदि।

**सात्त्विक अहंकार**

किसी भी कार्य की सम्पन्नता में अहंकार की भावना का अत्यधिक महत्त्व है इसके अभाव में व्यक्ति किसी भी कार्य को करने में प्रवृत्त ही नहीं होगा। अतः 'अहं' की भावना ही संसार के सभी कार्यों एवं व्यवहारों का मूल है।

कारिकाकार ने गुणों की विषमता के कारण अहंकार के तीन स्वरूपों का उल्लेख किया है–

(क) सात्विक (ख) तैजस (ग) तामस अथवा भूतादि। इनमें सात्विक अहंकार को ही वैकृत नाम भी दिया गया है। इसमें सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। इससे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन ये कुल ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

ज्ञान की साधक होने से इन्हें 'ज्ञानेन्द्रिय' कहा जाता है। इसकी संख्या पाँच है– नेत्रेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा त्वगेन्द्रिय जो क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श आदि विषयों को ग्रहण करती हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ क्रमशः आँख, कान, नाक, जीभ और खाल में निवास करती हैं। इनका केवल अनुमान के द्वारा ही ज्ञान होता है, कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। इन अंगों को ही इन्द्रियाँ नहीं मानना चाहिए, जिन अंगों में ये रहती हैं, उनसे तो इनकी केवल अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि लकवा आदि दोष होने पर उस-उस इन्द्रिय के दिखाई देने पर भी उस इन्द्रिय की शक्ति नष्ट होने से वह अपने विषय को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती है। यही बात कर्मेन्द्रियों पर भी लागू होती है।

सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होने वाली कर्मेन्द्रियों की संख्या भी पाँच है– वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये क्रमशः मुख, हाथ, पैर, मलद्वार तथा जननेन्द्रिय में निवास करती हैं तथा बोलना, किसी वस्तु को पकड़ना, चलना, मल बाहर निकालना तथा सन्तान उत्पन्न करना एवं आनन्द प्रदान करना क्रमशः इन कार्यों को सम्पन्न करती हैं।

सांख्यदर्शन के अनुसार मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है। इसकी उत्पत्ति भी सात्त्विक अहंकार से ही मानी गई है। यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों होने के कारण उभयात्मक होती है, क्योंकि इसका कार्य ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों को अनेक कार्यों में प्रवृत्त करना है। इन्द्रियों के साथ मन का तालमेल होने पर ही वे अपने विषयों को ग्रहण करने से सक्षम होती हैं, क्योंकि अनेक

बार हम कोई वस्तु देख रहे होते हैं, कोई बात सुन रहे होते हैं, किन्तु मन की अन्यत्र स्थिति होने से वह हमें दिखाई नहीं देती, सुनाई नहीं देती। इससे यह सिद्ध होता है कि मन से अधिष्ठित होने पर ही इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों को करने में सक्षम होती हैं। इसीलिए इसे उभयात्मक कहा गया है— (उभयात्मकमनः)।

मन संकल्पात्मक होता है (मनः संकल्पकम्)। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के ज्ञान को 'कुछ है' इस रूप में 'निर्विकल्पक' रूप में ग्रहण करती हैं, उसमें नाम-जाति-गुण-क्रिया आदि की योजना नहीं होती। संकल्प-विकल्प द्वारा मन उस ज्ञान को सविकल्पक बनाता है। मन ही यह निर्धारित करता है कि सामने स्थित वस्तु क्या है? उसका कैसा रंग है? उसे क्या कहते हैं? वह क्या करता है? आदि-आदि। संकल्प का अभिप्राय है— सम्यक् कल्प अर्थात् ठीक-ठीक कल्पना करना। बस यही मन का स्वरूप भी है।

बाह्यज्ञान का साधन होने के कारण पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ ये दस बाह्यकरण कहलाते हैं तथा मन, बुद्धि, अहंकार ये तीनों भीतरी ज्ञान के साधन होने के कारण अन्तःकरण कहलाते हैं। बाह्य और अन्तः दोनों प्रकार के करणों को मिलाकर कुल त्रयोदश (तेरह) करण होते हैं।

**तामस अहंकार**

जिसमें तमोगुण की प्रधानता रहती है, उस तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। तन्मात्र से अभिप्राय है— सूक्ष्मतत्त्व। अर्थात् सूक्ष्म-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये पाँच तन्मात्र तामस अहंकार से उत्पन्न होते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने से इनका ज्ञान केवल अनुमान प्रमाण द्वारा होता है अथवा योगियों की सूक्ष्म-दृष्टि इनका प्रत्यक्ष कर सकती है।

राजस् अहंकार की स्थिति प्रेरक के रूप में होती है। अतः यह ११ इन्द्रियों और पञ्चतन्मात्राओं दोनों की उत्पत्ति में सहयोगी प्रेरक के रूप में कार्य करता है। अतः इसकी उपस्थिति दोनों स्थानों पर होती है।

तन्मात्राओं के परस्पर योग से पाँच स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति होती है। जैसे— १. 'शब्दतन्मात्र' से शब्द गुण वाले 'आकाश' की २. शब्द एवं स्पर्श तन्मात्र से वायु की ३. शब्द-स्पर्श और रूपतन्मात्र से अग्नि (तेज) की ४. शब्द-स्पर्श-रूप और रस तन्मात्राओं से जल की ५. शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध तन्मात्राओं के योग से पृथिवी की उत्पत्ति होती है।

इसी कारण 'आकाश' में केवल शब्द गुण विद्यमान रहता है। 'वायु' में शब्द और स्पर्श तथा 'अग्नि' में शब्द, स्पर्श और रूप गुण विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस इन चार गुणों की उपस्थिति रहती है तथा पृथिवी रूप महाभूत में पाँचों गुण-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विद्यमान रहते हैं। वस्तुतः ये पञ्चमहाभूत— आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन विशिष्ट (विषय रूप) गुणों को धारण करने वाले होते हैं। फिर भी पूर्व-पूर्व के महाभूतों के गुण भी इनमें विद्यमान रहते हैं। जैसे— यद्यपि जल का अपना विशिष्ट गुण रस है, किन्तु उसमें हमें शब्द, स्पर्श और रूप गुणों

की भी प्रतीति होती है। हम उसकी कल-कल ध्वनि को सुन सकते हैं। उसका शीतल और उष्ण रूप में स्पर्श होता है तथा उसे हम अपनी चक्षु इन्द्रिय द्वारा देख सकते हैं, यह प्रतीति उसमें स्थित रूप गुण के कारण ही सम्भव है तथा रस गुण का आभास तो हमारी रसनेन्द्रिय द्वारा होता ही है।

यद्यपि इन महाभूतों से वृक्ष, पौधे, वनस्पति, घट, पट आदि पुनः उत्पन्न होते हैं तथापि सांख्य उन्हें पञ्चमहाभूतों के रूप में ही स्वीकार करके केवल तेईस व्यक्त पदार्थों को ही मान्यता प्रदान करता है। यही सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया है। जिसे कारिकाकार इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

**प्रकतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।**
**तस्मादपि षोडषकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥ २२॥**

सांख्य के अनुसार—महत् से लेकर पञ्चमहाभूतों तक कुल तेईस पदार्थ व्यक्त कहलाते हैं। इनमें से महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ ये सात प्रकृति और विकृति दोनों होते हैं, क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण महत्, प्रकृति की विकृति तथा अहंकार को उत्पन्न करने के कारण उसके लिए प्रकृति हुआ। ठीक इसी प्रकार अहंकार, महत् से उत्पन्न होने के कारण 'महत्' की विकृति तथा ५ ज्ञानेन्द्रियों, ५ कर्मेन्द्रियों, मन और पञ्चतन्मात्राओं को उत्पन्न करने के कारण इन सबकी प्रकृति अर्थात् मूलकारण हुआ। ऐसे ही पञ्चतन्मात्राएँ 'तामस् अहंकार' से उत्पन्न होने के कारण उसकी 'विकृति' तथा पञ्चमहाभूतों को उत्पन्न करने के कारण उनकी 'प्रकृति' हुए।

किन्तु पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा पञ्चमहाभूत ये सोलह पदार्थ केवल विकृति होते हैं, क्योंकि ये उत्पन्न तो होते हैं, किन्तु किसी को उत्पन्न करते नहीं हैं। इसी बात को कारिकाकार इस प्रकार कहते हैं—

**मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।**
**षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ ३॥**

अभी हमने तन्मात्र सृष्टि का कथन किया। अब बुद्धि की सृष्टि का उल्लेख किया जाता है। इसी को प्रत्ययसर्ग अथवा भावसर्ग भी कहा जाता है। धर्मादि आठ भावों से युक्त होकर ही बुद्धि उनसे युक्त सूक्ष्मशरीर की संरचना करती है। भावसर्ग में विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धि ये चार परिगणित हैं। जिनके कुल पचास भेदों का उल्लेख कारिकाकार ने किया है।

अज्ञान या मिथ्याज्ञान को 'विपर्यय' कहते हैं। तम, मोह, महामोह, तामिस्र एवं अन्धतामिस्र विपर्यय के पाँच भेद माने गए हैं जिन्हें क्रमशः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप में पञ्चक्लेशों के नाम से भी जाना जाता है।

इन्द्रिय एवं बुद्धि की अपने विषय को ग्रहण करने की असामर्थ्य ही 'असक्ति' है। कारिकाकार ने इसके २८ भेदों का उल्लेख किया है। जिनमें ग्यारह इन्द्रियों के वध, नौ अतुष्टियाँ तथा आठ असिद्धियाँ परिगणित हैं। भौतिक विषयों से ही संतुष्ट रहना तुष्टि है। जो प्रकृति,

उपादान, काल एवं भाग चार आभ्यन्तर तथा विषयों के अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग एवं हिंसा आदि दोषों से उत्पन्न पाँच बाह्य, कुल मिलाकर नौ हो जाती है।

परमपुरुषार्थ की प्राप्ति ही सिद्धि कहलाती है। जो अध्ययन, शब्द, ऊह, सुहत्प्राप्ति, दान तथा त्रिविध दुःख की तीन प्रकार की निवृत्ति भेद से आठ प्रकार की होती है। ग्रन्थकार ने इनकी कारिका ४६ से लेकर ५१ तक विस्तृत चर्चा की है। अतः इनके विस्तृत अध्ययन के लिए इन कारिकाओं की व्याख्या दर्शनीय है।

५. **प्रलयावस्था–** सांख्य में जिस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया का कथन हुआ है; उसी प्रकार प्रलय की स्थिति की भी कल्पना की गई है। यद्यपि कारिकाकार ने प्रत्यक्षतः इसका उल्लेख नहीं किया है। इसके अनुसार– प्रलय की अवस्था में प्रत्येक व्यक्त पदार्थ अपने-अपने कारण में लीन हो जाता है और अन्त में पुरुष एवं प्रकृति केवल दो तत्त्व शेष रहते हैं, क्योंकि सांख्य इन दोनों को नित्य मानता है।

इस प्रकार प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् पञ्चमहाभूतों में तथा पञ्चमहाभूत जिस क्रम से उत्पन्न हुए थे, उसी क्रम में उल्टे क्रम से अपने-अपने कारण सूक्ष्मतन्मात्राओं में विलीन होते जाते हैं। पञ्चतन्मात्राएँ अपने कारण तामस अहंकार में तथा ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ और मन ये सभी ११ करण अपने कारण सात्त्विक अहंकार में समा जाते हैं और अहंकार अपने कारण महत् में विलीन हो जाता है तथा अन्त में महत् अर्थात् बुद्धि भी अपने मूलकारण प्रकृति में समा जाती है और प्रकृति जो तीन गुणों की साम्यावस्था है, विराजमान रहती है तथा चेतन पुरुष शेष रहता है।

इस प्रकार प्रलयकाल में पुरुष और प्रकृति केवल दो पदार्थ ही शेष बचते हैं। इस अवस्था में भी प्रकृति के तीन गुणों में परिणाम होता रहता है, किन्तु वह विरूप-परिणाम न होकर सरूप-परिणाम होता है। जिसमें ये केवल अपने प्रवाह में ही निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं। अन्य गुणों के साथ इनका मिश्रण नहीं होता। इस अवस्था में पुरुष का प्रकाश प्रकृति पर नहीं पड़ता है अर्थात् उनका संयोग नहीं होता।

६. **सूक्ष्मशरीर–** अभी हमने तन्मात्रसृष्टि का निरूपण किया, इसी को लिङ्गसर्ग भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त बुद्धि की सृष्टि का भी सांख्य में उल्लेख हुआ है। इसी को प्रत्यय-सर्ग अथवा भाव-सर्ग भी कहते हैं। कारिकाकार ने इसकी विस्तार से चर्चा करते हुए इसके कुल पचास भेदों का उल्लेख किया है (कारिका ४६)। धर्म आदि भावों से युक्त होकर ही बुद्धि उनसे युक्त सूक्ष्मशरीर की संरचना करती है, क्योंकि लिंग की भावना अथवा सृष्टि इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होती है। इसीकारण इन्हें 'भाव' कहा जाता है। इनकी संख्या आठ मानी गई है– धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, विराग-राग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य आदि।

व्यक्ति अच्छा बुरा जो कुछ भी करता है उसके परिणामस्वरूप बनने वाले संस्कारों को 'भाव' कहा जाता है। ये संस्कार ही उत्तम अथवा निकृष्ट भोगों को प्रदान करते हैं। स्थूलशरीर का निर्धारण भी इसी संस्कार अथवा भावों के अनुसार ही होता है। इन भावों का आश्रय कौन

है? इनकी कार्य प्रणाली क्या है? इसके लिए सांख्य ने एक सूक्ष्मशरीर अथवा लिङ्गशरीर की कल्पना की है।

इसके अनुसार– सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति, प्रत्येक पुरुष के लिए एक विशेष प्रकार का आवरण उत्पन्न करती है, जिसे सूक्ष्मशरीर कहते हैं। जो सृष्टिकाल से लेकर प्रलयकाल तक बना रहता है अथवा इसकी स्थिति पुरुष के मोक्ष प्राप्त करने के समय तक रहती है। इसी दृष्टि से इसे नियत तथा नित्य भी कहा जाता है। इसकी सर्वत्र गति होती है। यहाँ तक कि यह शिला में भी प्रविष्ट हो सकता है।

इसकी रचना मन, बुद्धि, अहंकार सहित दस इन्द्रियों और पाँच तन्मात्राओं कुल मिलाकर १८ तत्त्वों से होती है। कुछ विद्वानों ने इन तत्त्वों की संख्या सत्रह मानी है। उनकी दृष्टि में इसमें अहंकार का परिगणन करना उचित नहीं है। इसकी प्रतीति केवल अनुमान प्रमाण से सम्भव है।

किए गए कर्मों से निर्मित संस्कारों से युक्त होकर यह सूक्ष्मशरीर ही पूर्व-पूर्व स्थूलशरीर का परित्याग करने के पश्चात् अपने कर्मों के फलभोग के अनुरूप अलग-अलग प्रकार के नये स्थूलशरीर को धारण करता रहता है। केवल स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर के अभाव में पुरुष के भोग का साधन नहीं हो सकता। पुरुष को सुख दुःख का अनुभव भी इसी सूक्ष्मशरीर के माध्यम से होता है, स्थूलशरीर से नहीं। ऐसा सांख्यसूत्रकार का मानना है (सां० सू० ३/४)

धर्म-अधर्म आदि आठ भावों से युक्त यह 'सूक्ष्मशरीर' पुरुष के भोगापवर्ग के सम्पादन के लिए नाना प्रकार के लोकों एवं योनियों में स्थूलशरीर को धारण करता हुआ संसरण करता है। (संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् (सा० का० ४०)। कुछ विद्वानों ने लिङ्ग और सूक्ष्मशरीर को भिन्न माना है। जिसका औचित्य संदिग्ध प्रतीत होता है।

सूक्ष्मशरीर में प्रधानता बुद्धि की होती है। इसी कारण बुद्धि के आठ भाव यहां प्रभावी रहते हैं। इन्हीं आठ में से 'ज्ञान' नामक भाव पुरुष के अपवर्ग का कारण बनता है। शेष सात भावों से भोग व बन्धन सम्पन्न होता है। सूक्ष्मशरीर कभी आश्रय रहित नहीं रहता है, स्थूलशरीर ही इसका आश्रय है। जब यह सूक्ष्मशरीर एक स्थूलशरीर का परित्याग करता है तो उसे छोड़ने के साथ-साथ ही अगले नूतन स्थूलशरीर का ठीक उसी प्रकार आश्रय ले लेता है, जिस प्रकार 'जोक' नामक जीव किसी वस्तु के एक छोर को छोड़ने से पहले अगले तिनके का आश्रय ले लेता है।

७. **स्थूलशरीर–** जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया कि सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति पुरुष का भोग-अपवर्ग सम्पादन करने के लिए हुई है, किन्तु वह स्वतन्त्र रूप से विषयों का उपभोग करने में समर्थ नहीं है। स्थूलशरीर के माध्यम से ही भोगापवर्ग की सिद्धि सम्भव है। स्थूलशरीर पञ्चमहाभूतों के योग से निर्मित होता है। इसी कारण इसका नेत्रेन्द्रिय आदि से प्रत्यक्ष सम्भव होता है। इनकी संख्या अनन्त है, किन्तु योनि-भेद से इनका वर्गीकरण किया जा सकता है। जिनकी संख्या शास्त्रों द्वारा करोड़ों बताई गई है। अलग-अलग योनि में स्थित स्थूलशरीर का अलग-अलग प्रकार से निर्माण होता है, फिर भी यह प्रक्रिया कई दृष्टि से मिलती जुलती है।

यहाँ हम मनुष्य के स्थूलशरीर की रचना प्रक्रिया का उल्लेख कर रहे हैं। यद्यपि विद्वान् इस विषय में एक मत नहीं हैं।

बुद्धि के धर्म 'राग' के कारण रजोगुण की प्रेरणा से स्त्री-पुरुष का संगम होता है जिससे गर्भाशय में स्त्री के रज और पुरुष के वीर्य का मिश्रण होता है। पहले माह में वात, पित्त, श्लेष के क्षोभ से चैतन्य युक्त 'कलल' मात्र की उत्पत्ति होती है। दूसरे माह में वह 'कलल' अर्बुद अर्थात् मांस के लोंदें के समान हो जाता है। उसके बाद उसमें अंगों की संरचना होती है।

आचार्य धन्वन्तरि गर्भ में शरीर के अंगों की रचना को एक साथ स्वीकार करते हैं, किन्तु आचार्य शौनक के अनुसार पहले सिर का निर्माण होता है। मार्कण्डेय हाथ पैरों की रचना पहले मानते हैं। आचार्य पराशर्य ने गर्भ का पोषण नाभि से होने के कारण नाभि की रचना सर्वप्रथम मानी है। कृतवीर्य, हृदय की रचना पहले स्वीकार करते हैं, क्योंकि हृदय से ही रक्त का संचार सारे शरीर में होता है, किन्तु आचार्य गौतम ने शरीर के मध्य भाग की संरचना सर्वप्रथम होती है, ऐसा स्वीकार किया है।

गर्भ में स्थित शिशु के रक्त, रोम और मांस का निर्माण माता के रज से होता है। हड्डी, स्नायु और मज्जा पिता के वीर्य से बनते हैं। इन छः तत्त्वों से युक्त होने के कारण ही इस स्थूलशरीर को षाट्कौषिक अर्थात् छः कोशों वाला कहा जाता है। यह शरीर ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का उपभोग पुरुष को कराने में एक माध्यम का कार्य करता है, क्योंकि केवल सूक्ष्मशरीर के माध्यम से पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि सम्भव नहीं है।

८. **प्रमाण–** सांख्य एक प्रमेय शास्त्र है और सांख्यकारिका एक प्रकरणग्रन्थ, क्योंकि यहाँ सांख्य को अभिप्रेत २५ पदार्थों की विस्तार से चर्चा की गई है। इन प्रमेय पदार्थों की सिद्धि के लिए प्रमाणों को आवश्यकता होती है (प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि)। अतः सांख्य ने केवल तीन प्रमाणों की आवश्यकता ही प्रतिपादित की है (त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्)। अलग-अलग दर्शन, प्रमाणों की भिन्न-भिन्न संख्या मानते हैं। जैसे– 'चार्वाक्' केवल 'प्रत्यक्ष' प्रमाण को मानता है। बौद्धदर्शन 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' दो प्रमाणों को मान्यता प्रदान करता है। न्याय और वैशेषिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों को मानते हैं। इसके अलावा 'मीमांसक' उक्त चार प्रमाणों के अतिरिक्त 'अर्थापत्ति' प्रमाण को भी स्वीकार करते हैं। भाट्टमीमांसक और अद्वैतवेदान्ती उक्त पाँच प्रमाणों के साथ ही 'अभाव' नामक प्रमाण को भी मान्यता प्रदान करते हैं तथा पौराणिकों ने 'सम्भव' और 'ऐतिह्य' दो अतिरिक्त प्रमाणों को स्वीकार करते हुए प्रमाणों की कुल आठ संख्या स्वीकार की है।

किन्तु सांख्य के मत में– इन्द्रियगोचर विषयों का ज्ञान 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से होता है तथा कुछ अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान 'अनुमान' प्रमाण से होता है तथा जिनका अनुमान-प्रमाण से ज्ञान नहीं होता, ऐसे अतीन्द्रिय विषय अर्थात् परोक्ष विषयों का ज्ञान शब्दप्रमाण के द्वारा हो जाता है। इसलिए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में स्थित सभी प्रकार के विषयों का ज्ञान केवल इन्हीं तीन प्रमाणों से हो जाता है, क्योंकि अन्य विद्वानों द्वारा बताए गए उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, ऐतिह्य, सम्भव

आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन में होने के कारण सांख्य अधिक प्रमाणों को मान्यता प्रदान नहीं करता है।

उक्त अतिरिक्त प्रमाणों में से 'अभाव' प्रमाण सांख्य द्वारा स्वीकृत 'प्रत्यक्ष' प्रमाण में, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, और चेष्टा का 'अनुमान' में एतिह्य और सम्भव आदि का 'शब्द' प्रमाण में सहज ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः तीन प्रमाणों से अधिक को सांख्याचार्यों ने मान्यता प्रदान नहीं की है। अब हम इन तीनों प्रमाणों का यहाँ क्रमशः उल्लेख करेंगे–

(क) **प्रत्यक्ष-प्रमाण–** शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि सांसारिक विषयों के सम्पर्क में आने पर इन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि में होने वाला 'निश्चयात्मक' ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है (प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्) 'विषयं' विषयं प्रति वर्तते', इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रियाँ ही प्रतिविषय कहलाती हैं तथा इनके माध्यम से (विषयों के सम्पर्क में आने पर) शब्दादि विषयों का जो ज्ञान होता है उसी को प्रत्यक्ष प्रमाण की श्रेणी में रखते हैं। यह ज्ञान बुद्धि के द्वारा होने के कारण निश्चयात्मक होता है। निश्चयात्मक कहने से संशय और मिथ्या दोनों प्रकार के ज्ञान का यहाँ निराकरण किया गया है।

प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में सर्वप्रथम इन्द्रियाँ विषय के सम्पर्क में आकर तदाकार से आकारित हो जाती हैं तथा इसकी सूचना मन तक पहुँचाती हैं। यह सूचना 'यह कुछ है' इस रूप में होती है। मन, संकल्प-विकल्प द्वारा इसको नाम-गुण-जाति-क्रिया आदि की योजना सहित अहंकार को अर्पित कर देता है। अहंकार 'ये मेरे हैं' अथवा 'मेरे नहीं हैं', इस प्रकार के बोध के साथ बुद्धि को प्रदान कर देता है। अन्त में बुद्धि तम का तिरोधान और सत्त्व का उद्रेक होने से उस विषय में निश्चयात्मक निर्णय करती है। यही बुद्धि का अध्यवसाय है। इसे ही सांख्य ने 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहा है।

इस प्रसङ्ग में एक शङ्का की जा सकती है कि बुद्धि तो वस्तुतः जड़ प्रकृति का परिणाम होने के कारण अचेतन है। अतः जड़ बुद्धि का परिणाम अध्यवसाय भी जड़ होना चाहिए। इसका उत्तर है कि– जड़ बुद्धि चेतन पुरुष के सर्वाधिक निकट होती है। अतः इसके ऊपर चैतन्य पुरुष का प्रकाश पड़ने से यह चेतन के समान प्रतीत होने लगती है और तभी यह विषय का ग्रहण करती है, ठीक दर्पण के समान।

**जैसे–** यदि पुरुष को दीपक (प्रकाश रूप) माने तथा बुद्धि को दर्पण स्वीकार करें तो निर्मल दर्पण में दीपक का प्रकाश पड़ने से जड़ दर्पण में भी अन्यान्य वस्तुएँ आलोकित हो उठती हैं। ठीक उसी प्रकार सात्त्विक बुद्धि में पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से बुद्धि की वृत्ति प्रकाशित हो उठती है और उससे विषयों का निश्चयात्मक-ज्ञान हमें प्राप्त होता है। यही प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसे सांख्य प्रथम प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है। दैनिक जीवन में इसका सर्वाधिक प्रयोग होता है।

(ख) **अनुमान-प्रमाण–** किसी चिह्न को देखकर वस्तु का अनुमानपूर्वक ज्ञान अनुमानप्रमाण कहलाता है (तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्)। ऐसी वस्तुएँ जो इन्द्रियों की पहुँच से बाहर होता है, का

प्रत्यक्ष ज्ञान किसी लिङ्ग अर्थात् चिह्न का सहयोग लेकर अनुमान प्रमाण द्वारा किया जाता है। इससे होने वाला ज्ञान भी तर्कपद्धति पर आधारित होने से निश्चयात्मक ही होता है। जैसे– दूर पर्वत पर धुआँ उठता देखकर कोई कहे कि यह पर्वत अग्नि वाला है। पर्वत दूर होने के कारण यद्यपि उसे अग्नि प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं दे रही है, फिर भी 'पर्वतोऽयं वह्निमान्' ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान, अनुमान प्रमाण से ही सम्भव है। इससें पञ्चावयव वाक्यों की आवश्यकता पड़ती है–

१. **प्रतिज्ञावाक्य–** यह पर्वत अग्निवाला है।

२. **हेतुवाक्य–** धूमवाला होने से।

३. **उदाहरण-वाक्य–** जो-जो धूमवाला होता है वह अग्निवाला होता है। जैसे– रसोईघर में।

४. **उपनय–** वैसा ही धूमवाला यह पर्वत भी है।

५. **निगमन–** इसलिए यह पर्वत भी वैसा अर्थात् अग्निवाला है।

यहाँ अग्नि साध्य है और धूम हेतु अर्थात् लिङ्ग।

चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी दर्शनों ने इस प्रमाण को मान्यता प्रदान की है। इसका दैनिक जीवन में अपेक्षाकृत कम प्रयोग होता है। यह तीन प्रकार का होता है (त्रिविधमनुमानमाख्यातम्) पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

(अ) **पूर्ववत्-अनुमान–** जिसमें हेतु का, विषय अथवा साध्य में व्याप्त होना पहले ही विशेष रूप से देखा जा चुका है, पूर्ववत् अनुमान कहलाता है। जैसे– धुएँ को देखकर पर्वत आदि में अग्नि का अनुमान। यहाँ साध्यरूप अग्नि और उसके हेतु रूप धुएँ का साहचर्य रसोईघर में पहले से देखकर हम विशेषरूप से निश्चयकर चुके हैं। अतः यह पूर्ववत् अनुमान हुआ।

(आ) **शेषवत्-अनुमान–** जहाँ 'साध्य' की सिद्धि केवल व्यतिरेक व्याप्ति वाले 'हेतु' द्वारा की जाए, वहाँ शेषवत् अनुमान होता है। जैसे– जीवित शरीर आत्मा से युक्त होता है, क्योंकि वह प्राणवान् है। यहाँ 'प्राणवान्' रूप हेतु– जो आत्मायुक्त नहीं है, वह प्राणवान् भी नहीं है– जैसे– घट। इस व्यतिरेक व्याप्ति से युक्त है।

क्योंकि 'जो प्राणवान् होता है, वह आत्मायुक्त होता है' इस अन्वयरूप व्याप्ति का प्रदर्शन यहाँ सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण जीवित शरीर यहाँ पक्ष हैं, जिनमें हम आत्मा को सिद्ध करना चाहते हैं। इसलिए उन्हें उदाहरण रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। अतः यह केवलव्यतिरेकि हेतु कहा जाएगा और इस प्रकार के हेतु द्वारा कराया गया निश्चयात्मकज्ञान अर्थात् साध्य की सिद्धि शेषवत् अनुमान की श्रेणी में आएगी।

(इ) **सामान्यतोदृष्ट अनुमान–** जहाँ विषय अथवा साध्य और हेतु अथवा साधन का साहचर्य पूर्ववत् अनुमान के समान विशेष रूप से (रसोई घर आदि में ही) न देखा जाकर सामान्यरूप से सर्वत्र देखा जाए, वहाँ सामान्यतो दृष्टअनुमान कहलाता है। जैसे– किसी कार्य को देखकर कारण का अनुमान।

कारण और कार्य का नित्य साहचर्य सर्वत्र देखा जाता है जैसे– घड़े रूप कार्य को देखकर उसके कारणरूप कुम्हार का अनुमान। इसी प्रकार वस्त्र को देखकर उसके निर्माता जुलाहे का अनुमान। सृष्टि को देखकर उसके स्रष्टा ईश्वर का अनुमान आदि सामान्यतोदृष्ट अनुमान की श्रेणी में आएँगे।

इनमें अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर पूर्ववत् अनुमान को 'केवलान्वयी' तथा शेषवत् अनुमान को केवलव्यतिरेकि एवं सामान्यतोदृष्ट को अन्वय-व्यतिरेकि अनुमान भी कहा जाता है।

कुछ विद्वान् इन अनुमानों को पहले वीत और अवीत दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं। पुनः वीत के पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट दो भेद तथा अवीत के अन्तर्गत केवल 'शेषवत्' अनुमान की गणना करते हैं।

(ग) **शब्दप्रमाण–** इसे 'आगम' अथवा 'आप्त प्रमाण' भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत प्रामाणिक अथवा यथार्थ बात कहने वाले व्यक्ति अथवा शास्त्रों में कहे गए वाक्य आते हैं। जिनमें किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना आदि का ज्ञान होता है। यह ज्ञान भी निश्चयात्मक होने से प्रमाण की कोटि में आता है। नास्तिक दर्शनों को छोड़कर सभी दर्शनों ने वेदों को आप्तप्रमाण की श्रेणी में रखा है। (आप्तश्रुतिः आप्तवचनं तु)।

जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही बताने वाला व्यक्ति 'आप्तपुरुष' कहलाता है। अतः आप्तव्यक्ति द्वारा कहे गए वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही आप्तश्रुति है, जो शब्दप्रमाण की कोटि में आता है। अपौरुषेय वेदवाक्यों से भी स्वतन्त्ररूप से यथार्थज्ञान होता है। अतः उसे भी शब्द या आगमप्रमाण माना गया है।

वाक्य या शब्द से उत्पन्न ज्ञान दो प्रकार का होता है–

१. स्वतःप्रमाण और २. परतःप्रमाण।

१. प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणों के सहयोग के बिना ही एकमात्र वेदवाक्य से उत्पन्न ज्ञान 'स्वतःप्रमाण' कहलाता है।

२. अपने अर्थ की पुष्टि के लिए जिसे प्रमाणान्तर की अपेक्षा हो, वह परतः प्रमाण की श्रेणी में गिना जाता है। इसके अन्तर्गत वेदमूलक स्मृतिग्रन्थ, इतिहास,, पुराण आदि आते हैं, क्योंकि ये सभी अपनी प्रामाणिकता के लिए वेदों पर आश्रित हैं।

९. **सत्कार्यवाद–** सत्कार्यवाद सांख्यदर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसके अनुसार– कार्य अपने कारण में सूक्ष्मरूप में पहले से विद्यमान रहता है। सृष्टि की स्थिति में उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है तथा विनाश की स्थिति में वह अपने कारण में ही विलीन हो जाता है। यह सिद्धान्त सम्पूर्ण सांख्यदर्शन की एक प्रकार से 'रीढ़' कहा जा सकता है, क्योंकि सांख्य इसी सिद्धान्त पर टिका हुआ है। उसके अनुसार– सृष्टि की अवस्था में कारणरूप प्रकृति से महत् आदि व्यक्त पदार्थ इसीलिए उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे अपने कारण प्रकृति में पहले से विद्यमान रहते हैं। सृष्टि उनकी अभिव्यक्ति मात्र है। प्रलय की अवस्था में प्रत्येक कार्य अपने-अपने कारण में विलीन होता रहता है तथा अन्त में सभी का मूलकारण केवल प्रकृति शेष रहती है, क्योंकि वह किसी का कार्य अर्थात् विकृति नहीं होती।

सांख्यकारिकाकार ने इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए एक कारिका में पाँच तर्कों का उल्लेख किया है—

**असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।**
**शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ ९॥**

(क) **असत्-अकरणात्–** यदि सत्कार्यवाद से सिद्धान्त को न मानें तो प्रत्येक वस्तु में असत् (अविद्यमान) वस्तु को उत्पन्न करने की क्षमता होती, किन्तु ऐसा होता नहीं है। जैसे— व्यक्ति तेल प्राप्त करने के लिए तिलों को ही लेता है, रेत को नहीं, क्योंकि वह जानता है कि रेत से असत् वस्तु तेल की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः सत्कार्यवाद का सिद्धान्त मान्य है।

(ख) **उपादान-ग्रहणात्–** किसी भी वस्तु के निर्माण के लिए उसके मूलकारण अर्थात् उपादान का ग्रहण करना आवश्यक है। जैसे— घड़ा बनाने के लिए उसका मूल-उपादान कारण मिट्टी लेना अत्यावश्यक है। उसके अभाव में घड़े का निर्माण असम्भव है। इसी प्रकार मेज बनाने के लिए लकड़ी, मकान बनाने के लिए ईंट, लोहा, सीमेन्ट आदि उभी उपादानकारण को ग्रहण किया जाता है, जिसमें उस कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता होती है, अन्य को नहीं।

इसी प्रकार दही प्राप्त करने के लिए उसका उपादानकारण दूध लेना आवश्यक है। दूध के अतिरिक्त अन्य वस्तु से दही का प्राप्त होना असम्भव है। इसका सबसे बड़ा कारण है कि दूध में दही पहले से विद्यमान है, अन्य में नहीं। इसलिए सांख्य का सत्कार्यवाद मान्य है।

(ग) **सर्व-सम्भव-अभावात्–** सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को न मानने पर प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति को मानना होगा। जैसे— तेल-रेत, चावल, गेहूँ, मिट्टी आदि सभी पदार्थों से प्राप्त होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि कारण में पहले से ही कार्य विद्यमान रहता है। इसीलिए निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य की उत्पत्ति होती है। सभी से सभी कार्यो की उत्पत्ति नहीं होती। अतः उत्पत्ति से पूर्व कार्य को कारण में 'सत्' (सत्कार्यवाद) मानना उचित है।

(घ) **शक्तस्य शक्यकरणात्–** कार्य विशेष को उत्पन्न करने की शक्ति रखने वाला (शक्त) कारण ही जिसे उत्पन्न करने की कारण में शक्ति है, उस (शक्य) कार्य को उत्पन्न करता है। जैसे— तिलों में ही तेल उत्पन्न करने की शक्ति है, बालू में नहीं। अतः तेल रूप कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति वाला कारण— 'तिल'— शक्त-कारण हुआ और वह तेल रूप शक्य कार्य को ही उत्पन्न करता है।

इस सिद्धान्त को न मानने पर एक ही वस्तु से असम्बद्ध अनेक वस्तुओं की उत्पत्ति माननी होगी, किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः कारण और कार्य में शक्त और शक्य के सम्बन्ध को स्वीकार करने के कारण सत्कार्यवाद का सिद्धान्त मान्य है।

(ङ) **कारण-भावात्–** कारण से अलग होकर कार्य उसी का एक रूप होता है, क्योंकि कार्य ही अविकसित रूप में कारण है तथा कारण ही विकसित रूप में कार्य है। यही कारण है कि कारण के गुण कार्य में विद्यमान रहते हैं। जैसे— मूल प्रकृति में सुख-दुःख-मोहात्मक सत्त्व,

रजस् और तमस् तीन गुण विद्यमान रहते हैं। इसीलिए उससे उत्पन्न होने वाले व्यक्त जगत् में ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं, क्योंकि जगत् के सभी पदार्थ सुख-दुःख मोहात्मक होते हैं।

वस्तुतः कारण और कार्य परस्पर सापेक्ष हैं। किसी को कार्य तभी कहा जाता है, जब उसका कोई कारण होता है तथा कारण की अपेक्षा से ही उसे कार्य माना जाता है। इन्हें एक ही वस्तु के दो पहलू (रूप) भी कह सकते हैं। इसलिए सत्कार्यवाद का सिद्धान्त मान्य है।

१०. **पुरुष-बहुत्व**– सृष्टि की अवस्था में सांख्य अनेक पुरुषों के अस्तित्व को स्वीकार करता है, यही सांख्य का 'पुरुष-बहुत्व' का सिद्धान्त कहलाता है। इसके अनुसार जितने जीव हैं उतने ही पुरुष होते हैं। यही कारण है कि उनका जन्म एवं मरण एक साथ नहीं होता है। इनका बोलना, चलना, ग्रहण करना आदि क्रियाएँ भी एक साथ नहीं होती हैं। यदि पुरुष एक होता तो ये सभी बातें सभी में एक साथ दिखाई देनी चाहिएँ थीं, किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः पुरुषों की संख्या एक नहीं अनेक माननी चाहिए–

**जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।**
**पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥ १८॥**

जो विविधताएँ हमें दृष्टिगोचर होती हैं, उसका सबसे बड़ा कारण प्रत्येक जीव में सत्त्व, रजस् और तमोगुण का अलग-अलग अनुपात में नियोजन है। हमें पुरुषबहुत्व के सिद्धान्त को इसलिए भी स्वीकार करना होगा, क्योंकि अनेक जीवों के मुक्त हो जाने पर भी इस समय अनेक जीव बद्धरूप में इस संसार में विराजमान हैं। अतः उनकी संख्या एक नहीं, अपितु अनन्त है।

इस प्रसङ्ग में यह शङ्का अत्यन्त स्वाभाविक है कि सांख्य तो मूलतः एक पुरुष और एक प्रकृति को स्वीकार करता है फिर यह पुरुष बहुत्व की बात क्यों? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि सांख्य में दो प्रकार के पुरुषों की कल्पना की गई है– बद्धपुरुष और मुक्तपुरुष।

प्रत्येक पुरुष सामान्यरूप से अनादिकाल से बद्ध है, किन्तु शास्त्रज्ञान आदि के परिणामस्वरूप वह मुक्त हो जाता है। अतः पुरुषबहुत्व की कल्पना बद्धपुरुष के विषय में चरितार्थ होती है, मुक्तपुरुष के विषय में नहीं। सम्पूर्ण संसार की सृष्टि के मूलकारण प्रकृति का संयोग भी बद्धपुरुष के साथ ही होता है, मुक्त से नहीं।

प्रलयकाल की अवस्था में कोई भी बद्धपुरुष शेष नहीं रहता, अपितु एक मात्र चेतन, साक्षीस्वरूप, तेजोरूप एक पुरुष ही बचता है। सृष्टि की स्थिति में ज्ञान के अनन्तर मुक्तपुरुष भी इसी तेजोमयरूप सम्पन्न चेतनपुरुष में लीन हो जाते हैं, और बद्धपुरुष संसार में संसरण करते रहते हैं।

प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का मुख्य प्रयोजन भी पुरुष को कैवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कराना है। अतः सांख्य का पुरुषबहुत्व का सिद्धान्त बद्धपुरुष के ऊपर लागू होता है, मुक्त पर नहीं।

११. **बन्धन**– सांख्य मुख्यरूप से दो तत्त्वों को मान्यता प्रदान करता है– पुरुष और प्रकृति। पुरुष-निर्गुण, निष्क्रिय, देश, काल आदि के बन्धनों से रहित पूर्णतया शुद्धचैतन्यस्वरूप

है। वह तो केवल द्रष्टा मात्र होता है। जबकि गुण, क्रिया आदि का सम्बन्ध प्रकृति से होता है। धर्म-अधर्म आदि बुद्धि के धर्म ही मनुष्य को कार्यों में प्रवृत्त करते हैं। इस कारण सुख दुःख आदि भी बुद्धि के धर्म हैं, आत्मारूप पुरुष के नहीं। वह तो इन सबसे पूर्णतया मुक्त, नित्य एवं एकरस होता है।

किन्तु जब यह पुरुष 'अज्ञान' के कारण बुद्धि आदि से स्वयं को अलग नहीं मानता, उसके सभी धर्मों को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है। यही 'अज्ञान' अथवा 'अविवेक' ही उसके बन्धन का कारण बनता है।

प्रकृति जड़ है अतः उससे उत्पन्न होने वाली 'बुद्धि' का भी जड़ होना स्वाभाविक है। इसके विपरीत पुरुष चेतन है, निःसङ्ग है, किन्तु स्वभाववश वह प्रकृति के सभी धर्मों को अपना ही समझता है। बुद्धि जो भी सुख अथवा दुःख अनुभव करती है, उस सबको पुरुष स्वयं के ऊपर ले लेता है, अपने मान लेता है। अतः स्वयं को ही सुखी अथवा दुःखी मानता है।

ठीक उसी प्रकार जैसे कोई स्वामी अपने सेवक के अपमान को अपना मानता है। पिता, पुत्र के सम्मानित होने पर स्वयं को सम्मानित अनुभव करता है। बस यही अज्ञान पुरुष के बन्धन का कारण है। यों तो सांख्य की दृष्टि में वस्तुतः पुरुष का बन्धन होता ही नहीं है। अतः उसका मोक्ष भी कैसे सम्भव है, क्योंकि बन्धन, मोक्ष अथवा संसरण तो प्रकृति का ही होता है, जिसका कारिकाकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है—

**तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।**

**संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ ६२॥**

यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति स्वयं के सात रूपों— धर्म-अधर्म अज्ञान, राग-विराग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, के द्वारा स्वयं का ही बन्धन करती है—

**रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः॥ ६३॥**

प्रकृति के इन सात रूपों में भी 'अज्ञान' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। इसी कारण एकमात्र ज्ञान के द्वारा प्रकृति सभी बन्धनों से मुक्त हो जाती है, (सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण)।

सांख्य की इस बन्धन-प्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार भी समझा जा सकता है— सृष्टि का मुख्य प्रयोजन भोग एवं अपवर्ग की सिद्धि है, क्योंकि सम्पूर्ण सांख्य में भोग एवं अपवर्ग इन दो को ही पुरुषार्थ माना गया है। इनमें भी भोग, अपवर्ग का साधन है। जिसकी सिद्धि के लिए सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्येक जीव के लिए अलग-अलग सूक्ष्मशरीर की व्यवस्था की गई है तथा प्रत्येक सूक्ष्मशरीर के साथ समुद्र की बूँद के समान पुरुषरूप समुद्र का एक अंश विद्यमान रहता है। सूक्ष्मशरीर में यों तो १८ तत्त्व सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहते हैं, किन्तु प्रधानता बुद्धितत्त्व की होती है। यह बुद्धि अपने धर्म-अधर्म आदि आठ भावों से युक्त होती है तथा पुरुष के साथ इतनी अधिक जुड़ी होती है कि उसका चैतन्य इसमें आभासित होता है और यह जड़ होते हुए भी चेतनवत् प्रतीत होती है। पुरुष भी इसके द्वारा किए गए प्रत्येक कार्य को अज्ञानवश अपना मानता है।

पुरुष से अधिष्ठित यही सूक्ष्मशरीर भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए बुद्धि के धर्म-अधर्म आदि भावों के अनुसार विभिन्न योनियों में स्थूलशरीर धारण कर भोगादि सम्पन्न करता है और पुरुष अज्ञानवश उन्हें अपने मान लेता है। जिससे उन कर्मों से होने वाला पाप-पुण्य आदि का पुरुष द्रष्टा न होकर भोक्ता हो जाता है, जिनके भोग के लिए वह अग्रिम जन्म में पुनः किसी योनि में स्थूलशरीर धारण करके पूर्वजन्म में किए कर्मफल को भोगता है तथा अग्रिम जन्म के लिए अनेक कर्मों को करता है। यह प्रक्रिया अनेक जन्मों तक प्रलयकाल पर्यन्त चलती रहती है।

इस प्रकार इस सम्पूर्ण बन्धनप्रक्रिया के मूल में पुरुष का यही अज्ञान रहता है कि वह सूक्ष्मशरीर के रूप में स्थित प्रकृति के सभी कर्मों एवं कर्म-फलों को अपना मानता रहता है। जबकि वे सब उसके होते नहीं हैं। इसी कारण उसे एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना पड़ता है और वह मुक्त नहीं होता। प्रलयावस्था अथवा ज्ञान ही उसकी मुक्ति का कारण होता है। जिसका आगे उल्लेख किया जा रहा है।

१२. **मोक्ष (कैवल्य)**– अभी हमने बताया कि बन्धन एवं मोक्ष जो प्रत्यक्षतः पुरुष के प्रतीत होते हैं, पुरुष के नहीं होते, अपितु जडात्मिका प्रकृति के होते हैं (संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः) पुरुष तो प्रकृति के बन्धन और मोक्ष की लीला का द्रष्टामात्र होता है। इसी कारण उसे साक्षी भी कहा जाता है। प्रकृति हीं अपने कार्य बुद्धि के सात धर्मो— अज्ञान, धर्म-अधर्म, राग-विराग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य के द्वारा स्वयं का बन्धन करती है और बुद्धि के ही 'ज्ञान' नामक धर्म से स्वयं को मुक्त कर लेती है।

वस्तुतः प्रकृति और पुरुष दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। इस प्रकार सद्गुरु के निर्देश एवं शास्त्र के निरन्तर चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन आदि द्वारा व्यक्ति में एक प्रकार का बोध, (ज्ञान) जाग्रत होता है, जिससे उसे व्यक्त (महत् आदि २३ पदार्थ), अव्यक्त (प्रकृति) और ज्ञ (पुरुष) की अलग-अलग प्रतीति होती है।

वह समझ लेता है कि क्रियाशीलता गुणों में है, पुरुष में नहीं। उसकी अधिष्ठात्री प्रकृति है, पुरुष नहीं। बुद्धि, अहंकार और मनसहित त्रयोदश अन्तःकरण प्रकृति के हैं, मेरे नहीं। संशय एवं मिथ्याज्ञान से रहित यह सम्यक्ज्ञान ही पुरुष के कैवल्य का कारण है।

इस सम्यक्ज्ञान के जाग्रत होने पर पुरुष प्रकृति के सम्पूर्ण क्रियाकलापों को कमल के पत्ते पर पड़ी बूँद के समान पूर्णतया असम्पृक्त होकर देखता रहता है। जिसे कारिकाकार ने प्रेक्षक के समान कहा है–

**प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः सुस्थः॥६५॥**

परिणामस्वरूप उस पुरुष के प्रति प्रकृति के क्रियाकलाप समाप्त हो जाते हैं। उसके सामने प्रकृति का केवल ज्ञानात्मक स्वरूप ही शेष रहता है। पुरुष का यह दर्शन ही वस्तुतः विवेक है, ज्ञान है अथवा सम्यक्ज्ञान है, जिसके उत्पन्न होने पर सृष्टि की कोई उपयोगिता नहीं रहती है और प्रकृति भी इसके समक्ष यह सोचकर अपने प्रपञ्च का विस्तार नहीं करती कि इसके द्वारा मैं देख ली गई हूँ। अतः उससे विरत हो जाती है।

सम्यक्ज्ञान होने के पश्चात् व्यक्ति को धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य आदि सात्त्विकभावों की प्राप्ति अनायास ही हो जाती है, किन्तु वह (षाट्कौशिक) स्थूलशरीर को पूर्वजन्मों के कर्मों के संस्कारवश उसी प्रकार धारण किए रहता है। जैसे– कुम्हार के द्वारा चलाया गया चाक, चलाना बन्द कर देने पर भी स्वतः ही चलता रहता है। इस अवस्था में व्यक्ति 'जीवनमुक्त' कहलाता है। वह दैनिक क्रियाओं को करता हुआ भी उनसे पूर्णतया असम्पृक्त रहता है।

पुनः प्रारब्ध कर्मों के भोगों के अनन्तर इसके षाट्कौशिक शरीर के पात हो जाने पर इसे ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक मुक्ति मिल जाती है। इसका सूक्ष्म शरीर भुने हुए बीज के समान पुनः संस्काररूप अङ्कुरों के उत्पादन में समर्थ नहीं होता। परिणामस्वरूप ज्ञान की अग्नि में जल कर नष्ट हो जाता है। बिन्दुरूप पुरुष अपने समुद्र स्वरूप विराट अंश में विलीन हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उसका पुनर्जन्म अथवा लोक-लोकान्तर में संसरण नहीं होता। यही सांख्य की कैवल्य अवस्था अथवा मोक्ष है जिसे कारिकाकार ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है–

**प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।**
**ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥ ६८॥**

श्री गणेशाय नमः

श्री ईश्वरकृष्णविरचिता

# सांख्यकारिका

**दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।**
**दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्॥ १॥**

**पदच्छेद–** (दुखत्रय आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) अभिघातात् (प्रहार से) जिज्ञासा (उत्सुकता) तत् (उस दुःख के) अपघातके (नाश करने वाले) हेतौ (कारण में)। दृष्टे (लौकिक उपायों के उपस्थित होने से) सा (वह शास्त्र-विषयक जिज्ञासा) अपार्था (व्यर्थ है) चेत् (यदि) न (तो ठीक नहीं) एकान्त (निश्चित रूप से) अत्यन्ततः (हमेशा के लिए, सार्वकालिक) अभावात् (अभाव होने से)।

**अन्वय–** दुःखत्रय-अभिघातात् तत् अपघातके हेतौ जिज्ञासा (भवति) दृष्टे, चेत् सा (जिाज्ञासा) अपार्था,एकान्त-अत्यन्ततः अभावात् न।

**अनुवाद–** तीन प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक) द्वारा किए गए प्रहार के कारण उनके विनाश करने वाले कारण के सम्बन्ध में जिज्ञासा (अत्यन्त स्वाभाविक होती है)। (यदि कहा जाए कि) प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले उपायों के होने से वह शास्त्रविषयक (उत्सुकता) व्यर्थ है तो (ऐसा कहना) दुःखों के अनिवार्य रूप से, हमेशा के लिए समाप्त न होने से (उचित) नहीं है।

**व्याख्या–** ग्रन्थकार आचार्य ईश्वरकृष्ण अपने सांख्यग्रन्थ का प्रारम्भ करने ज़ा रहे हैं, किन्तु तभी उनके मन में एक विचार आता है कि मैं इस ग्रन्थ की रचना करने जा रहा हूँ लोग इस ग्रन्थ को क्यों पढ़ेंगे? क्योंकि कोई मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी प्रयोजन के बिना किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है (प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्तते) इसी शङ्का का समाधान उन्होंने कारिका की प्रथम पङ्क्ति में किया है। जिसके अनुसार–

इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि इस संसार में दुःख है, क्योंकि हम दैनिक जीवन में प्रायः उसका अनुभव करते रहते हैं। इसलिए ग्रन्थकार ने उसके अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया। हाँ उसकी संख्या का अवश्य उल्लेख किया और कहा कि वह दुःख तीन प्रकार का होता है– १. आध्यात्मिक– वह दुःख जिसका आन्तरिक तत्त्वों से सम्बन्ध है। जो दो प्रकार का होता है (क) शारीरिक (ख) मानसिक।

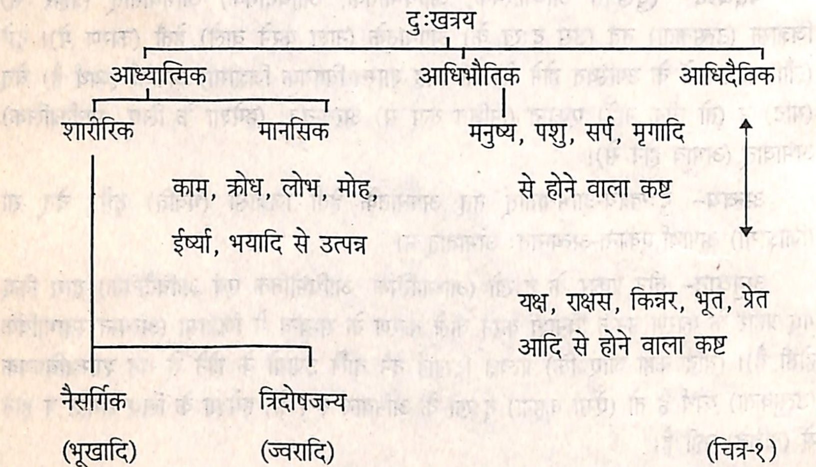
(क) जो शरीर के प्रमुख तत्त्व वात, पित्त और कफ की विषमता के कारण उत्पन्न होता है, शारीरिक दुःख कहलाता है। जैसे– बुखारादि। यह भी दो प्रकार का होता है– (अ) नैसर्गिक (भूखादि) (ब) त्रिदोषजन्य (ज्वरादि) (ख) काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय और ईर्ष्या आदि भावों

के कारण उत्पन्न होने वाला दुःख मानसिक कहलाता है। इसीप्रकार किसी अभिलषित वस्तु के प्राप्त न होने की स्थिति में होने वाला कष्ट मानसिक दुःख की श्रेणी में रखा जाएगा।

२. **आधिभौतिक–** बाह्यकारणों अथवा पदार्थों जिन्हें हम देख सकते हैं, से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिभौतिक कहलाता है। जैसे– किसी पशु, पक्षी, सर्प, मनुष्यादि पदार्थों से उत्पन्न दुःख अथवा कष्ट।

३. **आधिदैविक–** प्रत्यक्ष दिखाई न देने वाली देवयोनियों जैसे– यक्ष, राक्षस, किन्नर, ग्रहादि के दुष्प्रभाव से होने वाला कष्ट, आधिदैविक कहलाता है।

दुःख-त्रय के विस्तार को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–




(चित्र-१)

इस पर प्रतिपक्षी शङ्का करता है कि मान लिया दुःख का अस्तित्व है भी, किन्तु उसे दूर करने की यदि किसी को इच्छा ही न हो तो आपका यह शास्त्रलेखन रूप परिश्रम व्यर्थ होगा, इसपर ग्रन्थकार उसका केवल इतना ही उत्तर देते हैं कि दुःख की अनुभूति होने की स्थिति में व्यक्ति की उसे दूर करने के कारण के प्रति जिज्ञासा होना अत्यन्त स्वाभाविक है। अतः वह अवश्य होगी।

**जैसे–** माना कोई सर्प हमारी ओर आ रहा है और हमारी चेतना विद्यमान है तो हम उससे होने वाली हानि के विषय में सोचकर अवश्य ही उससे बचने का प्रयास करेंगे।

ग्रन्थकार, पुनः प्रतिपक्षी को ओर से शंका प्रस्तुत करते हैं– माना दुःख है भी और उसका विनाश करने वाले हेतु को प्रति जिज्ञासा भी होगी, किन्तु यह आवश्यक तो नहीं कि उन दुःखों के विनाश के लिए व्यक्ति आपके शास्त्र का ही अध्ययन करे, क्योंकि यदि एक ही दुःख को दूर करने के लिए कठिन और सरल दो उपाय हों तो व्यक्ति कठिन की अपेक्षा सरल उपाय को करना अधिक पसन्द करेगा। यदि घर के कोने में ही व्यक्ति को शहद की प्राप्ति हो जाए तो उसे प्राप्त करने के लिए वह पर्वत पर जाने की जोखिम क्यों उठाएगा?

**अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।**

**इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्॥**

इसीलिए उन दुःखों को दूर करने के सरल लौकिक उपायों के होने से आपके शास्त्र के प्रति व्यक्ति की जिज्ञासा क्यों होगी? क्योंकि शास्त्रों में कहा गया मार्ग, ज्ञानमार्ग सामान्यबुद्धि व्यक्ति के लिए जटिल होने से अगम्य है।

इसी शङ्का के उत्तर में ग्रन्थकार ने कारिका के उत्तरार्द्ध की संरचना की। लौकिक उपायों के रहते यदि शास्त्र के प्रति जिज्ञासा व्यर्थ कही जाए तो वह उचित नहीं है, क्योंकि लौकिक उपायों के द्वारा दुःखों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव नहीं है। इसलिए दुःखों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए व्यक्ति को इस शास्त्र का अवश्य अध्ययन करना होगा।

यहाँ प्रयुक्त ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक दोनों पारिभाषिक शब्द हैं। अतः व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं।

(क) **ऐकान्तिक–** से अभिप्राय है, दुखः का अनिवार्य रूप से नष्ट होना। अर्थात् जब हम किसी दुःख को दूर करने का उपाय करें तो हमें निश्चयपूर्वक विश्वास होना चाहिए कि इस उपाय से यह दुःख अवश्य ही दूर हो जाएगा, अथवा यों कहें कि यह उपाय इस दुःख को दूर करने में पूर्णतया सक्षम है, ऐसा निश्चय होना। जैसे– यदि कोई व्यक्ति बुखार को दूर करने की औषधि लेता है तो उसे यह निश्चय तो होना ही चाहिए कि यह औषधि बुखार दूर करने में पूर्णतया सक्षम है। यही है उसका ऐकान्तिक स्वरूप।

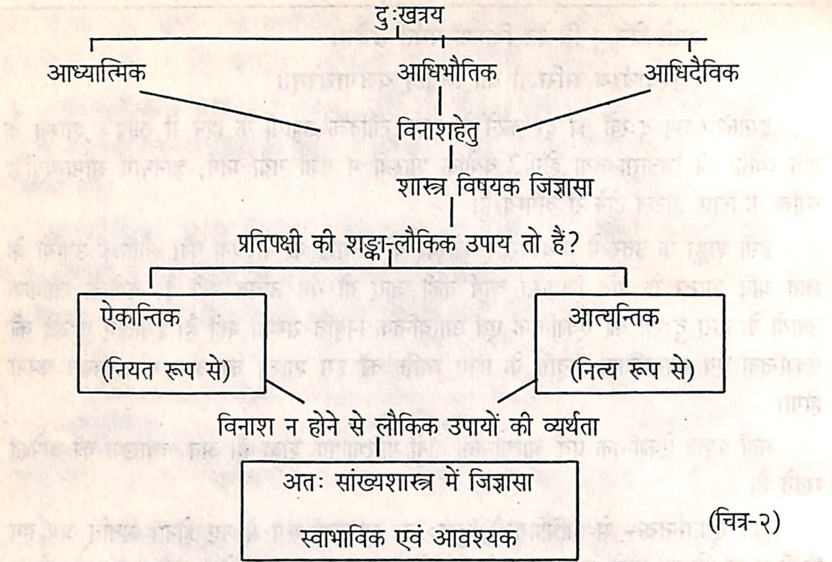
(ख) **आत्यन्तिक–** अर्थात् उसका हमेशा के लिए समाप्त होना। यदि उपाय का प्रयोग करने से दुःख दूर हो जाता है तो भी हमें इस बात का विश्वास होना चाहिए कि यह दुःख फिर से उत्पन्न नहीं होगा अर्थात् यह हमेशा के लिए समाप्त हो गया।

इसप्रकार यदि इन दोनों शब्दों के अर्थ को संक्षेप में कहा जाए तो कहना होगा– एकान्त का अर्थ है– निश्चित रूप से तथा अत्यन्त का अर्थ है– उसका फिर से उत्पन्न न होना।

दुःख को दूर करने के लौकिक उपायों के द्वारा उनका निश्चित रूप से विनाश होगा, यह अनिवार्य नहीं है और साथ ही यह भी निश्चित नहीं कि उस उपाय से पुनः दुःख होगा ही नहीं। जैसे– माना कि कोई व्यक्ति बुखार की औषधि लेता है तो उससे आवश्यक नहीं कि बुखार अवश्य दूर होगा, साथ ही यह भी अनिवार्यता नहीं है कि बुखार फिर से नहीं आएगा। यह हुआ उसका ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक रूप से नष्ट न होना।

अतः प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले लौकिक उपायों के द्वारा दुःखों की ऐकान्निक (अनिवार्य रूप से) एवं आत्यन्तिक (सार्वकालिक रूप से) निवृत्ति नहीं होती। अतः लौकिक उपाय व्यर्थ हैं। इसलिए दुःखों से हमेशा के लिए निश्चयपूर्वक छुटकारा पाने के लिए आपको हमारे सांख्यशास्त्र में जिज्ञासा अवश्य करनी होगी।

प्रस्तुत कारिका के भाव को इसप्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है–



(चित्र-२)

**विशेष–** १. प्रस्तुत कारिका की भाषा सरल, प्रसादगुणयुक्त, अर्थगाम्भीर्य सम्पन्न प्रयुक्त हुई है। सूत्रात्मकशैली का उत्कृष्ट उदाहरण है।

२. शारीरिक दुःख को उत्तम चिकित्सकों के द्वारा बताई गई उत्तम औषधि द्वारा, मानसिक दुःख को स्त्री, पान, भोजन, लेपन, वस्त्र, आभूषण आदि भोग पदार्थों के द्वारा, आधिभौतिक दुखः को नीतिशास्त्र का प्रयोग व्यावहारिकता एवं सुरक्षित स्थान पर निवास आदि द्वारा तथा आधिदैविक दुःख को मणि, मन्त्र तथा औषधि के प्रयोग से दूर किया जा सकता है, किन्तु इन साधनों से दुःखों का नियत और नित्य रूप से नष्ट होना सम्भव नहीं है।

३. प्रस्तुत कारिका के आरम्भ में अमङ्गलसूचक दुःख शब्द के प्रयोग से अनौचित्य की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यहाँ दुःख का विनाश अभिप्रेत होने से यह मंगलवाची ही है। अतः भारतीयपरम्परा का निर्वाह करते हुए ग्रन्थकार ने यह कारिका मंगलाचरण के रूप में प्रयुक्त की है।

४. प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार ने सांख्यकारिका ग्रन्थ के लेखन के प्रयोजन का उल्लेख किया है।

५. कारिका में प्रयुक्त 'अपघातके' पद के स्थान पर 'जयमङ्गला' टीकाकार ने 'अवघातके' पाठ स्वीकार किया है तथा आचार्य गौडपाद यहाँ 'अभिघातके' पाठ मानते हैं, किन्तु तत्त्वकौमुदीकार ने 'अपघातके' पाठ को मान्यता प्रदान की है।

६. भारतीयदर्शन की विशेषता है कि यहाँ ग्रन्थकार अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन से पूर्व उस सम्बन्ध में होने वाली शङ्का को प्रस्तुत करके स्वयं ही उसका निवारण करते हैं। ऐसा ही प्रस्तुत कारिका में भी किया गया है।

७. प्रस्तुत शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय प्रकृति एवं पुरुष के विवेक ज्ञान से ही दुःख की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव है, ऐसा व्यञ्जना से अभिप्राय अभिव्यक्त हो रहा है।

८. दुःख दूर करने के लौकिक उपायों की अपेक्षा शास्त्रज्ञानरूप उपाय की श्रेष्ठता प्रतिपादन में तर्कबुद्धि का आश्रय लिया गया है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति थोड़ा कष्ट अधिक भले ही हो, किन्तु दुःख की अनिवार्य एवं नित्यरूप से निवृत्ति हो, इसी बात को अधिक पसन्द करेगा।

९. यह सम्पूर्ण ग्रन्थ आर्या छन्द में निषद्ध है। जिसके प्रथम एवं तृतीय पाद में बारह मात्राएँ, द्वितीय पाद में अट्ठारह तथा चतुर्थ में पन्द्रह मात्राएँ होती है—

**यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।**
**अष्टादश द्वितीये चतुर्थे पञ्चदश सार्या॥**

**अवतरणिका–** इसप्रकार लौकिक उपायों की निरर्थकता का प्रतिपादन करने के बाद, वेदोक्त उपायों को भी दोषयुक्त प्रतिपादित करते हुए सांख्यशास्त्र में बताए गए तत्त्वज्ञान की उपादेयता प्रतिपादित करते हुए ग्रन्थकार प्रस्तुत कारिका का उल्लेख करते हैं—

**दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।**
**तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥ २॥**

**पदच्छेद–** दृष्टवत् (लौकिक उपायों के समान), आनुश्रविकः (वेदोक्त उपाय) सः हि (भी) अविशुद्धि (पूर्णतया दोषमुक्त) क्षय (क्षरणशील) अतिशययुक्तः (न्यूनाधिक्य रूप विषमता दोष से युक्त है)। तत् विपरीतः (उसके विपरीत) श्रेयान् (श्रेयष्कर है) व्यक्त (कार्य) अव्यक्त (कारणरूप प्रकृति) ज्ञ (चित्रूप पुरुष के) विज्ञानात् विवेकज्ञान से)।

**अन्वय–** अविशुद्धि-क्षय-अतिशययुक्तः सः आनुश्रविकः (उपायः अपि) दृष्टवत् हि। तत् विपरीतः व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ-विज्ञानात् श्रेयान् भवति।

**अनुवाद–** अशुद्धिक्षय (एवं) अतिशयता से युक्त वह वेदोक्त (उपाय भी) लौकिक उपायों के समान ही (दुःखों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति में समर्थ नहीं है।) उस (वैदिक उपाय) के विपरीत व्यक्त (महदादि विकार), अव्यक्त (प्रकृति) और पुरुष के विशेष ज्ञान (रूप उपाय) से (दुःख निवृत्ति) अधिक उत्तम होती है।

**व्याख्या–** प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले लौकिक उपायों के समान ही वेद में बताए गए उपाय भी अशुद्धि, क्षय एवं अतिशयता आदि दोषों से युक्त होने के कारण दुःखों की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति में समर्थ न होने से त्याज्य हैं। यहाँ प्रयुक्त वेदोक्त उपाय एवं उनमें बताए गए दोष व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं—

**वेदोक्त उपाय–** श्रुति में कहा गया है— 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामोयजेत्' अर्थात् स्वर्ग को प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति ज्योतिष्टोम याग करे। इसप्रकार स्वर्ग-प्राप्ति से दुःख-निवृत्ति सम्भव है, किन्तु यागादि करते समय भी जाने अन्जाने कुछ हिंसा आदि सम्भव है, उन दोषों का भी मनुष्य को पाप के रूप में भोगना अनिवार्य है। अतः यह उपाय निरापद नहीं है।

(क) **अविशुद्धि–** सामान्य यज्ञ करने पर ही अनेक जीवों की हिंसा होती है। यद्यपि 'वैदिकीहिंसा, हिंसा न भवति' श्रुतिवाक्य है, पुनरपि उससे होने वाले अल्पाल्प पाप के फल को तो भोगना ही होगा। अतः बड़े-बड़े यागों से प्राप्त होने वाले स्वर्गादि को भी पूर्णतया दोषरहित नहीं कहा जा सकता। अतः वेदोक्त उपाय दुःखों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति में समर्थ नहीं हैं। इसलिए ग्राह्य नहीं हैं।

(ख) **क्षय–** इसीप्रकार 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता १/२१) आदि वाक्यों के अनुसार व्यक्ति पुण्यों के नष्ट होने पर पुनः मृत्युलोक में जन्म लेता है। इसलिए वेदोक्त उपायों से प्राप्त होने वाले स्वर्गादि की प्राप्ति एवं स्थिति भी मात्र पुण्यों की स्थिति तक है। अतः क्षरणशील होने के कारण इन उपायों से भी दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव नहीं है। इसलिए वेदोक्त उपाय भी लौकिक उपायों के समान अग्राह्य हैं।

(ग) **अतिशयता–** वेदोक्त उपायों से प्राप्त होने वाला फल कम या मात्रा में अधिक होने के कारण अतिशयता से युक्त होने से पूर्णतया दुःखरहित होना सम्भव नहीं है। अतः त्याज्य है। जैसे– ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करने से व्यक्ति को स्वर्ग-प्राप्ति होती है, किन्तु वाजपेय याग से इन्द्रत्व मिलता है। अतः सामान्य या कम फल वाले व्यक्ति को उत्कृष्ट फल वाले के उत्कर्ष को देखकर अत्यन्त स्वाभाविक रूप से दुःख होना होगा। ऐसी स्थिति में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति वेदोक्त उपायों से किसप्रकार सम्भव है?

इसलिए वेदोक्त उपाय भी लौकिक उपायों के समान ही पूर्णतया निर्दुष्ट न होने से ग्राह्य नहीं है। इसके विपरीत अर्थात् पूर्णतया शुद्ध क्षयादि दोषों से रहित सांख्यशास्त्र द्वारा बताया गया व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ इन तीनों का तत्त्वज्ञान रूप उपाय ही सर्वोत्कृष्ट है। अतः ग्राह्य है। यहाँ प्रयुक्त व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ ये तीनों सांख्यशास्त्र के प्रमुख तत्त्व हैं। अतः व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। सांख्यशास्त्र के कुल २५ तत्त्वों का इन तीनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

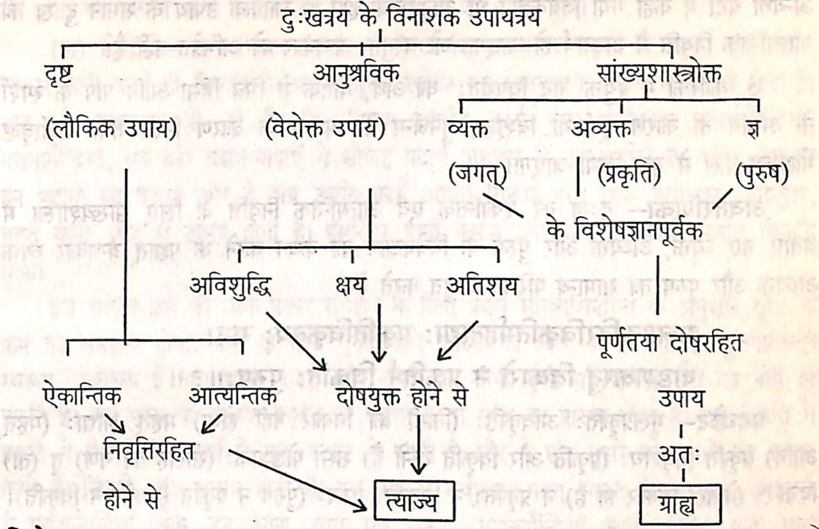
१. **व्यक्त–** यहाँ प्रयुक्त व्यक्त पद से अभिप्राय प्रकृति से उत्पन्न महत् (बुद्धि) अहङ्कार, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, मन, पञ्चतन्मात्राएँ और पञ्चमहाभूत आदि २३ तत्त्वों से है।

२. **अव्यक्त–** सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, जिसको यहाँ अव्यक्त कहा गया है। सांख्यशास्त्र में इसे नित्य माना गया है तथा सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति इसी से बतायी गई है। यह स्वयं में जडात्मिका है, किन्तु पुरुष का प्रकाश इस पर पड़ने से इसमें स्थित गुणों में गति पैदा हो जाती है। जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है।

३. **ज्ञ–** इसी का दूसरा नाम सांख्यशास्त्र के अनुसार पुरुष भी है। यह तेजोरूप है, नित्य है। सांख्य, पुरुष एवं प्रकृति दोनों को ही नित्य मानता है। शेष सभी कुछ अनित्य है। यह शास्त्र पुरुषबहुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी उसे प्रलयावस्था में एक ही स्वीकार करता है। 'जानाति, इति ज्ञ' व्युत्पत्ति के अनुसार यह 'ज्ञ' ज्ञानस्वरूप है।

इसप्रकार लौकिक उपाय एवं वेदोक्त उपायों की अपेक्षा पूर्णतया दोषरहित होने एवं दुःखों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए व्यक्त, प्रकृति तथा पुरुष इन तीनों का विवेक अर्थात् भेदपूर्वक ज्ञान सर्वोष्कृष्ट एवं कल्याणों को देने वाला है। जो सांख्यशास्त्र के अध्ययन से ही सम्भव है।

प्रस्तुत कारिका के अभिप्राय इसप्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है—




(चित्र-३)

**विशेष**

१. **दृष्टवत्**– 'दृष्टेन तुल्यो वर्तते' अर्थ में 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति' इत्यादि पाणिनि सूत्र से 'वति' प्रत्यय होकर 'दृष्टवत्' शब्द बनता है, जिसका अभिप्राय लौकिक उपाय की समानता से है।

२. अनुश्रूयते पारम्पर्येण इत्यनुश्रवो वेदः— आनुश्रवः (अनु +√ श्रु + अप्) तत्र भवः अर्थ में तद्धित 'ठञ्' प्रत्यय = आनुश्रविकः। अनुश्रव वेद को कहते हैं, क्योंकि ये गुरु परम्परा से सुने जाते रहे हैं, कोई इसकी रचना नहीं करता है। अनुश्रव अर्थात् श्रुति में समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय आ जाता है।

३. प्रस्तुत कारिका में दुःख दूर करने के लौकिक एवं वेदोक्यत उपायों की अनुपयोगिता प्रतिपादित करके सांख्यशास्त्रोक्त उपाय तत्त्वज्ञान की सार्थकता सिद्ध की गयी है।

४. कारिका में प्रयुक्त 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ' में द्वन्द्व समास होने के कारण 'ज्ञ' पद का प्रयोग, सर्वाधिक कम स्वर वर्ण होने के कारण सबसे पहले किया जाना चाहिए था, किन्तु वर्तमान क्रम का विशेष प्रयोजन हैं कि व्यक्त पदार्थों के ज्ञान के अभाव में अव्यक्त का तथा उसके अभाव में पुरुष का बोध सम्भव नहीं है। अतः सबसे पहले हमें इस व्यक्त जगत् को समझना चाहिए, उसके बाद ही उसके मूलकारण अव्यक्त प्रकृति को समझ सकते हैं और जिसके मात्र निकट होने से प्रकृति सृष्टिरूप कार्य में संलग्न हो जाती है। उस ज्ञानस्वरूप पुरुष को उसके बाद ही समझा जा सकता है और यही परमज्ञान है। जिसे जानकर व्यक्ति के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। सांख्यसूत्र में भी इनका इसी क्रम से निरूपण किया गया है।

५. श्रीमद्भागवत में भी लौकिक उपाय के समान ही वैदिक उपायों को भी अनेक दोषों से युक्त कहा गया है— 'श्रुतं च दृष्टवद् दुष्टं' (११/१०/११)

६. कारिका में प्रयुक्त 'आनुश्रविक' पद को कर्मकाण्डपरक अर्थ में प्रयुक्त मानना उचित है, अन्यथा वेदों में कहा गया विवेकज्ञान भी आनुश्रविक होने से लौकिक उपाय के समान दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति में असमर्थ हो जाएगा। जो वस्तुतः ग्रन्थकार को अभिप्रेत नहीं है।

७. कारिका में प्रयुक्त 'तद् विपरीतः' का अर्थ, वैदिक से भिन्न हिंसा आदि पाप के स्पर्श के अभाव के कारण पूर्णतया विशुद्ध, पुनर्जन्म के अभाव के कारण नित्य तथा सर्वोत्कृष्ट मोक्षरूप फल से युक्त किया जाएगा।

**अवतरणिका–** दुःख की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए सांख्यशास्त्र में बताए गए व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष के विवेकज्ञान का कथन करने के पश्चात् ग्रन्थकार व्यक्त अव्यक्त और पुरुष का सामान्य परिचय प्रस्तुत करते हैं–

**मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।**
**षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ ३॥**

**पदच्छेद–** मूलप्रकृतिः अविकृतिः (किसी का विकार नहीं होता) महत् आद्याः (महत् आदि) प्रकृति विकृतयः (प्रकृति और विकृति दोनों हैं) सप्त। षोडशकः (सोलह का गण) तु (तो) विकारः (केवल विकार ही है) न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः (पुरुष न प्रकृति है और न विकृति)।

**अन्वय–** मूलप्रकृतिः अविकृतिः (भवति), महत् आद्याः सप्त प्रकृतिविकृतयः (भवन्ति), षोडशकः तु विकारः (एव), पुरुषः न प्रकृतिः (भवति), न विकृतिः (भवति)।

**अनुवाद–** (सांख्याभिमत) मूल (कारणरूप) प्रकृति (किसी अन्य कारण का) विकार नहीं (होती है), महत् आदि सात तत्त्व (महत्, अहङ्कार एवं पञ्चतन्मात्राएँ) कारण और विकार (दोनों) हैं। सोलह (पदार्थों) का समुदाय तो (केवल) विकार (ही है)। पुरुष न (किसी का) कारण (होता है) न विकार (होता है)।

**व्याख्या–** सांख्यशास्त्र में उल्लिखित प्रमुख २५ तत्त्वों को चार भागों में विभाजित किया गया है–

१. प्रकृति (अविकृति) = मूलप्रकृति (प्रधान या अव्यक्त)
२. प्रकृति एवं विकृति = महत् (बुद्धि), अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राएँ
३. केवल विकृति= पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, मन, पञ्चमहाभूत
४. न प्रकृति न विकृति = पुरुष

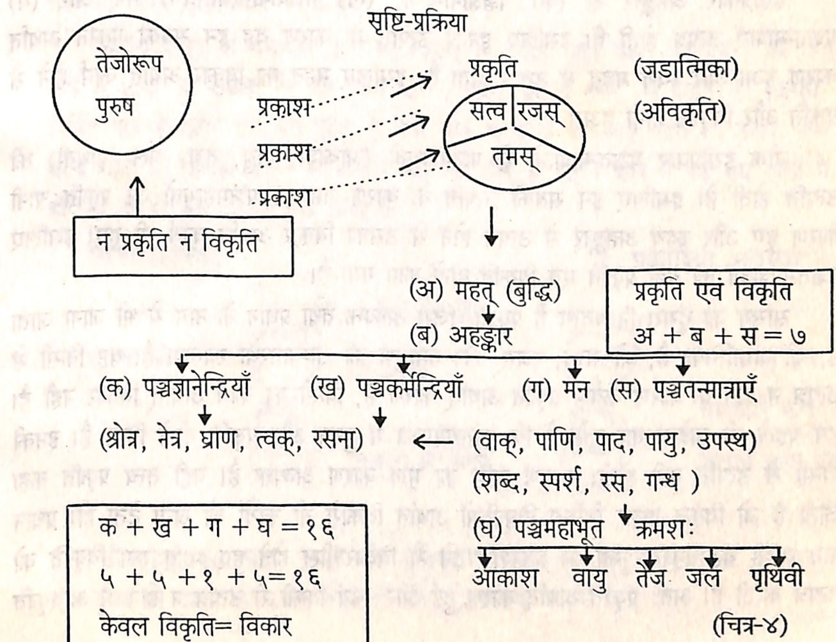
इस कारिका के अभिप्राय को समझने के लिए सर्वप्रथम यहाँ प्रयुक्त प्रकृति एवं विकृति दो पदों को जानना आवश्यक है–

(क) **प्रकृति–** से अभिप्राय है– कारण। अर्थात् जो कार्यों को उत्पन्न करता है, वह प्रकृति है। सांख्य में बताई गई प्रकृति, प्रधान अथवा अव्यक्त कारण है, क्योंकि वह महत् रूप कार्य को उत्पन्न करने वाली है। अतः इन पदार्थों की प्रकृति कहलाएगी। इसीप्रकार महत् से अहङ्कार की उत्पत्ति मानी गई है। इसलिए महत् अहङ्कार की प्रकृति अर्थात् कारण हुआ। अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राएँ आदि १६ पदार्थों की उत्पत्ति मानी गई है। अतः अहङ्कार इन १६ पदार्थों की

प्रकृति हुआ। ठीक इसीप्रकार पञ्चतन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश) की उत्पत्ति होती है। इसलिए वे पञ्चमहाभूतों की प्रकृति हुए।

(ख) **विकृति–** से अभिप्राय विकार से है अर्थात् कारणरूप प्रकृति से उत्पन्न होने वाला विकार यानी कार्य ही विकृति है। पञ्चमहाभूत, क्योंकि पञ्चतन्मात्रारूप कारण से उत्पन्न होते हैं। अतः वे पञ्चतन्मात्राओं की विकृति, विकार अर्थात् कार्य हुए। इसीप्रकार पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, मन और पञ्चतन्मात्राएँ ये सोलह पदार्थ अहङ्कार से उत्पन्न होते हैं। अतः अहङ्कार इन पदार्थों का कारण और ये सब उसके कार्य अर्थात् विकार हुए। ठीक इसीप्रकार अहङ्कार, महत् यानी बुद्धि से उत्पन्न होता है। इसलिए महत् कारण और अहङ्कार कार्य अर्थात् विकृति हुआ।

इस सम्पूर्ण क्रम को ठीक प्रकार समझने के लिए प्रथम सांख्यसिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के क्रम को समझना होगा। यहाँ दो तत्त्व पुरुष और प्रकृति को नित्य माना गया है। पुरुषप्रकाश स्वरूप, तजोरूप है तथा सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। जब पुरुष का प्रकाश प्रकृति पर पड़ता है तो सृष्टि का प्रारम्भ होता है। उस स्थिति में प्रकृति में स्थित तीनों गुणों में गति उत्पन्न हो जाती है और वे एक दूसरे को दबाने का प्रयास करते हैं। जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है। इस क्रम में सर्वप्रथम महत्, महत् से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, नेत्र, घ्राण, त्वक् एवं रसना), पञ्चकर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ), मन तथा पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) यह सोलह का गण उत्पन्न होता है तथा पञ्चतन्मात्राओं से इसी क्रम से (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। जिसे इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–



(चित्र-४)

इसप्रकार हम देखते हैं कि सांख्य के अनुसार पुरुष चेतन, तेजोरूप है जो न तो किसी का विकार अर्थात् कार्य है और न ही किसी की विकृति अर्थात् कारण है। सांख्य के अनुसार यह नित्यतत्त्व है। यह कभी उत्पन्न नहीं होता और प्रलयावस्था में भी इसका अस्तित्व रहता है। इसलिए यह पुरुष न तो किसी की प्रकृति है और न ही विकृति है।

सोलह का गण अर्थात् समुदाय– (क) पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ (ख) पञ्चकर्मेन्द्रियाँ (ग) मन और (घ) पञ्चमहाभूत, केवल विकार अर्थात् कार्य हैं। इनसे किसी की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् ये किसी के कारण नहीं हैं। अतः किसी की प्रकृति नहीं होते।

इस प्रसङ्ग में एक शङ्का हो सकती है कि पृथिवी रूप महाभूत से तो वृक्ष, गाय आदि सभी विकाररूप में उत्पन्न होते हैं। पुनः उनके भी विकाररूप में गाय से दूध, उससे दही, इसीप्रकार वृक्ष से बीज, उससे अङ्कुर की उत्पत्ति प्रत्यक्षरूप से देखी जाती है। तो फिर पृथिवी को तत्तत् की प्रकृति अर्थात् कारण मानना चाहिए, फिर इन्हें केवल विकार क्यों कहा गया?

इसका उत्तर है कि गाय, वृक्ष, बीज, अङ्कुर, दुग्धादि सभी पृथिवी से भिन्न तत्त्व नहीं है, केवल आकृति भेद है। अतः वे सब पृथिवी ही हैं। इसलिए ऐसी शङ्का उचित नहीं है।

(अ) महत् (बुद्धि) (ब) अहङ्कार (स) पञ्चतन्मात्राएँ से सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों हैं, क्योंकि महत् से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। इसलिए वह अहङ्कार की उत्पत्ति का कारण अर्थात् प्रकृति हुआ तथा स्वयं महत् की उत्पत्ति प्रकृति (अव्यक्त) से होती है। इसलिए सत्त्वरजस्तमोगुण रूपा प्रधान का विकार अर्थात् कार्य होने से प्रकृति-विकृति दोनों हुआ।

इसीप्रकार अहङ्कार से (क) पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, (ख) पञ्चकर्मेन्द्रियाँ (ग) मन और (घ) पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। इसलिए इनकी उत्पत्ति के कारण वह इन सबकी प्रकृति अर्थात् कारण हुआ और स्वयं महत् से उत्पन्न होता है, इसलिए महत् का विकार अर्थात् कार्य होने से प्रकृति और विकृति दोनों हुआ।

ठीक इसीप्रकार पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी) की उत्पत्ति होती है। इसलिए इन सबकी उत्पत्ति के कारण वह इन पञ्चमहाभूतों की प्रकृति यानी कारण हुए और स्वयं अहङ्कार से उत्पन्न होने से उसका विकार अर्थात् कार्य भी हुए। इसलिए पञ्चतन्मात्राओं को यहाँ प्रकृति एवं विकृति दोनों कहा गया है।

सांख्य का दूसरा नित्यतत्त्व है प्रकृति, जिसे अव्यक्त तथा प्रधान के नाम से भी जाना जाता है, जो जडात्मिका है, जो सत्त्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था स्वरूपा हैं। वह किसी से उत्पन्न न होने के कारण केवल प्रकृति अर्थात् कारण है, किसी का कार्य अर्थात् विकार नहीं है। हम पहले भी उल्लेख कर चुके हैं कि सांख्यशास्त्र में पुरुष और प्रकृति दोनों नित्य हैं। इनकी किसी से उत्पत्ति नहीं होती। सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कारण अव्यक्त है। वही तत्त्व प्रकृति कहा जाता है जो विकृत होकर विभिन्न विकृतियों अर्थात् विकारों या कार्यों को जन्म देता हो। प्रधान नाम वाली यह प्रकृति पुरुष का प्रकाश पड़ने से विकारशील होते हुए महत् रूप विकृति को उत्पन्न करती है। अतः प्रकृति अर्थात् कारण हुई और स्वयं किसी से उत्पन्न न होने से अविकृति

हुई। सृष्टि का आदिकारण होने एवं स्वयं किसी से उत्पन्न न होने से कारिका में इसे मूलप्रकृति कहा गया है।

**विशेष**– १. प्रक्रियते उत्पद्यते अस्या इति प्रकृतिः, क्योंकि इससे सृष्टिप्रक्रिया में प्रथम तत्त्व महत् की उत्पत्ति होती है। अतः इसे प्रकृति कहा जाता है।

२. प्रस्तुत कारिका में प्रकृति को मूलकारण माना गया है, क्योंकि सम्पूर्ण कार्यसङ्घातरूप जगत् का वह मूलकारण है। यदि कोई यहाँ शङ्का करे कि उसका भी तो कोई न कोई कारण होगा, सम्भव है वह अदृश्य हो? ऐसी शङ्का करना उचित नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था दोष होगा, पुनः उसके मूल कारण और उसके भी मूल किसी अन्य कारण की कल्पना करने से अव्यवस्था हो जाएगी। अतः प्रधान को ही मूलप्रकृति (कारण) मानना उचित है।

३. सांख्य के सृष्टिक्रम में दो शङ्काएं की जा सकती हैं–

(क) प्रकृति को यहाँ जडात्मिका कहा है। जड पदार्थ से सृष्टि की किसप्रकार कल्पना की जा सकती है।

(ख) प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था का नाम है। उसपर पुरुष का प्रकाश पड़ने से ये तीनों गुण एक दूसरे को दबाने का प्रयास करते हैं, कैसे?

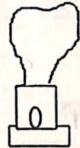
इस प्रथम शङ्का के समाधान के लिए चन्द्रमा अथवा दर्पण का उदाहरण दिया जा सकता है। जो जड़ होते हुए भी सूर्य का प्रकाश पड़ने से चमकने लगते हैं और चेतनतुल्य, प्रकाश सम्पन्न प्रतीत होते हैं। ठीक उसीप्रकार प्रकृति जड़ होते हुए भी पुरुष का प्रकाश पड़ने से चेतनवत् होकर सृष्टिविधान करती है।

द्वितीय शङ्का के समाधान के लिए विद्युत् से चलने वाले उस ''शोपीस'' को उदाहरण रूप में दिया जा सकता है, जो लोग प्रायः अपने 'ड्रॉइङ्ग रूम' में रखते हैं। जिसमें काँच निर्मित पात्र में रङ्गीन द्रव भरा रहता है तथा कुछ चमकीले कण पड़े रहते हैं। उसके नीचे एक बल्ब रहता है। जिसके जलने पर अर्थात् प्रकाशित होने पर रङ्गीन द्रव्य में पड़े हुए कणों में गति होने से उसकी सुन्दरता में वृद्धि होती है।

**सामान्यावस्था** **२. प्रकाशित अवस्था**

काँच का पात्र

१. चमकीले कण



रङ्गीन द्रव

बिजली का बल्ब



गतिमान द्रव एवं चमकीले कण

जलता हुआ बल्ब

(चित्र-५)

ठीक इसीप्रकार सत्त्व, रजस् और तमोगुण भी पुरुष का प्रकाश पड़ने से गतिवान् होकर एक दूसरे को दबाने का प्रयास करते हैं और सृष्टिप्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

४. प्रस्तुत कारिका के अन्तर्गत सांख्यशास्त्र में परिगणित सम्पूर्ण २५ पदार्थों को चार भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम वे पदार्थ जो केवल कारणरूप हैं। द्वितीय वे जो केवल कार्यरूप हैं। तृतीय वे जो कारण और कार्य दोनों हैं तथा चतुर्थ वे जो न कार्य हैं और न ही किसी का कारण हैं।

५. किसी भी शास्त्र में तीन तत्त्व प्रमुख होते हैं १. उद्देश्य २. लक्षण और ३. परीक्षा। विवेच्य विषयों का नामोल्लेख मात्र उद्देश्य कहलाता है। प्रस्तुत कारिका में सांख्यशास्त्र के विवेच्य विषयों की गणना करते हुए नामोल्लेख होने से प्रथमतत्त्व उद्देश्य का निर्देश हुआ है। शेष दो तत्त्वों का उल्लेख आगे की कारिकाओं में किया गया है।

**अवतरणिका–** पच्चीस प्रमेय पदार्थों का नामोल्लेख करने के बाद उन्हें जानने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है। अतः सांख्यसम्मत तीन प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त प्रमाणों का नामोल्लेख करते हुए, प्रस्तुत कारिका का कथन किया गया है–

**दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।**
**त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि॥४॥**

**पदच्छेद–** दृष्टम् (प्रत्यक्ष), अनुमानम् (अनुमान) आप्तवचनम् (शब्द) सर्वप्रमाण सिद्धत्वात् (सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव होने से) त्रिविधम् (तीन प्रकार के) प्रमाणम् इष्टम् (प्रमाण हमें अभिप्रेत हैं) प्रमेयसिद्धिः (जानने योग्य पदार्थों की सत्ता की सिद्धि) प्रमाणात् (प्रमाण से) हि (ही होती है)।

**अन्वय–** सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् दृष्टम् अनुमानम् आप्तवचनम् (च) त्रिविधम् प्रमाणम् (अस्मान्) इष्टम्। हि प्रमाणात् प्रमेयसिद्धिः (भवति)।

**अनुवाद–** (इन्हीं में) सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव होने से प्रत्यक्ष, अनुमान (और) शब्द तीन प्रकार के प्रमाण (ही हमें) अभिप्रेत हैं, क्योंकि प्रमाणों से ही प्रमेयसिद्धि (होती है।)

**व्याख्या–** सभी भारतीयदर्शनों में दो पदार्थ प्रमुख हैं– प्रमाण और प्रमेय। प्रमेय वे पदार्थ जो जानने योग्य हैं, जिन्हें जानने से व्यक्ति को ज्ञान-प्राप्ति होती है, वे प्रमेय पदार्थ कहलाते हैं। सांख्यशास्त्र में उनकी संख्या २५ मानी गई है जिनका उल्लेख हमने पूर्व कारिका की व्याख्या में किया है। इन प्रमेय पदार्थों को जानने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है। अलग-अलग दर्शनों में इनकी अलग-अलग संख्या मानी गई है। जैसे–

१. चार्वाकदर्शन = केवल **प्रत्यक्ष** को मानता है।

२. बौद्धदर्शन = प्रत्यक्ष और **अनुमान** दो को स्वीकार करता है।

३. सांख्य, योग और वैष्णव वेदान्त = प्रत्यक्ष, अनुमान और **शब्द** (तीन को)

४. न्याय, वैशेषिक = प्रत्यक्ष, अनुमान, **उपमान** और शब्द, (चार को)

५. प्राभाकर मीमांसक = प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, **अर्थापत्ति** (पाँच)

६. भाट्टमीमांसक = प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और **अभाव** (छः)

७. पौराणिक = प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव, **सम्भव** और **ऐतिह्य** (आठ)

सांख्यदर्शन के अनुसार आचार्य ईश्वरकृष्ण भी केवल तीन प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, को मान्यता प्रदान करते हुए प्रस्तुत कारिका का अवतरण करते हैं। साथ ही कहते हैं कि हमें केवल तीन प्रमाण ही अभिप्रेत हैं, मान्य हैं। इससे कम अथवा अधिक नहीं, क्योंकि सभी प्रमेय पदार्थों की सिद्धि इन तीन प्रमाणों से ही हो जाती है तथा जो अन्य दर्शनों में अधिक प्रमाणों को स्वीकार किया गया है, उन सबका इन तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः अधिक प्रमाणों की कल्पना व्यर्थ है।

**सांख्य की दृष्टि में– प्रमाण**

प्रत्यक्ष (दृष्ट) | अनुमान | आप्त (आगम, शब्द)

प्रस्तुत कारिका में प्रमाणों का केवल नामोल्लेख किया गया है। लक्षण अगली कारिका में करेंगे। वस्तुतः प्रस्तुत कारिका में व्याख्या की दृष्टि से तीन अंश प्रमुखतया कहे जा सकते हैं–

प्रथम अंश में कारिकाकार ने तीन प्रमाणों, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम जिसे आप्त अथवा शब्दप्रमाण भी कहा जाता है, का उल्लेख किया। इसमें इन्द्रिय और वस्तु के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली मानसिक प्रमा निश्चयात्मिका बुद्धि ही प्रत्यक्षप्रमाण है। जिसका हम दैनिक जीवन में सर्वाधिक उपयोग करते हैं। इस प्रमाण को सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। जैसे 'यह घड़ा है' यह ज्ञान हमें नेत्रोन्द्रिय द्वारा घड़े को प्रत्यक्षरूप से देखकर होता है। अतः यह प्रत्यक्षप्रमाण से होने वाला ज्ञान कहलाएगा। इसमें संदेह की कोई सम्भावना नहीं होती।

किसी चिह्न को देखकर वस्तु का अनुमानपूर्वक ज्ञान अनुमानप्रमाण कहलाता है। इससे होने वाला ज्ञान भी तर्कपद्धति के आधार पर होने से निश्चयात्मक होता है। जैसे– दूर पर्वत पर धुआँ उठता देखकर कोई व्यक्ति कहे कि यह पर्वत अग्नि वाला है। यद्यपि पर्वत के दूर होने के कारण अग्नि प्रत्यक्ष दिखायी नहीं दे रही है, फिर भी 'यह पर्वत अग्नि वाला है' ऐसा निश्चयात्मकज्ञान अनुमानप्रमाण से ही सम्भव है। अनुमान पञ्चावयव वाक्यों के द्वारा पूर्ण होता है–

१. प्रतिज्ञावाक्य– पर्वतोऽयं वह्निमान् (यह पर्वत अग्निवाला है)

२. हेतुवाक्य– धूमत्वात् (धूमवाला होने से)

३. उदाहरणवाक्य– यो यो धूमवान् सो सोऽग्निमान्, यथा महानसे (जो जो धूमयुक्त होता है वह वह अग्नियुक्त होता है। जैसे– रसोईघर में)

४. उपनय– तथा चायम् (वैसा ही धूमवाला यह पर्वत भी है)

५. निगमन– तस्मात् तथा (इसलिए यह पर्वत भी वैसा अर्थात् अग्नि वाला है।)

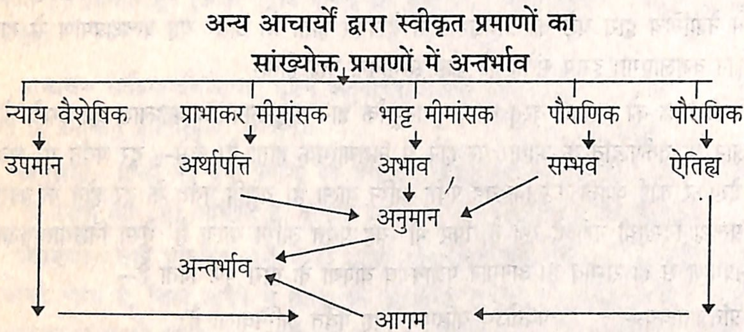
ऐसी वस्तुएँ जो इन्द्रियों की पहुँच से बाहर होती हैं, का प्रत्यक्ष, किसी लिङ्ग अर्थात् चिह्न का सहयोग लेकर, इसी प्रमाण द्वारा किया जाता है। चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी दर्शन इस प्रमाण को मान्यता प्रदान करते हैं। इसका दैनिक जीवन में अपेक्षाकृत कम प्रयोग होता है। यह

तीन प्रकार का होता है— पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। जिनकी विस्तृत व्याख्या हम अगली कारिका में करेंगे।

तृतीय शब्दप्रमाण, जिसे आगम या आप्तप्रमाण भी कहते हैं, को सांख्यदर्शन ने मान्यता प्रदान की। इसके अन्तर्गत प्रामाणिक अथवा यथार्थबात कहने वाले अथवा शास्त्रों में कहे गए वाक्य या वचन आते हैं। जिनसे किसी वस्तु अथवा व्यक्ति, घटना आदि का ज्ञान हो। जैसे— यदि किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध हो कि 'यह कभी भी असत्य नहीं बोलता है' तो वह आप्तपुरुष कहलाएगा और उसके द्वारा कहा गया वचन 'आप्तवचन', जो शब्दप्रमाण या आप्तप्रमाण के अन्तर्गत आएगा। नास्तिक दर्शनों को छोड़कर सभी दर्शनों ने वेदों को आप्तप्रमाण की श्रेणी में रखा है।

कारिका के द्वितीय महत्त्वपूर्ण अंश में ग्रन्थकार ने कहा कि हमें प्रमाणों की केवल तीन संख्या ही स्वीकार्य है, इससे अधिक अथवा कम नहीं, क्योंकि जिन अन्य प्रमाणों का कुछ आचार्यों ने उल्लेख किया है। वस्तुतः उनका इन तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है साथ ही केवल तीन प्रमाणों के द्वारा ही हमारा कार्य चल जाता है। अतः अधिक की कल्पना का औचित्य ही सिद्ध नहीं होता है। तत्त्वकौमुदीकार ने अग्रिम कारिका की व्याख्या में अन्य आचार्यों द्वारा उल्लिखित प्रमाणों का सांख्योक्त तीन प्रमाणों में अन्तर्भाव किया है। जिसका हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं—

**अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों का सांख्योक्त प्रमाणों में अन्तर्भाव**




(चित्र-६)

प्रस्तुत चित्र से स्पष्ट है कि सांख्यशास्त्र के अनुसार अन्य दर्शनों के द्वारा स्वीकृत अर्थापत्ति, अभाव और सम्भव प्रमाणों का अनुमानप्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जाता है तथा उपमान एवं ऐतिह्य दोनों का आगम या शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव हो जाता है। इसीलिए ग्रन्थकार ने कहा 'सर्वप्रमाण सिद्धत्वात्'। अतः सांख्य केवल तीन प्रमाणों को ही मान्यता प्रदान करता है (त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्)

पुनः कारिका के तीसरे अंश में प्रमाणों के औचित्य का प्रतिपादन करते हुए कहा कि प्रमाणों की हमें इस कारण आवश्यकता पड़ी, क्योंकि प्रमेय पदार्थों की सिद्धि प्रमाणों के द्वारा ही सम्भव है, 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' अर्थात् ज्ञान का एकमात्र साधन प्रमाण ही हैं। अतः हमने

प्रमाणों की कल्पना की है। इस प्रसङ्ग में यह बात अवश्य उल्लेखनीय है कि हमने केवल उतने ही प्रमाणों को मान्यता प्रदान की है, जितने की हमें आवश्यकता है। उससे कम या अधिक की नहीं।

**विशेष–** १. प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार ने प्रमाणों की तीन-संख्या का उल्लेख किया है। साथ ही दृढ़तापूर्वक यह भी प्रतिपादित किया कि जो अन्य आचार्यों ने इन तीन प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त) से भिन्न प्रमाणों को मान्यता दी है, वह उचित नहीं, क्योंकि इन तीन प्रमाणों के द्वारा ही सब प्रमेय पदार्थों की सिद्धि हो जाती है।

२. प्रमीयते अनेन, इति प्रमाणम्, इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान का असाधारण हेतु ही प्रमाण है अर्थात् जिससे यथार्थ्य ज्ञान होता है उसे प्रमाण कहा जाता है। ऐसा कहने से संशय, विपर्यय, विकल्प एवं स्मृति आदि का स्वतः ही निराकरण हो जाता है।

३. भारतीय दर्शन-शास्त्र में प्रमाणों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद रहे हैं। जिसकी अभिव्यञ्जना प्रस्तुत कारिका में हुई है।

४. उक्त तीन प्रमाणों के अतिरिक्त एक आर्षप्रमाण भी होता है, जिसके द्वारा उर्ध्वरेता योगियों को ज्ञान होता है। जिसका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन सामान्य लोगों को ज्ञान कराना है। अतः उसकी सत्ता होते हुए भी प्रकृत विषय में उपयोग न होने से उसकी चर्चा नहीं की गई है।

५. अन्य दर्शनों द्वारा प्रतिपादित प्रमाणों का भिन्न-भिन्न टीकाकारों, भाष्यकारों ने किञ्चिद् भिन्नप्रकार से तीन प्रमाणों में अन्तर्भाव किया है, जिसका डॉ० व्रजमोहन चतुर्वेदी ने अपनी वसुमति व्याख्या में इसप्रकार उल्लेख किया है।[१]

(क) **उपमान–** वाचस्पतिमिश्र ने इसके तीन भाग करते हुए उनका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द तीनों में ही अलग-अलग किया है। जयमङ्गलाकार अनुमान और शब्द दोनों में इसका अन्तर्भाव मानते हैं, किन्तु माठरवृत्ति एवं चन्द्रिकाकार ने इसका अन्तर्भाव केवल अनुमान में किया है, जबकि गौडपाद ने इसे शब्द (आगम) प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

(ख) **अर्थापत्ति–** प्रभाकर के अनुयायी मीमांसकों द्वारा स्वीकृत इस प्रमाण का सभी टीकाकार अनुमानप्रमाण में अन्तर्भाव मानते हैं।

(ग) **अभाव–** कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसकों एवं वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत इन प्रमाण को वाचस्पति, जयमङ्गला तथा चन्द्रिकाकार प्रत्यक्षप्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं, किन्तु माठर और गौडपाद ने इसका अनुमानप्रमाण में अन्तर्भाव माना है।

(घ) **सम्भव–** वाचस्पतिमिश्र, जयमङ्गलाकार और माठरवृत्तिकार ने इसे अनुमान के अन्तर्गत माना है, किन्तु गौडपाद तथा चन्द्रिकाकार इसे आप्तप्रमाण में स्वीकार करते हैं।

---

१. सांख्यकारिका– व्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली– पृ० १००।

(ङ) **ऐतिह्य–** पौराणिकों के इस प्रमाण का वाचस्पति, गौडपाद एवं चन्द्रिकाकार आगमप्रमाण में अन्तर्भाव मानते हैं, किन्तु आचार्यमाठर के अनुसार इसका 'अनुमान' प्रमाण में अन्तर्भाव उचित है।

**अवतरणिका–** इसप्रकार सांख्यशास्त्रोक्त प्रमाणों के नामोल्लेख, संख्या एवं प्रयोजन का कथन करने के अनन्तर प्रस्तुत कारिका में तीनों प्रमाणों का विशेष लक्षण करते हुए अनुमान के त्रिविधत्व का कथन करते हैं–

**प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।**
**तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु॥५॥**

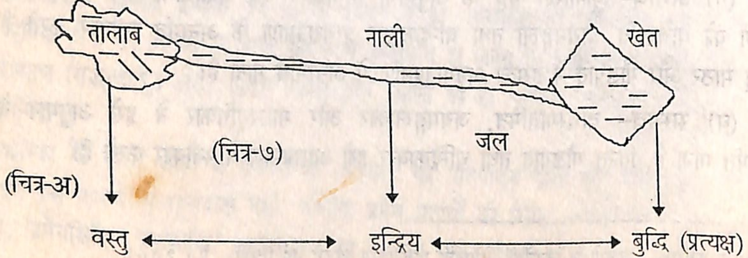
**पदच्छेद–** प्रतिविषय (विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय पर आश्रित) अध्यवसायः (निश्चयात्मकज्ञान) दृष्टम् (प्रत्यक्षप्रमाण है) त्रिविधम् (तीन प्रकार का) अनुमानम् (अनुमानप्रमाण) आख्यातम् (कहा गया है)। तत् (वह अनुमानप्रमाण) लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम् (साधन-साध्य, व्याप्य-व्यापक, धूम अग्नि पर आधारित है), आप्तश्रुतिः (प्रामाणिक व्यक्ति का वचन, उक्ति ही) आप्त (वचनंआप्तप्रमाण है)।

**अन्वय–** प्रतिविषय-अध्यवसायः दृष्टम् (कथ्यते) लिङ्ग-लिङ्गिपूर्वकम् तत् अनुमानम् (पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट) त्रिविधम् आख्यातम्, आप्तश्रुतिः तु आप्तवचनम् (भवति)।

**अनुवाद–** विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय पर आश्रित निश्चयात्मकज्ञान (ही) प्रत्यक्षप्रमाण है। साधन और साध्य पर आधारित वह अनुमानप्रमाण (पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट) तीन प्रकार का कहा गया है। प्रामाणिक व्यक्ति की उक्ति ही आप्तप्रमाण (होता है)।

**व्याख्या–** कारिकाकार ने प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण दिया– 'प्रतिविषय अध्यवसायो दृष्टम्' अर्थात् विषय से संयुक्त इन्द्रिय पर आश्रित निश्चयात्मकज्ञान ही प्रत्यक्षप्रमाण है। कहने का तात्पर्य है कि 'जब किसी व्यक्ति को इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान होता है, तब बुद्धि विषय के आकार को धारण कर लेती है। यही प्रक्रिया प्रत्यक्ष-प्रमाण कहलाती है। इन्द्रियाँ इस प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करती हैं, किन्तु उनकी स्थिति सहायक से अधिक नहीं होती। जिसे दो उदाहरणों द्वारा भलीप्रकार समझाया जा सकता है–

१. जिसप्रकार तालाब के जल को खेत तक पहुँचाने के लिए नाली की आवश्यकता होती है, ठीक, उसीप्रकार इन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि विषय तक पहुँचकर उसके आकार को धारण करके विषय का निश्चयात्मकज्ञान करती है, यह निश्चयात्मकज्ञान ही प्रत्यक्ष-प्रमाण कहलाता है। (चित्र अ, द)



२. यदि किसी घड़े में दीपक रख दें और प्रकाश उस घड़े से बाहर न आ रहा हो, तो वह घड़े में स्थित दीपक बाहर स्थित पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होगा। (चित्र ब) किन्तु यदि उसमें छेद कर दिए जाएँ तो उन छिद्रों के माध्यम से प्रकाश बाहर निकलकर वस्तुओं तक पहुँचकर उन्हें प्रकाशित करने में अवश्य समर्थ होगा। (चित्र स)

ठीक, उसीप्रकार बुद्धि जब तक इन्द्रियों के माध्यम से विषय तक नहीं पहुँचती, उसके आकार को धारण नहीं करती (तदाकार आकारित नहीं होती) तब तक वस्तु का निश्चयात्मकज्ञान सम्भव नहीं है। अतः प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियों की उपयोगिता उतनी ही है, जितनी खेत तक पानी ले जाने में नाली की अथवा घड़े में स्थित दीपक का प्रकाश वस्तु तक पहुँचाने में घड़े में स्थित छिद्रों की (चित्र स) जिसे हम चित्र द्वारा इसप्रकार भी अभिव्यक्त कर सकते हैं– (द्रष्टव्य– पृ० २०)

इसीलिए वस्तु तथा बुद्धि होने पर भी इन्द्रियों के अभाव में, प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता। अतः वह ज्ञान जिसे प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं, बुद्धि का धर्म है, इन्द्रियों का नहीं, किन्तु इस प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियों के सहयोग को नकारा नहीं जा सकता। साथ ही यदि तुलनात्मक दृष्टि से बुद्धि और इन्द्रियों की स्थिति पर विचार करें तो कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया में बुद्धि का प्राधान्य है तथा इन्द्रियों का गौणभाव है। इसीलिए वह निश्चयात्मक ज्ञान जिसे प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा गया, बुद्धि का धर्म है, इन्द्रियों का नहीं।



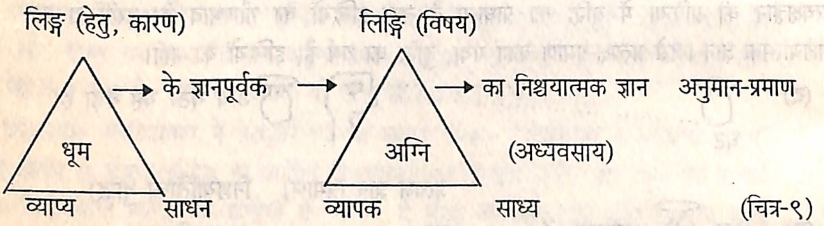
(चित्र-८)

प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण करने के बाद ग्रन्थकार ने कारिका के तीसरे चरण में अनुमानप्रमाण का लक्षण करते हुए कहा– 'तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्' अर्थात् वह अनुमान लिङ्ग (चिह्न) लिङ्गि (जिसका वह चिह्न हो) पर आधारित है। वस्तुतः अनुमान का यह लक्षण अत्यन्त संक्षिप्त होने से अस्पष्ट सा प्रतीत होता है। अतः व्याख्या की अपेक्षा करता है।

संसार में प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई चिह्न होता है, पहचान होती है, जिसके द्वारा इन्द्रियों से प्रत्यक्षरूप से उस वस्तु को देखे बिना भी (केवल उसके चिह्न को देखने मात्र से) उस वस्त का ज्ञान हो जाता है। जैसे– अग्नि का चिह्न धूम है। जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि का होना अनिवार्य है, अर्थात् अग्नि के अभाव में धूम का होना सम्भव नहीं है। यहाँ अग्नि 'लिङ्गि' हुआ और धूम उसका लिङ्ग अर्थात् चिह्न, उसकी पहचान का एक मात्र माध्यम।

माना दूर पर्वत पर हम धूआँ उठता हुआ देखते हैं, किन्तु अग्नि को हमारे नेत्र प्रत्यक्षरूप से देखने में असमर्थ हैं। उस स्थिति में भी हम कहते हैं कि पर्वत पर अग्नि है या यह पर्वत अग्नि वाला है (पर्वतोऽयं वह्निमान्) यह ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण का विषय तो हो नहीं सकता, क्योंकि नेत्रेन्द्रिय विषय (अग्नि) तक पहुँच ही नहीं पा रहा है। तब हम अग्नि के चिह्न धूम को देखकर अनुमान-प्रमाण द्वारा लिङ्गि अर्थात् अग्नि का पर्वत पर अनुमान लगा लेते हैं। अनुमानप्रामाण द्वारा होने वाला यह ज्ञान भी निश्चयात्मक ही होता है, क्योंकि इस प्रमाण में लिङ्ग यानि चिह्न महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। अतः लक्षण में ग्रन्थकार ने कहा– 'वह अनुमानप्रमाण लिङ्ग-लिङ्गिपूर्वक होता है।' यह भी प्रत्यक्षप्रमाण के समान अध्यवसाय अर्थात् निश्चयात्मक बुद्धिस्वरूप होता है। लिङ्ग के आधार पर होने वाला लिङ्गि का ज्ञान भी प्रत्यक्षप्रमाण के समान निश्चयात्मक होता है। इसलिए यहाँ संशय का कोई स्थान नहीं होता है। अतः इस प्रक्रिया से होने वाला यह ज्ञान अनुमान-प्रमाण की कोटि में रखा गया।

लिङ्ग को ही दार्शनिक भाषा में व्याप्य या साधन भी कहा जाता है, क्योंकि यह लिङ्गि अर्थात् व्यापक की अपेक्षा कम स्थानों पर रहता है, इसलिए व्याप्य है, क्योंकि यह लिङ्गि अर्थात् साध्य की सिद्धि में सहायक है, अतः साधन कहलाता है।



(चित्र-९)

हम दैनिकजीवन में प्रतिदिन देखकर लिङ्ग और लिङ्गि के सम्बन्ध की अनिवार्यता का निश्चय कर लेते हैं। जैसे हम रोजाना रसोईघर में धुएँ और अग्नि को एक साथ देखकर यह निश्चय कर लेते हैं कि यत्र-यत्र धूम तत्र-तत्र वाह्निः अर्थात् जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है। ऐसा कोई भी स्थान सम्भव नहीं है जहाँ धुआँ तो हो, किन्तु अग्नि न हो। यह निश्चय ही लिङ्ग और लिङ्गि का सम्बन्ध हुआ। जिसे दर्शन की भाषा में व्याप्ति भी कहा जाता है, क्योंकि स्वाभाविक सम्बन्ध ही व्याप्ति का लक्षण है (स्वाभाविकश्च सम्बन्धः व्याप्तिः– तर्कभाषा)। दूसरे शब्दों में हेतु और साध्य के साथ रहने वाले नियम को, नियत साहचर्य को व्याप्ति कहते हैं। जो दो प्रकार की होती है (क) अन्वय व्याप्ति (ख) व्यतिरेक व्याप्ति।

(क) **अन्वय–** यत्र धूम तत्र वह्निः, जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि है, इस रूप में हेतु की सत्ता का अग्नि की सत्ता से युक्त होना रूप नियम ही अन्वय-व्याप्ति है।

(ख) **व्यतिरेक–** यत्र यत्र अग्न्याभावः तत्र तत्र धूमाभावः, जहाँ अग्नि का अभाव है, वहाँ धूम का भी अभाव है, इस रूप में साध्य (अग्नि) के अभाव का हेतु (धुम) के अभाव से व्याप्त होना व्यतिरेक-व्याप्ति होती है।

इस दो प्रकार की व्याप्ति के आधार पर ही ग्रन्थकार ने कारिका के द्वितीय चरण में अनुमान के तीन प्रकारों का उल्लेख किया– ''त्रिविधमनुमानमाख्यातम्'', किन्तु यहाँ उनका स्पष्टरूप से कथन नहीं किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार को उस समय में अन्य न्याय आदि शास्त्र सम्मत अनुमान त्रिविधत्व से पूर्णतया सहमति थी। इसीलिए उन्होंने इस विषय में विशेष चर्चा नहीं की। न्यायसूत्र में अनुमान के तीन भेदों का उल्लेख किया गया है– (क) पूर्ववत् (ख) शेषवत् (ग) सामान्यतोदृष्ट।

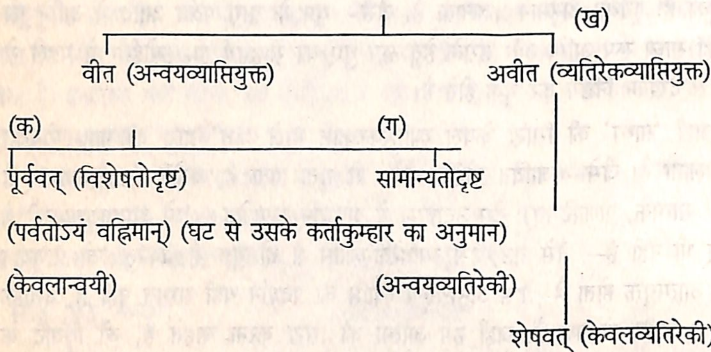
(क) जिसमें हेतु का, विषय अथवा साध्य में व्याप्त होना, पहले से ही विशेष रूप से देखा जा चुका है। पूर्ववत् अनुमान कहलाता है। जैसे– धूम के द्वारा पर्वत आदि में अग्नि का अनुमान। यहाँ साध्य रूप अग्नि और उसके हेतु रूप धुएँ का साहचर्य हम रसोईघर में पहले से विशेष रूप से देखकर निश्चय कर चुके होते हैं।

(ख) जहाँ 'साध्य' की सिद्धि केवल व्यतिरेकव्याप्ति वाले 'हेतु' द्वारा की जाए शेषवत् अनुमान कहलाता है। जैसे– जीवित शरीर आत्मा से युक्त होता है, क्योंकि वह प्राणवान् है (जीवितशरीरं सात्मकं, प्राणादिमत्)। इस उदाहरण में प्राणवान् रूप हेतु– 'जो आत्मायुक्त नहीं है वह प्राणवान् भी नहीं है– जैसे घट, इस व्यतिरेक-व्याप्ति से तो युक्त है, किन्तु 'जो प्राणवान् होता है वह आत्मयुक्त होता है', इस अन्वयरूप व्याप्ति का प्रदर्शन यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण जीवित शरीर तो पक्ष हैं। जहाँ हम आत्मा को सिद्ध करना चाहते हैं, जो विवाद के विषय हैं। इसलिए उन्हें उदाहरण रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं है। अतः यह केवल व्यतिरेकिहेतु कहलाएगा और इसप्रकार के हेतु द्वारा कराया गया निश्चयात्मकज्ञान अर्थात् साध्य की सिद्धि शेषवत् अनुमान की श्रेणी में आएगी।

(ग) जहाँ विषय अथवा साध्य और हेतु अथवा साधन का साहचर्य पूर्ववत् अनुमान के समान विशेषरूप से न देखा जाकर सामान्य रूप से सर्वत्र देखा जाता है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहलाता है। जैसे– किसी कार्य को देखकर कारण का अनुमान। कारण और कार्य का नित्य साहचर्य सर्वत्र देखा जाता है। जैसे– घड़े रूप कार्य को देखकर उसके कारणरूप कुम्हार का अनुमान लगाना। इसीप्रकार वस्त्र को देखकर उसके निर्माता जुलाहे का अनुमान करना। सृष्टि को देखकर उसके स्रष्टा ईश्वर का अनुमान। नदी में गन्दे जल को देखकर उसके कारणरूप पर्वत पर वर्षा का अनुमान।

ये सब कारण और कार्य के नित्य साहचर्य के परिणामस्वरूप सर्वत्र सामान्य रूप से देखे जाते रहे हैं। धूम और अग्नि के समान किसी एक स्थान पर विशेष रूप से नहीं देखे गए हैं। इसीलिए इस प्रक्रिया द्वारा होने वाला अथवा इसप्रकार के हेतु के सहयोग से होने वाला निश्चयात्मकज्ञान सामान्यतोदृष्ट अनुमान-प्रमाण के अन्तर्गत आएगा। इसीलिए विद्वानों ने पूर्ववत् अनुमान को 'विशेषतो-दृष्ट' अनुमान की भी संज्ञा दी है, क्योंकि वहाँ हेतु का साध्य में विशेष रूप से स्थान विशेषय पर साहचर्य देखा जाता है, किन्तु यहाँ यह साहचर्य सामान्य रूप से सर्वत्र देखा जा सकता है। यदि कार्य है तो कारण का होना अनिवार्य है।

कुछ विद्वान् इन अनुमानों को प्रथम वीत और अवीत दो श्रेणी में विभाजित करते हैं। पुनः वीत के पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट दो भेद करते हैं तथा अवीत के अन्तर्गत केवल शेषवत् अनुमान की गणना करते हैं। इनमें अन्वयव्यतिरेकव्याप्ति के आधार पर पूर्ववत्अनुमान को केवलान्वयी, शेषवत् को केवलव्यतिरेकी और सामान्यतोदृष्ट को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान भी कहा जाता है। इस सम्पूर्ण विवेचन को इसप्रकार भी समझा जा सकता है–




(चित्र-१०)

कारिका के अन्तिम चरण में शब्दप्रमाण अथवा आगमप्रमाण को परिभाषित किया गया है– ''आप्तश्रुतिः आप्तवचनं तु''। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही बताने वाला व्यक्ति 'आप्त' कहलाता है तथा श्रुति का अर्थ है– वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अर्थात् आप्तव्यक्ति द्वारा कहे गये वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही आप्तश्रुति है, जो शब्दप्रमाण की कोटि में आता है।

अपौरुषेय वेदवाक्यों से भी स्वतन्त्ररूप से यथार्थज्ञान होने के कारण उसे भी शब्द या आगमप्रमाण माना गया है। यहां वेद शब्द अत्यन्त विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसके अन्तर्गत वेद पर आधारित स्मृति, इतिहास और पुराणों के वाक्यों से उत्पन्न होने वाले सभी यथार्थज्ञान आ जाते हैं। वेदवाक्यजन्य ज्ञान स्वतःप्रमाण होता है।

वाक्य से उत्पन्न ज्ञान दो प्रकार का होता है– (क) स्वतःप्रमाण (ख) परतः प्रमाण।

(क) एकमात्र वेदवाक्य से उत्पन्न, प्रत्यक्ष अथवा अनुमानप्रमाणों के सहयोग के बिना ही अर्थाभिव्यक्ति में समर्थज्ञान 'स्वतःप्रमाण' कहलाता है।

(ख) अपने अर्थ की प्रतीति कराने के लिए जिसे प्रमाणान्तर की अपेक्षा हो, वह परतःप्रमाण की श्रेणी में गिना जाता है। जिसके अन्तर्गत वेदमूलक स्मृतिग्रन्थ, इतिहास, पुराण आदि में कहे गए वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान आता है, क्योंकि ये सभी अपनी प्रामाणिकता के लिए वेदों पर आश्रित हैं। अतः परतः प्रमाण के रूप में स्वीकार किए गए हैं।

इसप्रकार सत्यवक्ता व्यक्ति, वेद, वेदमूलकस्मृति, इतिहास, पुराण आदि द्वारा कहे गये वाक्यों से उत्पन्न होने वाला यथार्थज्ञान आप्तप्रमाण कहलाता है। जिसे आगम या शब्दप्रमाण भी कहते हैं।

कारिका में 'तु' शब्द का प्रयोग शब्दप्रमाण को अनुमानप्रमाण से अलग रूप में प्रदर्शित करने के लिए किया गया है।

**विशेष–** १. प्रस्तुत कारिका सूत्रात्मकशैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। सांख्य सम्मत तीन प्रमाणों– प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आप्त की एक ही कारिका में परिभाषा प्रस्तुत की गई है। जो पर्याप्त व्याख्या की अपेक्षा रखती है।

२. सांख्यशास्त्र वस्तुतः प्रमेयशास्त्र है, क्योंकि यहाँ प्रमाणों की अपेक्षा प्रमेय पदार्थों की विशद चर्चा की गई है। प्रमाणों की विस्तृतचर्चा करने वाला न्याय, प्रमाणशास्त्र कहलाता है।

३. विषयं विषयं प्रति वर्तते इति प्रतिविषयम्, व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रियाँ प्रतिविषय हैं, जिसके सम्पर्क में आए शब्द आदि विषयों का ज्ञान ही दृष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाण कहलाता है।

४. कारिका में प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण में 'अध्यवसाय' पद का प्रयोग संशय के निराकरण के लिए किया गया है। इसका अभिप्राय है– 'निश्चयात्मक ज्ञान'।

५. कारिका मे प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण सांख्यसूत्र में दिए गए प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण के साथ अत्यन्त समानता रखता है, वहाँ विषय से सम्बद्ध होकर तदाकार से आकारित बुद्धि को, बोध को प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा गया है (सा० सू० १/८९)।

६. अनुमानप्रमाण का आधार प्रत्यक्षप्रमाण होने से कारिकाकार ने अनुमान से पूर्व प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण दिया है।

७. अनुमानप्रमाण के प्रकारों का उल्लेख करने के बाद उसका लक्षण दिया गया है। 'लिङ्गयति लीनमर्थं गमयति, इति लिङ्गम्' व्युत्पत्ति के अनुसार हेतु को लिङ्ग कहते हैं। इसी का अन्य नाम साधन अथवा व्याप्य भी है। यह व्यापक अग्नि आदि की अपेक्षा कम स्थान में रहता है। अग्नि का लिङ्ग धूम है। प्रत्यक्षज्ञान के अभाव में दूर धूमरूप लिङ्ग को देखकर 'अग्नि' रूप अर्थ का ज्ञान अनुमानप्रमाण से होता है। लिङ्ग लिङ्गि के सम्बन्ध ज्ञान ही अनुमान है।

८. 'अध्यवसाय' पद की तीनों प्रमाणों के लक्षणों में अनुवृत्ति उचित प्रतीत होती है, क्योंकि तीन प्रमाणों से होने वाला ज्ञान निश्चयात्मक ही होता है। संशय का लेश मात्र भी वहाँ नहीं होता है।

**अवतरणिका–** प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाण का लक्षण करने तथा अनुमानप्रमाण के त्रिविध प्रकारों की ओर सङ्केत करने के बाद, कारिकाकार प्रमाणों द्वारा सांख्योक्त प्रमेय पदार्थों की सत्ता की सिद्धि किस-किस प्रमाण द्वारा होती है, इसका प्रतिपादन करते हैं–

**सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।**
**तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्॥ ६॥**

**पदच्छेद–** सामान्यतः (सर्वसामान्य, इन्द्रियग्राह्य विषयों का ज्ञान) तु (तो) दृष्टात् (प्रत्यक्षप्रमाण से हो जाता है) अतीन्द्रियाणाम् (इन्द्रियों के अगोचर पदार्थों की) प्रतीति (ज्ञान) अनुमानात् (अनुमानप्रमाण से होती है)। तस्मात् (उस अनुमानप्रमाण से) अपि (भी) च (और) असिद्धम् (ज्ञात न होने वाले परोक्ष विषयों की) सिद्धम् (सिद्धि) आप्त (आगम या शब्द) आगमात् (प्रमाण से) होती है।

**अन्वय–** सामान्यतः दृष्टात् तु अतीन्द्रियाणाम् (पदार्थानाम्) प्रतीतिः अनुमानात् (भवति) च तस्मात् अपि असिद्धम् परोक्षम् सिद्धम् आप्तागमात् (भवति)।

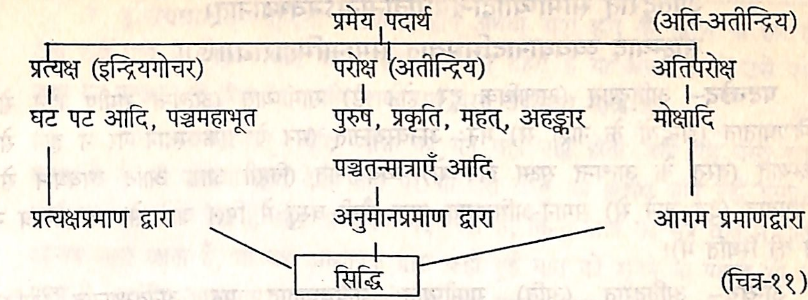
**अनुवाद–** सामान्य विषयों (इन्द्रियग्राह्य) का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण से (होता है) किन्तु इन्द्रियों के अगोचर पदार्थों की (अतीन्द्रिय) प्रतीति अनुमान (प्रमाण) से (होती है) और उस (अनुमानप्रमाण) से भी ज्ञात न होने वाले पदार्थों की सिद्धि आगम प्रमाण से (होती है)।

**व्याख्या–** प्रमेयपदार्थ तीन प्रकार के होते हैं– (क) प्रत्यक्ष (ख) परोक्ष (ग) अत्यन्त परोक्ष। जिनकी सिद्धि के लिए सांख्यशास्त्र में तीन प्रमाणों को मान्यता प्रदान की गई है।

(क) वे पदार्थ जो इन्द्रियों के सम्पर्क में सरलतापूर्वक आ जाते हैं और इन्द्रियाँ उनका सहज रूप से प्रत्यक्ष करके बुद्धि तक पहुँचाती है। जैसे– घट जो सामने रखा है, नेत्रेन्द्रिय के सम्पर्क में आकर बुद्धि द्वारा ज्ञान का विषय बनता है। प्रत्यक्ष पदार्थ के अन्तर्गत आएगा। पञ्चमहाभूत आदि समस्त लौकिक विषय प्रत्यक्ष पदार्थों के अन्तर्गत आते हैं। इन सभी पदार्थों का सामान्य व्यक्ति भी प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेता है। दैनिकजीवन में सर्वाधिक इस प्रमाण का प्रयोग होता है।

(ख) वे पदार्थ जो हमारी इन्द्रियों की पहुँच से बाहर हैं अर्थात् हमारी इन्द्रियां उन तक नहीं पहुँच सकती, परोक्ष कहलाते हैं। सांख्य के प्रमेय पदार्थ प्रकृति, महत् अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ इसी कोटि में आते हैं। इनकी प्रतीति इन्द्रियों की पहुँच से बाहर होने के कारण प्रत्यक्षप्रमाण से सम्भव नहीं है। अतः इन प्रमेयपदार्थों की सिद्धि के लिए अनुमानप्रमाण की आवश्यकता होती है अर्थात् परोक्षपदार्थों की प्रतीति अनुमानप्रमाण की आवश्यकता होती है अर्थात् परोक्षपदार्थों की प्रतीति अनुमानप्रमाण द्वारा होती है।

(ग) जो पदार्थ न तो प्रत्यक्षप्रमाण का विषय बनते हैं और न ही अनुमानप्रमाण द्वारा उनकी सिद्धि सम्भव है, अतिपरोक्ष कहलाते हैं। ऐसे पदार्थों की प्रतीति अर्थात् ज्ञान के लिए आगम या शब्दप्रमाण की परिकल्पना की गई है। जैसे– मोक्ष आदि परोक्ष विषयों को प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा इन्द्रियसन्निकर्ष से नहीं जाना जा सकता। अनुमानप्रमाण भी इसका ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है। अतः इसप्रकार के अत्यन्त परोक्ष पदार्थों की प्रतीति के लिए आगमप्रमाण अनिवार्य है। उसी से इनकी सिद्धि होती है।




(चित्र-११)

**विशेष–** १. प्रस्तुत कारिका की तत्त्वकौमुदीकार आदि टीकाकारों ने कुछ भिन्न व्याख्या भी की है।

**तदनुसार–** "सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमानप्रमाण के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों (मूलप्रकृति आदि) का ज्ञान होता है। जो परोक्ष विषय (स्वर्ग, अपवर्ग आदि) सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा भी अगम्य हैं, का ज्ञान आगमप्रमाण द्वारा होता है।"

स्पष्ट ही इस अर्थ में अनेक पदों की आवृत्ति करनी पड़ती है तथा क्लिष्ट कल्पना के कारण दुरुह हो गई है। जबकि सामान्य सी बात है कि इससे पूर्व प्रयुक्त कारिका में ग्रन्थकार ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाण के लक्षणों का उल्लेख किया है। पुनः इन प्रमाणों का किन-किन प्रमेय पदार्थों के ज्ञान के लिए प्रयोग होता है, इसका कथन इस कारिका में किया है। जो अभिप्राय अत्यन्त सरल एवं स्पष्टरूप से अभिव्यक्त हो रहा है।

२. चन्द्रिका टीकाकार आचार्य नारायण तीर्थ ने इन कारिका की व्याख्या प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों द्वारा किन-किन पदार्थों की प्रतीति होती है, इसी अभिप्राय को स्वीकार करते हुए प्रस्तुत की है।

३. कारिका में प्रयुक्त 'तु' पद का प्रयोग प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों को अलग करने के लिए हुआ है।

४. तत्त्वकौमुदीकार आदि व्याख्याकारों द्वारा की गई व्याख्या में प्रत्यक्षप्रमाण का उल्लेख न होने तथा शेषवत् एवं पूर्ववत् अनुमान का अध्याहार करने की क्लिष्टता के कारण औचित्य संदिग्ध प्रतीत होता है, फिर सामान्यतोदृष्ट पर पूर्वकारिका के समान एक समस्त (समासयुक्त) पद के रूप में भी प्रयुक्त नहीं हुआ है।

५. व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ इन प्रमेय पदार्थों का विशेषज्ञान करना ही सांख्यशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य है। अतः तीनों की प्रतीति विशेष कराने के लिए, किस पदार्थ का किस प्रमाण द्वारा प्रत्यक्ष होता है, इसका कथन करने हेतु इस कारिका की संरचना की गई है।

**अवतरणिका–** आकाशपुष्प, कछुए की पीठ के बाल तथा गधे के सीङ्ग के समान मोक्षादि अति-अतीन्द्रियपदार्थों के अभाव की परिकल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि अनेक कारणों से वस्तु के उपलब्ध होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता है, उन कारणों का प्रस्तुत कारिका में विस्तार से उल्लेख करते हुए कहते हैं—

**अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।**
**सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च॥७॥**

**पदच्छेद–** अतिदूरात् (अत्यधिक दूर होने से) सामीप्यात् (अत्यन्त समीप होने से) इन्द्रियघातात् (इन्द्रियों के नाश से) मनः अनवस्थानात् (मन के एक स्थान पर न होने से) सौक्ष्म्यात् (वस्तु के अत्यन्त सूक्ष्म होने से) व्यवधानात् (किसी आड आदि व्यवधान से) अभिभवात् (दब जाने से) समान-अभिहारात् (एक जैसी वस्तु में मिल जाने से) च (उत्पन्न न होने की स्थिति में)।

**अन्वय–** अतिदूरात्, (अति), सामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनः अनवस्थानात् (अति) सौक्ष्म्यात्, व्यवधानात्, अभिभवात् समानाभिहारात्, च (विषयाणाम् उपलब्धि न भवति)।

**अनुवाद–** वस्तु के अत्यन्त दूर होने से, (अत्यन्त) समीप होने से, इन्द्रियों के विकार (विनाश) से, मन के अन्यत्र होने से, (वस्तु के अत्यन्त) सूक्ष्म होने से, किसी वस्तु की आड से, किसी वस्तु से दब जाने से, समान वस्तु में मिल जाने से, अपने कारण से उत्पन्न ही न होने से (विषयों की उपलब्धि नहीं होती है)

**व्याख्या–** इससे पूर्व की कारिका में ग्रन्थकार ने, त्रिविध प्रमाणों के द्वारा सांख्यसम्मत प्रमेय पदार्थों की प्रतीति होती है, इस विषय पर प्रकाश डाला था। वहीं पर प्रतिपक्षी द्वारा की गई शङ्का है– 'जिन पदार्थों का प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि प्रमाणों द्वारा ज्ञान नहीं होता, उन्हें (मोक्षादि को) आप आप्तप्रमाण द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु उन्हें हम किसप्रकार स्वीकार करें?''

इस शङ्का के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि वस्तु के उपस्थित होने पर भी ऐसे अनेक कारण हैं, जिनसे उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे–

१. **अतिदूरात्–** जब कोई वस्तु बहुत दूर होती है, हमारी इन्द्रियाँ वहां तक नहीं, पहुँच पाती है। ऐसी स्थिति में वस्तु के होने पर भी उसका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे– विमान या पक्षी आकाश में बहुत अधिक ऊँचाई पर उड़ रहा हो, तो अत्यन्त दूर होने के कारण हमें उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसीप्रकार अनेक ग्रह-नक्षत्र आकाश में स्थित हैं, किन्तु अत्यन्त दूरी के कारण हमारी नेत्रेन्द्रिय उन्हें देखने में असमर्थ है। अतः हम उन्हें नहीं देख पाते हैं, किन्तु इसका यह तात्पर्य बिल्कुल नहीं लेना चाहिए, कि वे पदार्थ उपस्थित ही नहीं हैं।

२. **सामीप्यात्–** वस्तु यदि अत्यन्त समीप हो तो भी उसका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे– अपनी ही आँख में लगे हुए काजल को अत्यन्त निकट होने के कारण हम देख नहीं पाते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आँख में काजल नहीं लगा है। यहाँ अर्थ करते समय 'अतिदूरात्' पद से 'अनुवृत्ति' करके अर्थ करना होगा 'अतिसामीप्यात्' अत्यन्त समीप होने से।

इसीप्रकार यदि हम पुस्तक को आँखों के अत्यन्त पास ले आएँ तो हमें अक्षर स्पष्ट दिखाई नहीं देते हैं। अतः वस्तु के अत्यन्त निकट होने की स्थिति में भी हम वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं। अतः ऐसी स्थिति में वस्तु के अभाव की कल्पना उचित नहीं।

३. **इन्द्रियघातात्–** इन्द्रियों में विकार होने अथवा नाश होने के कारण भी हम वस्तु को देख नहीं पाते हैं। जैसे– यदि कोई व्यक्ति कान से बहरा है या अन्धा है तो उसे शब्द का, वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। जबकि शब्द एवं वस्तु उपस्थित रहती है।

४. **मनोऽनवस्थानात्–** यदि व्यक्ति का मन वहाँ नहीं होता जहाँ वह वस्तु का प्रत्यक्ष करता है तो भी इन्द्रियों द्वारा देखे जाने पर भी उसे वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होगा। जैसे– कोई छात्र कक्षा में बैठा है और अध्यापक पढ़ा रहा है, किन्तु छात्र का मन वहाँ न होकर कहीं अन्यत्र चला जाता है, तो वह अध्यापक द्वारा कही हुई बात को सुनने के पश्चात् भी नहीं सुन पाता है, क्योंकि अध्यापक द्वारा पूछे जाने पर वह उसका उत्तर नहीं देता है। वस्तुतः मन के अन्यत्र होने के कारण यह प्रत्यक्ष नहीं हुआ।

इसीप्रकार कामासक्त व्यक्ति का मन अन्यत्र होने से, वस्तु के प्रकाश में स्थित होने तथा इन्द्रिय का उससे सम्पर्क होने पर भी, प्रत्यक्ष नहीं होता है कालिदास की शकुन्तला कामासक्त होने के कारण मन की अनवस्था, होने से अपने सामने स्थित महर्षि दुर्वासा को न तो देख ही पाती है और न ही उसके द्वारा कही गई बात को सुन पाती है।

वस्तुतः वस्तु के प्रत्यक्ष में बाह्य इन्द्रिय के साथ-साथ अन्तः इन्द्रिय मन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। इन दोनों का एक साथ सही स्थिति में कार्य करना अत्यन्त आवश्यक है। एक भी वस्तु यदि अनुपस्थित रहती है, विकारयुक्त रहती है तो वस्तु का प्रत्यक्ष उसके रहने पर भी नहीं होगा।

५. **सौक्ष्म्यात्–** यदि वस्तु अत्यन्त सूक्ष्म हो आकार में अत्यन्त छोटी हो तो भी उसके उपस्थित रहने इन्द्रियों के स्वस्थ रहने, सावधान चित्त होने पर भी हम उसे देख नहीं पाते हैं। जैसे– हमारे वातावरण में वायु के अन्दर अनेक धूल के कण होते हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण हमें दिखाई नहीं देते हैं। उनके दिखाई न देने के कारण हम यह नहीं कह सकते कि वायु में धूल के कण नहीं हैं। इसीप्रकार ऐसी बहुत सी वस्तुएँ हैं, जिन्हें हम अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण देख नहीं पाते हैं। जैसे– दही में स्थित जीवाणु, वातावरण में स्थित छोटे जीवाणु, जिन्हें सूक्ष्मदर्शी यंत्र की सहायता से देखा जा सकता है।

६. **व्यवधानात्–** यदि वस्तु और इन्द्रिय के बीच कोई अन्य वस्तु व्यवधान के रूप में आ जाती है तो भी हम वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं। जैसे– कमरे के अन्दर रखी हुई वस्तु को दीवार के व्यवधान के कारण हम नहीं देख पाते हैं। मंच पर देखे जा रहे नाटक को अकस्मात् बीच में पर्दे का व्यवधान आने के कारण इन्द्रियों के स्वस्थ होने, मन के स्थिर होने तथा वस्तु के उपस्थित रहने पर भी हम देख नहीं पाते हैं।

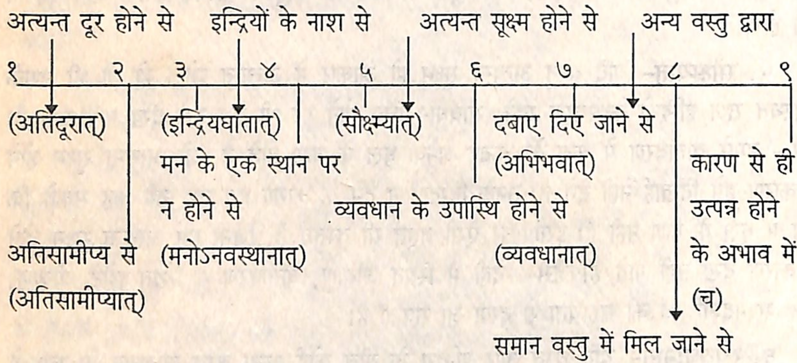
७. **अभिभवात्–** एक वस्तु द्वारा दूसरी वस्तु का अभिभव कर दिए जाने, दबा दिए जाने पर भी हमें वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे– आकाश में तारों के हर समय उपस्थित रहने पर भी हम केवल रात्रि में ही उनका प्रत्यक्ष कर पाते हैं, दिन में सूर्य के तीव्रप्रकाश से अभिभूत होने, दब जाने के कारण हम उनका प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं।

८. **समानाभिहारात्–** दो एक समान वस्तुओं के एक दूसरे में मिल जाने पर भी हम वस्तु को देख नहीं पाते हैं। जैसे– दूध की एक बूँद दूध में मिल जाने पर बूँद का प्रत्यक्ष नहीं होता। वर्षा का जल तालाब के जल में मिल जाने पर दिखाई नहीं देता, क्योंकि अपने समान गुण वाले तालाब के जल में वह पूर्णतया मिल गया है।

९. **च–** कारिका के अन्त में प्रयुक्त समुच्चयार्थक 'च' पद को भाष्यकारों ने, ''ऐसे विषयों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता जो अपने कारण से अभी उत्पन्न ही नहीं हुए हैं'', इस अर्थ की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त माना है। जैसे– दूध में दही विद्यमान है, किन्तु हमें उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है, क्योंकि वह अपने कारण दूध से अभी उत्पन्न नहीं हुआ है। इसीप्रकार बीज में अङ्कुर, विद्यमान होने पर भी उत्पन्न न होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता है।

इसप्रकार उपर्युक्त नौ कारणों से वस्तु के उपस्थित रहने पर भी हम प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं। अतः जिनका हम प्रत्यक्ष नहीं कर पाते ऐसी वस्तुओं का अभाव है, यह नहीं कहा जा सकता। ठीक इसीप्रकार सांख्यशास्त्रोक्त कुछ प्रमेय पदार्थ जिनका प्रत्यक्ष नहीं होता, अभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनकी सिद्धि अनुमान एवं आप्त प्राणों से सम्भव है। अतः प्रामाणिकों द्वारा उनकी सिद्धि का प्रयास किया जाना उचित है न कि उनका अभाव स्वीकार करना। इस सम्पूर्ण कारिका के भाव को इसप्रकार भी अभिव्यक्त किया जा सकता है–

**विषयों की प्रतीति न होने के कारण**




(चित्र-१२)

**विशेष–** १. सभी पदों में पञ्चमी विभक्ति का 'हेतु' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग हुआ है।

२. तत्त्वकौमुदीटीकाकार के अनुसार अगली कारिका में प्रयुक्त 'अनुपलब्धि' पद का इस कारिका में भी सिंहावलोकनन्याय से अन्वय करना चाहिए।

३. प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वस्तु के प्रत्यक्षरूप से दिखाई न देने पर हमें उसका पूर्णरूपेण अभाव नहीं मान लेना चाहिए, क्योंकि यदि मित्र के घर जाने पर हमें वह नहीं मिलता है, तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि वह इस संसार में ही नहीं है।

४. इसीप्रकार सांख्य के प्रधान और पुरुष आदि के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष दिखाई न देने की स्थिति में उनका अभाव मान लेना तार्किकों एवं प्रामाणिकों के लिए लेशमात्र भी उचित एवं युक्तियुक्त नहीं है।

५. कारिका की भाषा अत्यन्त सरल, भावबोधगम्य एवं प्रसादगुणयुक्त प्रयुक्त हुई है।

**अवतरणिका–** वस्तु के उपस्थित रहने पर भी प्रत्यक्ष न हो पाने के कारणों का उल्लेख करने के बाद, सांख्यशास्त्रोक्त नित्य एवं महत्त्वपूर्ण प्रमेय पदार्थ 'प्रकृति' के प्रत्यक्ष न होने में 'सूक्ष्मता' को कारण बताते हुए उसकी सिद्धि हेतु प्रस्तुत कारिका का अवतरण करते हैं–

**सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।**
**महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च॥ ८॥**

**पदच्छेद–** सौक्ष्म्यात् (सूक्ष्म होने से) तत् (उस प्रकृति की) अनुपलब्धिः (दृष्टिगोचर न होना) न (नहीं) अभावात् (अभाव के कारण) कार्यतः (कार्य से) तत् (उस अव्यक्त की) उपलब्धेः (प्रतीति होती है), महद्रादि (महत् आदि) तत् (वह) च (और) कार्यम्, (कार्य हैं), प्रकृति सरूपम् (प्रकृति के समान) विरूपम् (असमान अर्थात् विलक्षण) च (और)।

**अन्वय–** तत् (प्रकृतेः) सौक्ष्म्यात् अनुपलब्धिः (भवति), अभावात् न, कार्यतः तत् उपलब्धेः (भवति) च महत् आदि तत् कार्यम्, (यत्) प्रकृति सरूपम् च विरूपम् (अपि भवति)।

**अनुवाद–** उस (प्रकृति) की सूक्ष्म होने से उपलब्धि नहीं (होती है), अभाव के कारण नहीं। कार्य से उस (अव्यक्त) की उपलब्धि (हो जाती है) और महत् आदि उसके कार्य हैं, (जो) प्रकृति के समान और असमान (विलक्षण दोनों प्रकार के होते हैं)।

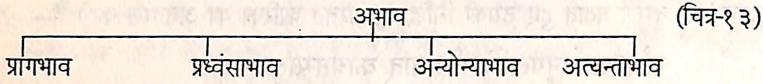
**व्याख्या–** सांख्यशास्त्र में कहे गए २५ प्रमेय पदार्थों में पुरुष और प्रकृति में से प्रकृति (जिसे प्रधान या अव्यक्त भी कहा जाता है) के दिखाई ने देने में ग्रन्थकार उसका अत्यन्त सूक्ष्म होना स्वीकार करते हुए कहते हैं कि उस अव्यक्त के दिखाई न देने में उसका अत्यन्त सूक्ष्म होना ही कारण है, न कि उसका अभाव, क्योंकि उसके महत् आदि कार्यों को देखकर उसके कारणरूप प्रकृति का सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

जिसप्रकार हमारे वायुमण्डल में धूल एवं जल के कण विद्यमान होते हुए भी हमें दिखाई नहीं देते हैं। उसीप्रकार सत्त्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था रूप यह प्रकृति, जो जगत् का आदिकारण है, अत्यन्त सूक्ष्म होने से हमारी इन्द्रियों द्वारा दिखाई नहीं देती है।

यह प्रकृति वस्तुतः अणुरूप में सूक्ष्म न होकर अपने महत् आदि सभी व्यक्त तत्त्वों रूप कार्यों के कण-कण में व्याप्त रहती है। अतः प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती है। अतः उसके दिखाई न देने का कारण उसकी सूक्ष्मता है, अभाव नहीं।

शास्त्रों में चार प्रकार के अभाव कहे गए हैं– प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ताभाव। (क) **प्रागभाव–** उत्पत्ति से पहले कार्य का कारण में स्थित रहना प्रागभाव (प्राक् अभाव) कहलाता है। जब तक घट उत्पन्न नहीं होता, अपने कारणरूप मिट्टी में विद्यमान रहता

है। वही घट का प्रागभाव है। (ख) **प्रध्वंसाभाव**– कार्य का नष्ट होकर अपने कारणरूप में मिल जाना ही प्रध्वंसाभाव कहा जाएगा। घड़ा टूट कर मिट्टी रूप में बदल जाए तो यह उसका प्रध्वंसाभाव कहलाएगा। (ग) **अन्योन्याभाव**– गाय में घोड़ेपन का अथवा घोड़े में गायपन का न होना, अन्योन्याभाव कहलाएगा। (घ) **अत्यन्ताभाव**– किसी वस्तु का इस सम्पूर्ण संसार में अस्तित्व ही न होना, अत्यन्ताभाव कहलाता है। जैसे– वन्ध्या (बांझ) स्त्री का पुत्र, आकाशपुष्प का कहीं भी, कभी भी अस्तित्व न होने से इनका यह अभाव अत्यन्ताभाव होगा।




(चित्र-१३)

(उत्पत्ति से पूर्व घट) (घट का मिट्टी रूप होना) (गो में अश्वत्व) (वन्ध्यासुत, आकाशपुष्प)

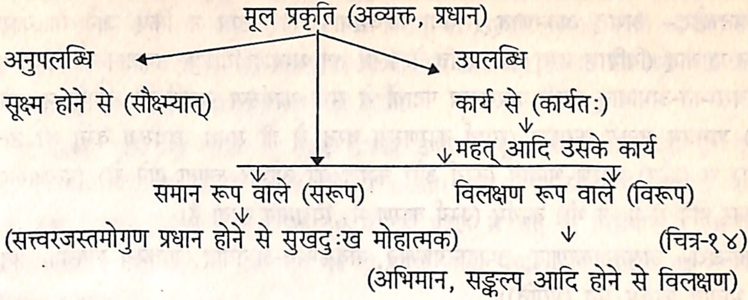
मूलप्रकृति रूप प्रधान का अभाव इन चारों से भिन्न होता है। इसलिए ग्रन्थकार ने कारिका में 'नाभावात्' पद का प्रयोग किया, जिससे उक्त प्रकार के सभी अभावों का प्रतिषेध स्वतः ही हो गया।

उक्त चारों प्रकारों से भिन्न अभाव सम्भव नहीं है। अतः प्रकृति के दिखाई न देने में उसका अभाव होना कारण नहीं है, अपितु उसका अत्यन्त सूक्ष्म होना ही मूल कारण है। अतिसूक्ष्म होने के कारण ही वह हमें दिखायी नहीं देती है।

उसके अस्तित्व की सिद्धि उसके कार्यों द्वारा हो जाती है।– "कार्यतः तत् उपलब्धेः।" महत् (बुद्धि), अहंकार आदि जिनका हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं, उस प्रकृति के ही कार्य हैं। अतः इन कार्यों से कारणरूप प्रकृति का अनुमान अवश्य किया जा सकता है, क्योंकि सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी भी कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जैसे– यदि वर्षा हो रही है तो उसके कारण मेघ का होना अनिवार्य है। उसके अभाव में वर्षा हो ही नहीं सकती।

ठीक इसीप्रकार महत् आदि कार्य हमें अनुभव गम्य हैं। अतः उनका कोई कारण अवश्य होगा और वह कारण अन्य कोई नहीं, अपितु सत्त्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था रूप प्रकृति ही है। अतः सामान्यतोदृष्ट अनुमानप्रमाण से उस अव्यक्त की सिद्धि हो जाती है।

अव्यक्त की सत्ता सिद्धि के बाद ग्रन्थकार उसके कार्य महत् आदि के स्वरूप का कथन करते हुए कहते हैं– 'प्रकृति सरूपं विरूपं च'। प्रकृति के कार्य महत् आदि उसके अनुरूप और विरूप दो प्रकार के होते हैं। प्रकृति में सत्त्व, रजस् और तमोगुण विद्यमान हैं, जो सुख, दुःख एवं मोहात्मक स्वरूप वाले हैं। महत् आदि कार्य भी सुख दुःख मोहात्मक स्वरूप वाले होने से अपने कारण प्रकृति के अनुरूप तो हैं ही, किन्तु इनमें अध्यवसाय, अभिमान एवं सङ्कल्प आदि गुण भी देखे जाते हैं जो इनके मूलकारण प्रकृति में नहीं हैं। अतः यही इनकी विरूपता अर्थात् वैसादृश्यता है। (सारूप्य एवं वैरूप्य का विस्तृत विवेचन ग्रन्थकार ने आगे १०वीं कारिकाओं में किया है)। अब हम यहाँ कारिका के अभिप्राय को चित्र द्वारा प्रस्तुत करते हैं–




**विशेष–** १. कारिका में प्रयुक्त 'तत्' पद, प्रधान एवं पुरुष में से, नपुंसकलिङ्ग द्वारा निर्दिष्ट होने से, प्रधान (अव्यक्त) का परामर्शक है। सांख्य में पुरुष को चेतन और प्रकृति को जड़ माना गया है।

२. सांख्यशास्त्र में पुरुष और प्रकृति दो तत्त्वों को नित्य माना गया है। इसलिए इनकी उत्पत्ति न होने से 'प्राक् अभाव' भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'प्रागभाव' उत्पत्ति से पूर्व ही होता है।

३. सामान्यतोदृष्ट अनुमान में कार्य से कारण की प्रतीति होती है। अतः प्रस्तुत कारिका में प्रकृति की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अभिव्यञ्जित हो रही है, क्योंकि महत् आदि कार्यों द्वारा ही उसके कारण प्रकृति की उपलब्धि (उपस्थिति) सिद्ध होती है।

४. सांख्य में पुरुष के अस्तित्व का ज्ञान भी अनुमानप्रमाण द्वारा होता है, किन्तु उसमें पुरुष का कोई कार्य हेतु नहीं होता, अपितु भोग्यरूपा प्रकृति का अस्तित्व ही उसकी उपस्थिति की सिद्धि में सहायक होता है। अतः प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार ने पहले प्रकृति के अस्तित्व को ही सिद्ध किया है।

५. विभिन्न दर्शन जगत् का मूलकारण अलग-अलग तत्त्वों को मानते हैं। जैसे– नैयायिक जगत् का मूलकारण 'परमाणु' को स्वीकार करते हैं। वेदान्ती 'ब्रह्म' को जगत् का मूलकारण मानते हैं, किन्तु सांख्य ने प्रकृति को जगत् का मूलकारण माना है।

६. प्रस्तुत कारिका सांख्यदर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' से अनुप्राणित है, जिसके अनुसार– प्रत्येक कार्य 'सत्' होता है जो उत्पत्ति से पहले अपने कारण में स्थित रहता है। वह न तो उत्पन्न होता है और न ही विनाश को प्राप्त होता है। उसका तो केवल अपने कारण से आविर्भाव और विनाश की स्थिति में तिरोभाव होता है। इसीलिए महत् आदि कार्य उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण प्रकृति में पहले से विद्यमान रहते हैं। सृष्टि के समय उनका केवल आविर्भाव होता है।

**अवतरणिका–** इसीलिए ग्रन्थकार अग्रिम कारिका में 'सत्यकार्यवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं–

**असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।**
**शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ ९॥**

**पदच्छेद–** असत् अकरणात् (सर्वथा अविद्यमान को उत्पन्न न किए जाने के कारण), उपादान-ग्रहणात् (विशिष्ट वस्तु की उत्पत्ति के लिए तत् सम्बद्ध विशिष्ट उपादान को ग्रहण करने से) सर्वसम्भव-अभावात् (सभी कारणरूप पदार्थों से सभी कार्यरूप पदार्थों की उत्पत्ति न होने के कारण) शक्तस्य शक्य करणात् (समर्थ कारणरूप वस्तु से ही समर्थ कार्यरूप वस्तु की उत्पत्ति होने से) च (और) कारण भावात् (कार्य और कारण की अभिन्न रूपता होने से) (प्रत्यक्षरूप में दृष्टिगोचर होने से पहले भी) कार्यम् (कार्य कारण में) विद्यमान रहता है।

**अन्वय–** असत्अकरणात्, उपादानग्रहणात्, सर्वसम्भव-अभावात्, शक्तस्य शक्यकरणात् च कारण भावात् कार्यम् सत् (भवति)।

**अनुवाद–** सर्वथा अविद्यमान को उत्पन्न न किए जा सकने से, विशेष पदार्थ को उत्पन्न करने के लिए उससे सम्बद्ध विशेष उपादान को ग्रहण करने से, सभी कारणरूप पदार्थों से सभी कार्यों की उत्पत्ति सम्भव न होने से, समर्थ कारणरूप वस्तु से ही समर्थ कार्यरूप वस्तु के उत्पन्न होने से, कार्य और कारण के परस्पर अभिन्न होने से (प्रत्यक्षरूप से दृष्टिगोचर होने से पहले भी) कार्य (कारण में) विद्यमान रहता है।

**व्याख्या–** 'सत्कार्यवाद' सांख्यदर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसके अनुसार– कार्य वास्तव में अपने कारण में विद्यमान रहता है अर्थात् कारण व्यापार से पहले वह अव्यक्तरूप में अपने कारण में वर्तमान रहता है। कार्य की उत्पत्ति अथवा नाश का अभिप्राय उस विषय की सत्ता का होना या न होना नहीं है, अपितु कारण से कार्य की उत्पत्ति का अर्थ– अव्यक्त से व्यक्त होना है एवं कार्य के 'नाश' से अभिप्राय 'व्यक्त से अव्यक्त होना' होता है।

सांख्य-शास्त्र के अनुसार 'न तो किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है और न ही विनाश होता है, अपितु 'उत्पत्ति' उसका अपने कारण से 'आविर्भाव' है एवं 'विनाश' उसका पुनः अपने कारण में 'तिरोहित' होना है।

इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए ग्रन्थकार ने पाँच हेतुओं का उल्लेख किया है–

१. **असत्-अकरणात्–** उत्पत्ति से पहले भी कार्य, कारण में विद्यमान रहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो कारण में असत् वस्तुरूप कार्य को भी प्रकट करने की सामर्थ्य होती, किन्तु कारण से विद्यमान कार्य की ही अभिव्यक्ति होती है। अविद्यमान अर्थात् असत् वस्तु को उत्पन्न करने की क्षमता उसमें नहीं है, क्योंकि तेल निकालने के लिए तिलों को ही व्यक्ति लेता है, चावलों को नहीं। वह जानता है कि चावलों से असत् वस्तु तेल की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः सत्कार्यवाद का सिद्धान्त मान्य है।

२. **उपादान-ग्रहणात्–** वस्तु के निर्माण के लिए मूलकारण, उपादान या समवायीकारण कहलाता है। जैसे यदि हम घड़ा बनाना चाहें तो उसका मूल हेतु मिट्टी लेना होगा, जिसके अभाव में घड़े का निर्माण असम्भव है। अतः मिट्टी घड़े का उपादान कारण हुआ, समवायी कारण हुआ।

किसी भी वस्तु की उत्पत्ति के लिए कर्ता उसके उपादान को ढूँढता है। जैसे मेज बनाने के लिए लकड़ी, मकान बनाने के लिए ईंट, लोहा, सिमेंट आदि, क्योंकि उपादान में ही कार्य

उत्पत्ति की क्षमता होती है। यदि असम्बद्ध या असत् की उत्पत्ति सम्भव होती अर्थात् उपादान ग्रहण करने का नियम न होता, तो व्यक्ति रेत से भी तेल प्राप्त कर सकता था। उसे तेल प्राप्ति के लिए तिलों को ही लेने की आवश्यकता नहीं होती।

इसीप्रकार दही प्राप्त करने के लिए उसका उपादान दूध लेना आवश्यक है। दूध के अतिरिक्त अन्य वस्तु से दही की प्राप्ति नहीं हो सकती। अब प्रश्न उठता है कि दही के लिए दूध ही क्यों लिया? उसका उत्तर है कि दूध में दही पहले से सत् है, विद्यमान है, अन्य वस्तु में नहीं। इसीलिए दही प्राप्त के लिए दूध का ही ग्रहण किया गया। अतः सांख्य का सत्कार्यवाद का सिद्धान्त मान्य है।

३. **सर्वसम्भव-अभावात्–** यदि हम सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान नहीं करते हैं, तो उस स्थिति में प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति माननी होगी। जैसे– तेल को रेत, चावल, गेहूँ आदि सभी पदार्थों से प्राप्त होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् कारण में पहले से ही कार्य विद्यमान रहता है। इसीलिए निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य की उत्पत्ति होती है। सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती। अतः उत्पत्ति से पूर्वकाल में भी कार्य को कारण में 'सत्' मानना उचित है।

४. **शक्तस्य शक्यकरणात्–** शक्त अर्थात् कार्य विशेष को उत्पन्न करने की शक्ति रखने वाला कारण ही, शक्य अर्थात् उस कार्य को (जिसे उत्पन्न करने की कारण में शक्ति है), उत्पन्न करता है। इसलिए सत्कार्यवाद का सिद्धान्त मान्य है। जिसप्रकार तिलों में ही तेल को उत्पन्न करने की शक्ति है, बालू में नहीं। अतः तेलरूप कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति वाला कारण 'तिल' शक्तकारण हुआ और वह तेल रूप कार्य 'शक्य' को उत्पन्न करता है।

यदि कारण और कार्य में स्थित शक्त और शक्यरूप सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करें तो एक ही वस्तु से असम्बद्ध वस्तुओं की उत्पत्ति भी माननी होगी, किन्तु ऐसा नहीं होता है। इसीलिए शक्त और शक्य का सम्बन्ध कारण एवं कार्य में मानने के कारण सत्कार्यवाद ही उचित है।

५. **कारण-भावात्–** कार्य, कारण से अलग न होकर कारण का ही एक रूप होता है। वस्तुतः कारण और कार्य परस्पर सापेक्ष हैं, क्योंकि किसी को कार्य तभी कहा जाता है जब उसका कोई कारण होता है तथा कारण की अपेक्षा से ही उसे कार्य माना जाता है। इन्हें एक ही वस्तु के दो रूप भी कह सकते हैं, क्योंकि कार्य ही अविकसित रूप में कारण है तथा कारण ही विकसित रूप में कार्य है।

**जैसे–** दही अपने मूलकारण दूध का विकसित रूप ही है और इस दही रूप में आने से पहले वह अपने मूलकारण दूध में सत् अर्थात् विद्यमान था, तभी उसका आविर्भाव (प्रकटीकरण) सम्भव हो सका। अतः इन सब कारणों से सत्कार्यवाद का सिद्धान्त मान्य है।

इसी सिद्धान्त के कारण सांख्यशास्त्र सम्पूर्ण विश्व प्रपञ्च रूप कार्य को अपने मूलकारण प्रकृति (अव्यक्त अथवा प्रधान) में अव्यक्त रूप से स्वीकार करता है। इस सिद्धान्त को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं।

४. कारणभावात्

(चित्र-१५) (कारण कार्य अभिन्न हैं)

(दूध का विकसित रूप ही दही है)

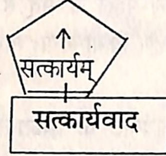
५. शक्तस्य शक्य करणात्

(दही के लिए दूध ही समर्थ कारण है)

३. सर्वसम्भव-अभावात्

(सभी वस्तुओं से सभी की उत्पत्ति सम्भव नहीं)

(तिल से तेल प्राप्य दूध, जल प्राप्य नहीं)




असत्-अकरणात् १.

**सत्कार्यवाद**

२. उपादान-ग्रहणात्

(बालू से तेल नहीं)

(घड़े के निर्माण हेतु मिट्टी लेनी होगी)

**विशेष**– १. कारण और कार्य के परस्पर सम्बन्ध के विषय में दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद रहा है— (क) बौद्ध कहते हैं कि 'असत् से सत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है। (ख) अद्वैत वेदान्तियों का मानना है कि 'यह सम्पूर्ण सृष्टिरूप प्रपञ्च एक सत् पदार्थ ब्रह्म का विवर्त अर्थात् आभासमात्र है।' उसकी वास्तविक सत्ता नहीं है।' (ग) न्याय एवं वैशेषिक दार्शनिकों की मान्यता है कि सत् पदार्थ से असत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है। (घ) किन्तु सांख्यमतानुयायी सत् पदार्थ से सत् की उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं।

२. सांख्यदर्शन वस्तुतः अधिक व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित प्रतीत होता है, क्योंकि सत्कार्यवाद के प्रतिपादन में सभी हेतु अत्यन्त स्वाभाविक एवं व्यावहाहिक हैं।

३. इस दर्शन का मूल आधार सत्कार्यवाद का सिद्धान्त ही है।

४. गीता में भी सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है।

**''नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'' (गीता० २।१६)**

५. सांख्यदर्शन के भाष्यकारों ने 'सत्कार्यवाद का अत्यन्त विस्तार से विवेचन किया है। इस कारिका की विशेष व्याख्या के लिए तत्त्वकौमुदी, गौडपादभाष्य, जयमङ्गला टीका विशेष रूप से दर्शनीय हैं।

६. सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिए दिए गए पाँचों तर्क वस्तुतः अकाट्य प्रतीत होते हैं। जिन्हें सामान्य व्यक्ति भी सहज ही समझ लेता है।

**अवतरणिका**– ग्रन्थकार ने कारिका आठ (सौक्ष्म्याद् इत्यादि) में मूल प्रकृति से उत्पन्न महत् आदि कार्यों को प्रकृति के सरूप अर्थात् अनुरूप और विरूप प्रतिपादित किया। प्रस्तुत कारिका में उससे रूपता एवं विरूपता का प्रतिपादन कर रहे हैं— अर्थात् कारणरूप अव्यक्त के क्या गुण हैं तथा कार्यरूप व्यक्त समूह किस गुणों वाला है? का वर्णन ही प्रस्तुत कारिका का विषय है—

**हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।**
**सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥ १०॥**

**पदच्छेद–** हेतुमत् (अपने कारण से युक्त), अनित्यम् (विनाशशील), अव्यापि (सीमित प्रदेश में रहने वाला), सक्रियम् (क्रियाशील), अनेकम् (अत्यधिक संख्या वाला), आश्रितम् (अपने मूल कारण पर अवलम्बित), लिङ्गम् (मूलकारण के अस्तित्व को बताने वाला), सावयवम् (अवयवों से युक्त), परतन्त्रम् (अपने कारण के अधीन रहने वाला) व्यक्तम् (महत् आदि प्रकट पदार्थ) विपरीतम् (विपरीत स्वभाव वाला) अव्यक्तम् (प्रधान या प्रकृति है)।

**अन्वय–** (महदादि) व्यक्तम्, हेतुमत्, अनित्यम्, अव्यापि, सक्रियम्, अनेकम्, आश्रितम्, लिङ्गम्, सावयवम् (च) परतन्त्रम् (भवति), (अस्य) विपरीतम् अव्यक्तम् (अस्ति)।

**अनुवाद–** (महत् आदि) व्यक्त (पदार्थ) अपने कारण से युक्त, विनाशशील, सीमित प्रदेश में रहने वाला, क्रियाशील, अनेक संख्या वाला, अपने मूल कारण पर आश्रित, मूलकारण के अस्तित्व को सङ्केतित करने वाला, अवयवों से युक्त, अपने कारण के अधीन रहने वाला (होता है), (किन्तु इसके) विपरीत (गुणों वाला) अव्यक्त है।

**व्याख्या–** सांख्य की सृष्टिप्रक्रिया में अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त प्रमेय पदार्थ महत् आदि की उत्पत्ति होती है अर्थात् व्यक्त मूलप्रकृति का प्रथम परिणाम व्यक्त पदार्थ हैं। सत्त्व रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था का नाम ही मूलप्रकृति अर्थात् अव्यक्त है। सृष्टि अवस्था में परस्पर अभिभव के कारण गुणत्रय की साम्यावस्था में वैषम्य उपस्थित हो जाता है। गुणत्रय के इस वैषम्य के कारण ही अव्यक्त प्रकृति और व्यक्त पदार्थों के स्वरूप में अन्तर रहता है। उसी अन्तर को प्रस्तुत कारिका में प्रतिपादित किया गया है।

कारिका के प्रथम तीन चरणों में ग्रन्थकार ने व्यक्त पदार्थों के नौ गुणों– हेतुमत्, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिङ्ग, सावयव और परतन्त्र, का उल्लेख करके चतुर्थ चरण में मात्र इतना कहा कि 'अव्यक्त इन गुणों के विपरीत गुणों वाला होता है। जिसकी व्याख्या स्वतः हो जाती है। अब हम इन गुणों का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत करते हैं–

१. **हेतुमत्–** महत् तत्त्व से लेकर आकाशादि स्थूलपर्यन्त सभी पदार्थों को यहाँ 'व्यक्त' कहा गया है, क्योंकि ये सभी प्रत्यक्षप्रमाण के विषय होते हैं। इनकी अन्य विशेषताओं में से एक विशेषता यह है कि इनकी किसी न किसी कारण से उत्पत्ति हुई है। जैसे– पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति के कारण पञ्चतन्मात्राएँ हैं, उनका भी अहंकार कारण है। अहंकार का भी कारण महत् तत्त्व है तथा महत् की उत्पत्ति भी मूलप्रकृति से होने के कारण, मूलप्रकृति महत् का कारण हुई। इसप्रकार सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थ सकारण (हेतुमत्) हुए। 'हेतु' का अर्थ है, कारण उसे 'मतुप्' प्रत्यय करके बना 'हेतुमत्' अर्थात् कारणवाला। सभी व्यक्त पदार्थ किसी न किसी कारण वाले हैं अर्थात् किसी न किसी कारण से उत्पन्न हुए हैं।

इसके विपरीत 'अव्यक्त' प्रकृति का कोई कारण नहीं है अर्थात् वह 'अहेतुमत्' है, क्योंकि सांख्यसिद्धान्त में दो पदार्थ पुरुष और प्रकृति (अव्यक्त) को नित्य माना गया है। उनकी कभी भी किसी भी पदार्थ से उत्पत्ति नहीं होती। अतः किसी से उत्पन्न न होने के कारण किसी भी पदार्थ से उत्पत्ति नहीं होती। अतः किसी से उत्पन्न न होने के कारण 'अव्यक्त' व्यक्त पदार्थों से विपरीत गुण वाला अर्थात् 'अहेतुमत्' हुआ।

२. **अनित्यम्–** व्यक्त पदार्थों की दूसरी विशेषता उनका 'अनित्य' होना है। क्योंकि सभी व्यक्त पदार्थ किसी न किसी कारण के कार्य हैं और जो कार्य होता है वह अनित्य होता है। एक सर्वमान्य सिद्धान्त है जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश अवश्यभावी है। सभी व्यक्त पदार्थ हेतुमत् होने से कार्य हैं और कार्य अनित्य होता है। अतः ये सभी व्यक्ति 'अनित्य' हुए। यहाँ अनित्यता से अभिप्राय उनकी विनाशशीलता, आविर्भाव और तिरोभाव से ही है, क्योंकि सांख्य के अनुसार उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य अपने कारण में सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहता है। कारण व्यापार के बाद उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है।

इसके विपरीत 'अव्यक्त' अर्थात् प्रकृति नित्य है, क्योंकि वह किसी का कार्य नहीं होती, किसी से प्रकट नहीं होती। इसकारण अविनाशी अर्थात् नित्य है। वह तो सत्त्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था स्वरूपा है।

३. **अव्यापि–** अभी व्यक्त पदार्थों की दो विशेषताओं हेतुमत् और अनित्यता का कथन किया। इन दोनों विशेषताओं के कारण कार्यरूप व्यक्त पदार्थ देशकाल की सीमाओं में बंधे होने से अव्यापक भी हैं। जिस तत्त्व की अधिक स्थान पर स्थिति हो वह व्यापक, अपेक्षाकृत कम स्थान में रहने वाला व्याप्य होता है। जैसे– धूम और अग्नि में, अग्नि अपेक्षाकृत अधिक स्थान पर होता है। अतः व्यापक है, क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र धूम हो, यह अनिवार्य नियम नहीं है। जैसे– तप्त लोहे, गैस आदि में अग्नि की उपस्थिति तो होती है, किन्तु धुआँ नहीं होता। इस दृष्टि से धूम व्याप्य हुआ और अग्नि व्यापक।

यही स्थिति मूलप्रकृति रूप अव्यक्त और महत् आदि व्यक्त पदार्थों की है। इनमें मूलप्रकृति व्यापक है, क्योंकि उसकी सर्वत्र स्थिति है तथा व्यक्त पदार्थ व्याप्य हैं अर्थात् अव्यापक हैं, क्योंकि उनकी स्थिति स्थान और काल तक सीमित होती है। यों भी कारण और कार्य में व्यापक और व्याप्य का सम्बन्ध होता है। अतः कारणरूप प्रकृति (अव्यक्त) व्यापक और कार्यरूप व्यक्त पदार्थ (महत् आदि) का अव्यापक, (व्याप्य) होना स्वाभाविक ही है।

इस प्रसङ्ग में एक शङ्का हो सकती है कि महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ भी तो अन्य पदार्थों को उत्पन्न करने से 'कारण' हैं। अतः 'व्यापक' हैं, क्योंकि कारण, कार्य की अपेक्षा अधिक स्थलों पर रहता है। पुनः उन्हें अव्यापक क्यों कहा गया?

इसका उत्तर है कि महत् आदि तत्त्व भी यद्यपि व्यापक हैं, किन्तु वे मूलकारण रूप प्रकृति (अव्यक्त) की अपेक्षा कम व्यापक होने से अव्यापी ही कहलाएगें। इसके विपरीत अव्यक्त अर्थात् प्रधान तो सर्वाधिक व्यापक होने से 'व्यापक' ही कहा जाएगा।

इस प्रसङ्ग में एक बात और भी उल्लेखनीय है कि अव्यक्त के समान ही सांख्यदर्शन पुरुष को भी व्याप्त ही स्वीकार करता है। जिसकी व्याख्या कारिका संख्या ११ में की गई है।

४. **सक्रियम्–** क्रियाशीलता व्यक्त पदार्थों का एक महत्त्वपूर्ण गुण है। इसके विपरीत अव्यक्त (प्रधान) निष्क्रिय होता है। यद्यपि मूलप्रकृति (अव्यक्त) सत्त्व, रजस् और तमोगुण वाली है और उनकी क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप ही सृष्टि का क्रम प्रारम्भ होता है, किन्तु सृष्टि के

आरम्भ में जब ये गुण समान अवस्था में रहते हैं। उस समय यह निष्क्रिय ही होती है, उसी स्थिति को लक्ष्य करके यहाँ उस (अव्यक्त) को निष्क्रिय कहा है।

यहाँ क्रियापद का प्रयोग केवल कर्म की अभिव्यक्ति के लिए नहीं हुआ है, अपितु यहाँ उसका विस्तृत अर्थ में प्रयोग हुआ है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इसे आलोचन, सङ्कल्प, अभिमान, अध्यवसाय रूप क्रिया अर्थ में प्रयुक्त माना है। आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से भी यह तथ्य सिद्ध हो चुका है कि प्रत्येक पदार्थ में चाहे वह जड़ हो या चेतन न्यूट्रॉन प्रोटोन आदि तत्त्व सक्रिय रहते हैं, चक्कर काटते रहते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यक्त पदार्थ ग्रह, नक्षत्रादि भी गतिशील हैं। अतः व्यक्त प्रमेय पदार्थों को यहाँ सक्रिय कहा गया है। जबकि अव्यक्त यानि प्रकृति प्रलयावस्था में निष्क्रिय होती हैं।

५. **अनेकम्**– सांख्य में पुरुषबहुत्व के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गई है। अतः व्यक्त अनेक हुए, क्योंकि प्रत्येक पुरुष के साथ बुद्धि आदि का अलग-अलग होना स्वाभाविक है। इसीप्रकार पृथिवी आदि पर भी घट, पट आदि के अनेक सजातीय भेदों की उपस्थिति से अनेकता सम्भव है, किन्तु अव्यक्त का कोई भी सजातीय नहीं है। अतः वह इसके विपरीत एक है।

यहाँ कोई यह शङ्का कर सकता है कि अव्यक्त भी तो त्रिगुणात्मिका होने से एक नहीं है? उसका उत्तर है– 'क्योंकि वह तीनों गुणों का समूह रूप है, भिन्न-भिन्न गुणों का कोई अस्तित्व नहीं है। अतः उसे तीन नहीं, अपितु एक कहना ही उचित है।

६. **आश्रितम्**– समस्त व्यक्त पदार्थ अपने-अपने कारण पर आश्रित रहते हैं जैसे– अङ्कुर अपने कारण बीज पर आश्रित होता है। आश्रय के अभाव में आश्रित का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। इस प्रसङ्ग में शङ्का की जा सकती है कि जब सांख्य कारण और कार्य में अभेद को स्वीकार करता है तो कार्यरूप व्यक्त को अपने कारण पर आश्रित कैसे कहा जा सकता है?

इसका उत्तर है कि ऐसा व्यवहार की दृष्टि से कहा गया है, यद्यपि कारण और कार्य में वास्तविक भेद नहीं होता है, किन्तु व्यवहार के लिए उसमें आश्रय-आश्रयी की कल्पना कर ली जाती है। यह भेद ठीक वैसा ही है जैसे कोई कहे– 'वन में आम का वृक्ष'। यहाँ वन और वृक्ष में अभेद होते हुए भी भेद की परिकल्पना कर ली गई है।

इसके विपरीत अव्यक्त किसी पर आश्रित नहीं होता है, क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं होता, जिसके साथ इसप्रकार के आश्रय-आश्रयीभाव की कल्पना की जा सके। यदि कोई कहे कि पुरुष के साथ आश्रय की कल्पना क्यों नहीं कर लेते? वह भी उचित नहीं है, क्योंकि दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व सांख्य ने स्वीकार किया है। दोनों नित्यतत्त्व हैं। अन्तर केवल चेतन, प्रकाशवान् और जड़ होने का है। जिसका विस्तार से ११वीं कारिका में आगे उल्लेख किया गया है।

७. **लिङ्गम्**– व्यक्त पदार्थों की अग्रिम विशेषता है कि वें (महत् आदि) अपने कारण मूलप्रकृति के अनुमापक हेतु हैं। कारिका संख्या ८ में कहा गया था कि महत् आदि व्यक्त

पदार्थरूप कार्यों से उनके कारण 'अव्यक्त' प्रकृति की सिद्धि होती है। यद्यपि वह मूलप्रकृति सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देती है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उस मूलप्रकृति का अभाव है।

अतः स्पष्ट ही ये सम्पूर्ण व्यक्तपदार्थ अव्यक्त की सिद्धि में अनुमापक हेतु अर्थात् लिङ्ग है। इसीलिए कारिका में लिङ्गम् पद का प्रयोग किया गया है, किन्तु कुछ भाष्यकारों ने 'लिङ्ग' की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। तदनुसार– ''लयं गच्छति इति लिङ्गम्'', क्योंकि व्यक्त प्रलयावस्था में अपने-अपने कारण में लय को प्राप्त हो जाते हैं। अतः वे सब लिङ्ग हैं और अव्यक्त (प्रकृति) का कोई कारण न होने से वह 'लय' को अर्थात् विलय को प्राप्त नहीं होती। अतः वह 'अलिङ्ग' है। यहाँ लय का अभिप्राय तिरोभाव से है, विनाश से नहीं।

८. **सावयवम्–** सम्पूर्ण व्यक्तपदार्थ अवयव युक्त हैं। वे अपने ही प्रकार के अन्य भेदों के साथ मिश्रित हो सकते हैं। उनका प्रत्यक्षरूप से अनुभव भी किया जा सकता है। जैसे– पृथ्वी, आकाश, अग्निज़ल आदि पस्पर संयुक्त रहते हैं, जिनकी हमें अनुभूति भी होती है। इसीप्रकार मन, बुद्धि, अहंकार आदि परस्पर संयुक्त रहते हैं तथा अनुभवगम्य भी हैं, किन्तु इसके विपरीत अव्यक्त निरवयव है, क्योंकि बुद्धि (महत्) आदि के साथ उसका संयोग सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु तादात्म्य सम्बन्ध होता है।

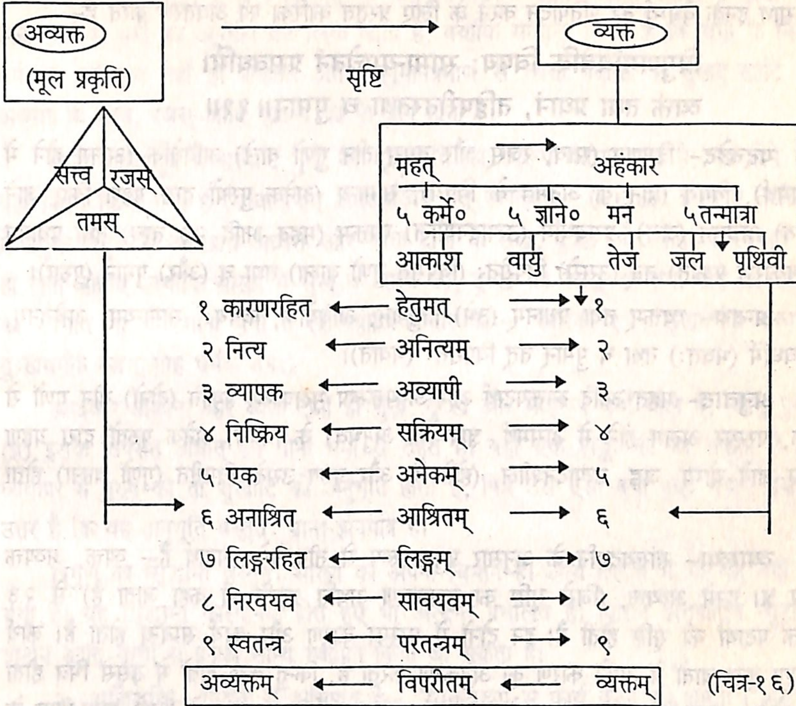
यहाँ प्रतिपक्षी शङ्का कर सकता है कि मूलप्रकृति (अव्यक्त) में भी सत्त्व, रजस् और तमोगुण होने से उसे सावयव कहना चाहिए था? उसका उत्तर है– प्रथम, तो वे तीनों व्यक्त पदार्थों के समान प्रत्यक्ष नहीं होते। द्वितीय, वे तीनों परस्पर समान स्थिति में होते हुए भी दूध और पानी के समान सम्पृक्त रूप से मिले होते हैं। अतः उनका परस्पर संयोग सम्बन्ध न होकर तादात्म्य सम्बन्ध होने से मूलप्रकृति को निरवयवा कहा गया है।

९. **परतन्त्रम्–** सभी व्यक्तपदार्थ अपने-अपने कारण से उत्पन्न होते हैं। अतः परतन्त्र हैं। उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अर्थात् यदि उनको मूलकारण का सहयोग प्राप्त न हो तो वे कुछ भी करने में असमर्थ हैं। इतना ही नहीं उनका स्वयं का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है।

इसके विपरीत अव्यक्त (प्रकृति) का कोई अन्य कारण न होने से वह पूर्णतया स्वतन्त्र है। महत् आदि व्यक्त तत्त्वों को उत्पन्न करने में पूर्णतया स्वतन्त्र है। उसके लिए उसे किसी के सहयोग की आवश्यकता नहीं है।

इसप्रकार व्यक्तपदार्थों की क्या-क्या विशेषताएँ हैं। इसका कथन करके मूल प्रकृति से उनकी भिन्नता का प्रतिपादन ग्रन्थकार ने 'तत् विपरीतम् अव्यक्तम्' कहकर कर दिया है। इसका अभिप्राय है कि जो गुण हमने व्यक्त पदार्थों में बताए हैं, उनके ठीक विपरीत अव्यक्त में गुण होते हैं अर्थात् अव्यक्त-कारणरहित, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, लिङ्गरहित, निरवयव तथा पूर्णतया (सृष्टि कार्य में) स्वतन्त्र होती है। कारिका के सम्पूर्ण अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

**अव्यक्त एवं व्यक्त का वैशिष्ट्य**




(चित्र-१६)

**विशेष–** १. सांख्यकारिका दर्शनशास्त्र का प्रकरणग्रन्थ है, जिसमें सभी सांख्य सिद्धान्तों को मात्र ७० कारिकाओं में अत्यन्त सरल एवं सूत्रात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत कारिका इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

२. मूर्त पदार्थों से (जिनका हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं) अमूर्त का ज्ञान सामान्य व्यक्ति के लिए भी सरल होता है। इसीलिए यहाँ ग्रन्थकार ने पहले व्यक्त के गुणों का उल्लेख करके अव्यक्त (जिसका हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते) को समझाने का सफल प्रयास किया है।

३. लिङ्ग पद की दो प्रकार से व्युत्पत्ति करके अर्थ किया गया है—

(क) लिङ्गयति ज्ञापयति इति लिङ्गम्।

(ख) लयं गच्छति इति लिङ्गम्। इनमें दूसरी व्युत्पत्ति को अधिक प्रशस्य माना गया है।

४. सक्रिय पद की व्युत्पत्ति भाष्यकारों ने इसप्रकार की है— क्रिययागमनादिरूपपरिस्पन्दनात्मिकया आकुञ्चनप्रसारणादिसंवरणरूपया सहितं यद् भवति तत् सक्रियम्।

**अवतरणिका–** सांख्य के प्रमुख तीन प्रमेय पदार्थों व्यक्त, 'अव्यक्त' और 'ज्ञ' में से

व्यक्त और अव्यक्त पदार्थों के वैधर्म्य का प्रतिपादन करने के बाद इन दोनों के साधर्म्य और पुरुष के साथ इनके वैधर्म्य का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत कारिका का अवतरण करते हैं—

**त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।**
**व्यक्तं तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥ ११॥**

**पदच्छेद–** त्रिगुणम् (सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुणों वाले) अविवेकि (अलग होने में असमर्थ), विषय (ज्ञान या अनुभव के विषय), सामान्य (अनेक पुरुषों द्वारा ग्रहण किए जाने योग्य) अचेतन (जड़), प्रसवधर्मि (उत्पादनशील) व्यक्तम् (महत् आदि २३ तत्त्व) तथा प्रधानम् (मूलकारण प्रकृति) तत् (उससे) विपरीतः (विपरीत गुणों वाला) तथा च (और) पुमान् (पुरुष)।

**अन्वय–** व्यक्तम् तथा प्रधानम् (उभे) त्रिगुणम्, अविवेकि, विषयः, सामान्यम्, अचेतनम्, प्रसवधर्मि (भवतः) तथा च पुमान् तत् विपरीतः (भवति)।

**अनुवाद–** महत् आदि व्यक्तपदार्थ और अव्यक्तरूप मूलकारण प्रकृति (दोनों) तीन गुणों से युक्त, परस्पर अलग होने में असमर्थ, ज्ञान (या अनुभव) के विषय, अनेक पुरुषों द्वारा ग्रहण किए जाने योग्य, जड़, उत्पादनशील, (होते हैं) और पुरुष उसके विपरीत (गुणों वाला) होता है।

**व्याख्या–** सांख्यदर्शन के अनुसार प्रमुख रूप से तीन प्रमेय पदार्थ हैं— व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ। इनमें अव्यक्त, (जिसे सृष्टि का मूलकारण अर्थात् प्रकृति भी कहा जाता है) से २३ व्यक्त पदार्थों की सृष्टि होती है। इन दोनों में परस्पर कारण और कार्य सम्बन्ध होता है। कार्य हमेशा कुछ बातों में अपने कारण का अनुकरण करता है, किन्तु कुछ बातों में उससे भिन्न होता है। जैसे— माता-पिता रूप कारण से उत्पन्न पुत्र रूप कार्य कुछ बातों में अपने माता-पिता के गुणों का अनुकरण करता है, किन्तु कुछ गुणों में वह उनसे भिन्नता रखता है।

ठीक इसीप्रकार अव्यक्तरूप कारण से उत्पन्न, व्यक्तरूप कार्य (दोनों) में कुछ बातों में परस्पर समानता है तथा कुछ में दोनों में विषमता है। विषमताओं का इससे पूर्व की कारिका (हेतुमत इत्यादि) में कथन किया जा चुका है। अब इन दोनों की परस्पर समानता का कथन कर रहे हैं। कारिका के प्रथम तीन चरणों में इनका साम्य कथन करने के बाद चतुर्थ चरण में सांख्य के तृतीय, किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रमेय पदार्थ ज्ञ अर्थात् 'पुरुष' का इन दोनों (अव्यक्त और व्यक्त) से वैषम्य भी प्रतिपादित किया गया है। जिसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. **त्रिगुणम्–** अव्यक्त (प्रकृति) सत्त्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था है और उससे ही व्यक्त (२३ पदार्थ महत् आदि) की उत्पत्ति क्रमशः महत्, अहंकार आदि के रूप में होती है, जिसका हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं। अतः कारणरूप प्रकृति (अव्यक्त) के सत्त्व, रजस् और तमोगुण कार्यरूप व्यक्तपदार्थों में भी पाए जाते हैं। यह व्यक्त और अव्यक्त दोनों में प्रथम साम्य है। कारिका में प्रयुक्त गुण पद पारिभाषिक है। जिसका अभिप्राय सत्त्व, रजस् और तमस् से है, जिन्हें सांख्य मान्यता प्रदान करता है। इनकी संख्या तीन है। इसीलिए कारिका में त्रिगुण पद का प्रयोग किया गया है।

वस्तुतः इन तीनों गुणों का दर्शन न तो अव्यक्त में होता और न ही व्यक्त पदार्थों में, अपितु इनके धर्म सुख, दुःख और मोह की अनुभूति अथवा प्रतीति व्यक्त पदार्थों में होती है। अतः धर्म से धर्मी का अनुमान कर लिया जाता है, क्योंकि सामान्य नियम है कि धर्मी के बिना धर्म का अस्तित्व नहीं हो सकता। अतः अनुमानप्रमाण से व्यक्त पदार्थों के सुखदुःखादि से अव्यक्त के सत्त्व, रजस् आदि स्वरूप का भी ज्ञान होता है।

किन्तु सांख्यसूत्र में सत्त्वादि गुणों का मूलप्रकृति का स्वरूप बताया गया है, धर्म होने का वहाँ निषेध किया गया है (सत्त्वादीनाम् अतद्धर्मत्वम् तत् रूपत्वात्— (६।३८)। इसलिए कारिका में प्रयुक्त त्रिगुण से अभिप्राय अव्यक्त और व्यक्त दोनों के सुख, दुःख और मोहरूप स्वभाव से ही लेना चाहिए, क्योंकि सांख्य में सुख को सत्त्व का, दुःख को रजस् का तथा मोह को तमस् का स्वभाव या धर्म माना गया है (प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः— कारिका १२, सुखधर्मकं सत्त्वम्, दुःखधर्मकं रजः, मोह धर्मकं तमः)

इसप्रकार अव्यक्त और व्यक्त दोनों ही सुख, दुःख और मोहरूप धर्मों वाले हैं, किन्तु पुरुष (ज्ञ) इसके विपरीत अर्थात् इन तीनों धर्मों से रहित है। यहाँ एक शङ्का की जा सकती है कि व्यवहार में पुरुष को तो सुखादि की अनुभूति होती है, फिर उसे ऐसा क्यों कहा गया? इसका उत्तर है कि वह अनुभूति वस्तुतः भ्रान्त-ज्ञानमात्र है।

त्रिगुण का सिद्धान्त वस्तुतः सांख्य का अपना चिन्तन है। अन्य दर्शनों में भी वह यहीं से गया है। यह सिद्धान्त काल्पनिक होते हुए भी अत्यन्त प्रचलित है। विज्ञान प्रतिपादित न्यूट्रॉन, प्रोटॉन आदि तत्त्वों से इनका साम्य स्थापित किया जा सकता है।

२. **अविवेकि-** विवेक से अभिप्राय है— 'स्वतन्त्ररूप से कार्य करने की क्षमता'। अव्यक्त (प्रकृति) और व्यक्त (महत् आदि) दोनों में स्वतन्त्ररूप से कार्य करने की क्षमता का अभाव है। अतः इन दोनों को अविवेकी कहा गया है। यह इन दोनों में दूसरा साम्य है। सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति जड़ है, जब उस पर चेतन पुरुष का प्रकाश पड़ता है तो उसमें चेतनता का संचार होता है और सृष्टि का क्रम प्रारम्भ होता है। यदि उस पर पुरुष का प्रकाश न पड़े तो सृष्टिकार्य में प्रकृति समर्थ नहीं है। अतः उसमें स्वतन्त्ररूप से कार्य करने की क्षमता का अभाव होने से वह अविवेकी है। यही सिद्धान्त अव्यक्त से उत्पन्न व्यक्त पदार्थों पर भी लागू होता है।

अव्यक्त और व्यक्त के अविवेकित्व को इसप्रकार भी समझा जा सकता है कि बिजली का कोई भी उपकरण विद्युत्प्रवाह से पूर्व जड़ है, अपना कार्य करने में पूर्णतया असमर्थ है। अतः स्वतन्त्ररूप से कार्य करने की क्षमतारहित होने से अविवेकी है। विद्युत्प्रवाह से ही उस उपकरण में कार्य करने की क्षमता का संचार होता है। ठीक इसीप्रकार पुरुष के प्रकाश के सम्पर्क के बिना अव्यक्त और व्यक्त दोनों पदार्थ स्वतन्त्ररूप से सृष्टि कार्य में समर्थ नहीं हैं। अतः अविवेकी हैं।

इसके विपरीत पुरुष (ज्ञ) पूर्णतया स्वतन्त्ररूप से बिना किसी की सहायता के प्रकाशित होने से समर्थ है अर्थात् अपना कार्य करने में समर्थ है, अतः विवेकी है।

३. **विषय–** अव्यक्त और व्यक्त में तीसरी समानता दोनों का 'विषय' होना है। यहाँ विषय का अभिप्राय है– 'ग्राह्य', अर्थात् ये दोनों ज्ञान अथवा अनुभव द्वारा ग्राह्य हैं। इसके विपरीत पुरुष 'अविषय' है अर्थात् उसकी अनुभव आदि द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि पुरुष स्वयं ज्ञाता है, ज्ञाता स्वयं ज्ञान का विषय नहीं हो सकता।

४. **सामान्यम्–** क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त दोनों अनेक पुरुषों के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। अतः दोनों सामान्य हुए। सांख्य पुरुषबहुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। अतः व्यक्त और अव्यक्त दोनों किसी एक के द्वारा नहीं, अपितु अनेक पुरुषों के ज्ञान के विषय अर्थात् ग्राह्य होते हैं। अतः सामान्य या साधारण हैं।

सभी द्वारा सामान्यरूप से उपभोग की गई वस्तु साधारण होती है। जैसे– वायु, प्रकाश आदि। इसके विपरीत पुरुष असामान्य होता है, क्योंकि उसका किसी अन्य द्वारा (एक या अधिक द्वारा) ग्रहण नहीं किया जाता है।

५. **अचेतनम्–** व्यक्त और अव्यक्त दोनों की अग्रिम विशेषता है कि ये दोनों ही अचेतन हैं, क्योंकि ये स्वयं को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होते। सांख्य में प्रकृति जड़ है और उसका कार्य होने से महत् अर्थात् बुद्धि आदि भी जड़ हुई। इसीप्रकार अन्य व्यक्तपदार्थ भी जड़ हुए, क्योंकि कारण के गुण ही कार्य में भी पाए जाते हैं। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है।

इसके विपरीत पुरुष (ज्ञ) चैतन्यस्वरूप, प्रकाशवान् है। जो व्यक्तपदार्थों मन, बुद्धि आदि में हमें चेतनता प्रतीत होती है, वह पुरुष के कारण ही है, अपनी नहीं क्योंकि सांख्य के अनुसार– जड़ बुद्धि तो ठीक उसीप्रकार विशुद्ध चैतन्यरूप पुरुष से प्रकाश लेकर स्वयं को प्रकाशित करती हुई, बाह्य विषयों को भी प्रकाशित करती है, जिसप्रकार अचेतन दर्पण सूर्य के प्रकाश से स्वयं भी प्रकाशित होता है तथा अन्य विषयों को भी प्रकाशित करता है। जैसे– अचेतन चन्द्रमा प्रकाशमान सूर्य के प्रकाश से स्वयं प्रकाशित होकर अन्यों को भी प्रकाशित करता है।

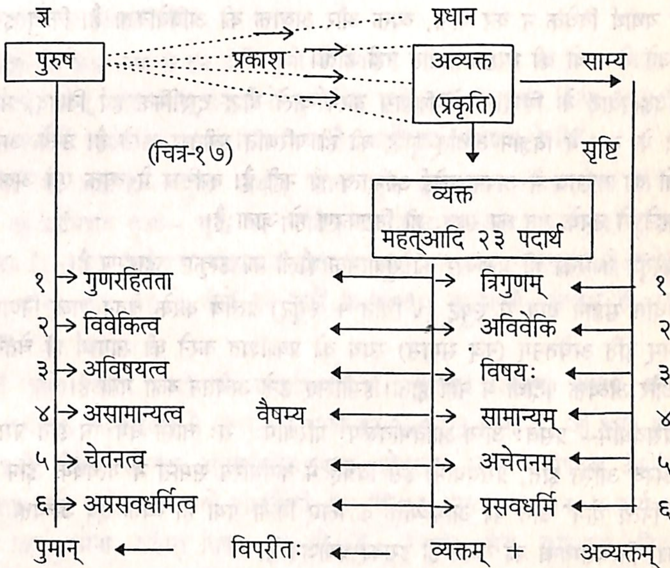
६. **प्रसवधर्मि–** व्यक्त एवं अव्यक्त ये दोनों प्रसवधर्मी अर्थात् परिणामशील हैं। इसीलिए इनसे प्रसव अर्थात् उत्पत्ति होती है। अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकारादि व्यक्त पदार्थों की उत्पत्ति, इनके प्रसवधर्मी होने का ही परिणाम है। प्रसवरूप धर्म है जिससे वह प्रसवधर्मी कहलाता है और यह धर्म अव्यक्तरूप प्रकृति एवं व्यक्त (महत् आदि) में विद्यमान है। अतः दोनों को प्रसवधर्मी कहकर उनकी समानता का कथन किया गया है।

इस प्रसङ्ग में यह शङ्का की जा सकती है कि सृष्टि की अवस्था में तो अव्यक्त को प्रसवधर्मी कहना उपयुक्त है, किन्तु प्रलयावस्था में उसके लिए यह विशेषण, उचित नहीं है? इसका उत्तर है– 'प्रसवधर्मी का दूसरा अर्थ परिणामी भी होता है' और वह परिणाम सरूप एवं विरूप दो प्रकार का होता है। प्रलयावस्था में अव्यक्त में विरूप परिणाम न होकर सरूप परिणाम होते रहते हैं। जो उसमें स्थित सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था ही है। अतः प्रलयावस्था में भी वह प्रसवधर्मी है।

इसके विपरीत पुरुष (ज्ञ) प्रसव अर्थात् परिणाम से रहित है। उसमें किसी भी सरूप अथवा विरूप परिणाम की स्थिति न होने से अप्रसवधर्मित्व रूप विशेषता है। इसीलिए कारिका में कहा— 'तद् विपरीतः पुमान्'।

यह विपरीतभाव व्यक्त एवं अव्यक्त पदार्थों की बताई गई सभी विशेषताओं पर लागू होता है। जिससे पुरुष में गुणरहितता, विवेकित्व, अविषयत्व, असामान्यत्व, चेतनत्व, अप्रसवधर्मित्व रूप गुणों का स्वतः ही कथन हो जाता है। इस कारिका के सम्पूर्ण अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है—

**अव्यक्त और व्यक्त का साम्य, पुरुष का दोनों से वैषम्य**



(चित्र-१७)

**विशेष**— १. कारिका मे प्रयुक्त त्रिगुण पद के सम्बन्ध में यह शङ्का की जा सकती है कि 'कारिका में प्रयुक्त गुण पद से यदि सुख, दुःख एवं मोहरूप धर्मों का ग्रहण किया जाए तो व्यक्तरूप पञ्चतन्मात्राओं पर यह लागू नहीं होगा, क्योंकि विष्णु पुराण में सुख, दुःख मोह के लक्षण रूप क्रमशः शान्त, घोर और मूढ़रूप गुणों का पञ्चतन्मात्राओं में निषेध किया गया है—

**तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रास्तेन तन्मात्रता स्मृता।**
**न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः।।** (विष्णु पुराण)

जिसके उत्तर में कहा जा सकता है कि पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति अहंकार से मानी गई है और कार्य में हमेशा कारण के गुण विद्यमान रहते हैं। अतः पञ्चतन्मात्राओं में भी सुखदुःखमोह की स्थिति से इंकार नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, पञ्चतन्मात्राओं से उत्पन्न पञ्चमहाभूतों

का सुखात्मक आदि होना अनुभव गम्य है। अतः तन्मात्राएँ भी परम्परा से सुखादि का आधार बन जाती हैं।

२. कारिका में प्रयुक्त 'अविवेकि' पद की कुछ विद्वानों ने इसप्रकार भी व्याख्या की है— अपने कारण और कार्य से अलग होने को ही विवेक कहते हैं, क्योंकि प्रधान अपने कार्यों से अलग नहीं हो सकता तथा महत् आदि भी अपने मूलकारण प्रधान से अलग नहीं हो सकते, क्योंकि वे परस्पर अभिन्न हैं। इसलिए उन्हें अविवेकी अर्थात् अलग होने में असमर्थ कहा गया है, क्योंकि मिलकर काम करना ही यहाँ 'अविवेकित्व' है। (वाचस्पति मिश्र)

३. आचार्य गौडपाद ने इसकी व्याख्या भिन्नप्रकार की है— उनके अनुसार गाय और भैंस में भेद न कर पाने वाला व्यक्ति अविवेकी कहलाता है। इसीप्रकार व्यक्त अव्यक्त और गुण के स्वरूप का यथार्थ विवेक न कर पाना, व्यक्त और अव्यक्त की अविवेकिता है। किन्तु इन दोनों ही व्याख्याओं से भावों की स्पष्टता प्रतीत नहीं होती।

४. विज्ञानवाद के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले बौद्ध दार्शनिक हर्ष विषाद, मोह एवं शब्द आदि के रूप में विज्ञान अर्थात् बुद्धि की ही परिणति स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार— बाह्य विषयों का वास्तव में अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है। कारिका में व्यक्त एवं अव्यक्त को 'विषय' कहने से उनके मत का स्वतः ही निराकरण हो जाता है।

५. प्रस्तुत कारिका भी ग्रन्थकार की सूत्रात्मक शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है।

६. चिति संज्ञाने धातु से ल्युट् (√ चिति + ल्युट्) प्रत्यय करके चेतन शब्द निष्पन्न होता है। न चेतनम् इति अचेतनम् (नञ् समास) स्वयं को प्रकाशित करने की सामर्थ्य ही चेतनत्व है। जो व्यक्त और अव्यक्त पदार्थों में नहीं होता। इसीलिए उन्हें अचेतन कहा गया है।

७. प्रसवधर्मि— प्रसवः अन्य-आविर्भावरूपः परिणामः, सः चासौ धर्मः च इति प्रसवधर्मः, सः धर्मः अस्य अस्ति इति, प्रसवधर्मि। इस विग्रह में कर्मधारय समास में गत्यर्थक 'इनि' प्रत्यय का प्रयोग 'नित्य योग' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों में प्रसवधर्म का, नित्यसम्बन्ध का कथन ही इसका प्रयोजन है।

**अवतरणिका–** यहाँ तक व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ (पुरुष) के साम्य वैषम्य का कथन करने के बाद पूर्व कारिका में प्रथम बार प्रयुक्त 'गुण' पद की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत कारिका का अवतरण करते हैं—

**प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।**
**अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥ १२॥**

**पदच्छेद–** प्रीति (सुख) अप्रीति (दुःख) विषादात्मकाः (मोहस्वरूप वाले) प्रकाश (प्रकाशन) प्रवृत्ति (प्रवर्तन) नियमार्थाः (नियन्त्रणरूप कार्य वाले), अन्योन्य (परस्पर) अभिभव (दबाने) आश्रय (आश्रय बनने) जनन (उत्पन्न होने) मिथुनवृत्तयः (मिलकर कार्य करने के स्वभाव वाले) च (और) गुणाः (सत्त्व, रजस् और तमस्, तीन गुण)।

**अन्वय–** (सत्त्व-रजस्-तमस्) गुणाः प्रीति-अप्रीति-विषादात्मकाः (भवन्ति), प्रकाश प्रवृत्ति-नियम (एतेषाम्) अर्थाः (सन्ति)। (एते गुणाः) अन्योन्य-अभिभव-आश्रय-जनन-मिथुनवृत्तयः च (सन्ति)।

**अनुवाद–** (सत्त्व रजस् और तमस् ये तीन) गुण (क्रमशः) सुख दुःख और मोहात्मक स्वरूप वाले (होते हैं)। प्रकाशन, प्रवर्तन और नियमन (इनके) कार्य (हैं)। (ये गुण) परस्पर दबाने, आश्रय बनने, उत्पन्न होने तथा मिलकर कार्य करने के स्वभाव वाले (हैं)।

**व्याख्या–** जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि प्रकृति सत्त्व, रजस्, और तमस् की साम्यावस्था होती है। अतः इन तीनों गुणों के स्वरूप, कार्य एवं स्वभाव का कथन करते हुए कहते हैं। यद्यपि कारिका में गुणों का नामोल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु यहाँ 'गुणाः' बहुवचन पद के द्वारा गुणत्रय ही अभिप्रेत हैं।

कारिका के प्रथमचरण में इन तीनों गुणों के स्वरूप अथवा लक्षण का कथन किया गया है, क्योंकि सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों का इसी क्रम से कथन किया जाता है। अतः इनके इसी क्रम से लक्षणों का कथन किया गया है। कहने का अभिप्राय है कि–

'प्रीति' का अर्थ है– 'सुख' अर्थात् 'सत्त्व' गुण सुखस्वरूप वाला होता है। इसीप्रकार 'अप्रीति' का अभिप्राय हुआ– सुख का विपरीत अर्थात् दुःख। अतः 'रजोगुण' दुःख स्वरूप वाला होता है। तृतीय 'तमोगुण' मोहात्मक होता है। यहाँ यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि सुख, दुःख और मोह ये तीनों इन गुणों के क्रमशः लक्षण हैं, आकार हैं, स्वरूप हैं, पहचान हैं।

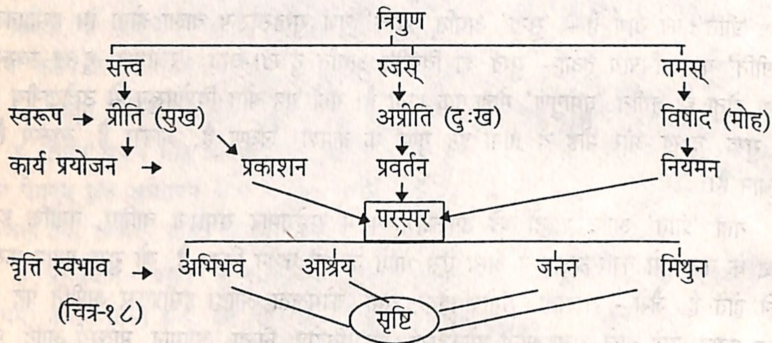
यहाँ 'प्रीति' आदि शब्दों को उपलक्षणरूप में सङ्केतमात्र समझना चाहिए, क्योंकि इस शब्द के कथन से कारिकाकार ने अन्य ऐसे भावों का भी कथन किया है, जो सुख प्रदान करने वाले होते हैं, जैसे– सरलता, संतोषविवेक, क्षमा, कोमलता आदि। इसीप्रकार अप्रीति पद से दुःख प्रदान करने वाले अन्य भावों शोकईर्ष्या, द्वेष, विद्रोह, निन्दा, अपमान, मात्सर्य आदि, का भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए। विषाद पद को भी– 'वियोग, भय, कुटिलता, निद्रा, तन्द्रा, कृपणता आदि भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त मानना चाहिए।

पुनः कारिका के द्वितीयचरण में इन गुणों के कार्यों का कथन किया गया है। 'सत्त्व' गुण का कार्य 'प्रकाशित' करना है। रजोगुण 'गति' प्रदान करता है तथा तमोगुण 'नियन्त्रण' रूप कार्य करता है।

पुनः कारिका के अन्तिमचरण में तीनों गुणों के स्वभाव का कथन करते हुए कहते हैं कि इन तीनों का स्वभाव अथवा वृत्ति, एक दूसरे को दबाना, तिरस्कृत करना, एक दूसरे का सहयोग लेना (अपनी क्रिया में दूसरे की अपेक्षा करना) जिसके परिणामस्वरूप ये गुण 'महत्' आदि तत्त्वों को उत्पन्न करने वाले होते हैं। साथ ही ये तीनों गुण स्वतन्त्ररूप से कार्य करने में सक्षम नहीं होते, अपितु स्त्री-पुरुष जिसप्रकार मिलकर सन्तानोत्पत्ति में समर्थ होते हैं, उसीप्रकार ये तीनों आपस में मिथुन भाव को प्राप्त करके ही सृष्टिकार्य करते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि 'सुख' स्वरूपवाला सत्त्वगुण, जो प्रकाशित करने में समर्थ है, प्रयोजनवश रजस् और तमस् को दबाकर अपनी शान्तवृत्ति अर्थात् स्वभाव को प्राप्त करता है। इसीप्रकार दुःखात्मक रजोगुण जो प्रवृत्त करने, गति प्रदान करने में समर्थ है, सत्त्व और तमस् को दबाकर अपनी घोरवृत्ति को प्राप्त करता है। ठीक इसीप्रकार मोहात्मकस्वरूप वाला तमोगुण भी, जो नियमन करने में समर्थ है। सत्त्व और रजस् को दबाकर अपने मूढ स्वभाव को प्राप्त करता है।

इन तीनों की विशेषता है कि ये जहाँ एक दूसरे को निरन्तर दबाते अर्थात् तिरस्कृत करते रहते हैं, वहीं अपनी-अपनी क्रियाओं में एक दूसरे की अपेक्षा भी करते हैं अर्थात् एक दूसरे के सहयोग से ही ये उत्पत्ति (जिसे दूसरे शब्दों में परिणाम भी कहा गया है) रूप कार्य सम्पन्न करते हैं। जिसमें इनका मिथुनीभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है अर्थात् ये तीनों पृथक्-पृथक् स्वतन्त्ररूप से कोई भी कार्य नहीं करते, अपितु इनका आपस में अविनाभाव सम्बन्ध है। जहाँ एक है, वहाँ दूसरा भी अवश्य उपस्थित होगा, भले ही उसकी हमें प्रतीति न हो। इनके मिथुनीभाव रूप वृत्ति के कारण हमें, दूसरे की वहाँ कल्पना करनी होगी।



(चित्र-१८)

विशेष– १. सत्त्व रजस् और तमस् इन तीन गुणों को प्रायः सभी भारतीय दर्शनों (आस्तिक) द्वारा मान्यता प्रदान की गई है। यह बात अलग है कि वैशेषिक आदि इन्हें गुण न कहकर द्रव्य संज्ञा देते हैं। सांख्य में ये पुरुषरूप पशु को संसार चक्र में बाँधने के लिए तीन गुणों (धागों) वाली रस्सी के रूप में स्वीकार किए जा सकते हैं।

२. कारिका के प्रथमचरण के अन्त में प्रयुक्त 'आत्म' पद का प्रयोग (प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः) तीनों पदों के साथ करके इसप्रकार अर्थ करना होगा– प्रीत्यात्मक अप्रीत्यात्मक एवं मोहात्मक। इसका अभिप्राय यहाँ 'भाव' से लेना होगा, क्योंकि सुख-दुःखादि भावरूप होने से अनुभवगम्य हैं। साथ ही यह पद, 'स्वरूप' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, 'स्वभाव' का कथन कारिकाकार ने अन्त में प्रयुक्त 'वृत्ति' पद द्वारा किया है।

३. कारिका के द्वितीय चरण के अन्त में प्रयुक्त 'अर्थ' पद को 'सामर्थ्य' अभिप्राय की अभिव्यक्ति के लिए मानना उचित है तथा इसका भी प्रत्येक पद के साथ प्रयोग करके अर्थ

होगा— सत्त्व 'प्रकाश' करने में समर्थ रजोगुण 'प्रवर्तन' में समर्थ तथा तमोगुण 'नियमन' करने में समर्थ होता है। आचार्य गौडपाद ने यही अर्थ किया है।

४. कारिका के अन्त में गुणों के चार स्वभावों का कथन किया गया है— अभिभव, आश्रय, जनन एवं मिथुन। यहाँ प्रत्येक पद के साथ 'अन्योन्य' एवं 'वृत्तयः' पद का प्रयोग करके अर्थ इसप्रकार करेंगे— अन्योन्य-अभिभव-वृत्तयः, अन्योन्य-आश्रय-वृत्तयः, अन्योन्य-जनन-वृत्तयः तथा अन्योन्य-मिथुन-वृत्तयः, क्योंकि इन तीनों की ये वृत्तियाँ आपस में होती रहती हैं। अतः ये चारों क्रियायें ही इन तीनों गुणों के स्वभाव हैं।

५. कारिका में प्रयुक्त 'जनन' पद से 'परिणाम' अभिप्राय ग्रहण करना होगा न कि उत्पत्ति, क्योंकि उत्पत्ति तो उसकी होती है जो पहले से वर्तमान न हो, तीनों गुणों की उपस्थिति तो पहले से ही मानी गई है जिसे नित्य कहा गया है। फिर ये तीनों सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु की उत्पत्ति में समर्थ हो भी नहीं सकते हैं।

६. प्रस्तुत कारिका में प्रयुक्त गुणाः पद तीनों गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) का वाचक होकर विशेष्य रूप में प्रयुक्त हुआ है। शेष तीनों पद (प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः, प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः, अन्योन्याभिभवाश्रयजनन मिथुनवृत्तयः) विशेषण रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

७. 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इत्यादि सिद्धान्त के अनुसार सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों में क्रमशः एक-एक पद का प्रयोग करके इस कारिका का अर्थ किया जाएगा।

८. सूत्रात्मकशैली के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कारिका प्रयुक्त हुई है।

९. योगसूत्र के भाष्य (२।१५) में भी कहा गया है कि — ये सभी गुण एक दूसरे का आश्रय लेकर सुख, दुःख एवं मोह का अनुभव कराते हैं। इसप्रकार ये सभी रूपों में परिणत होते रहते हैं— (एते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवन्ति— योगसूत्र पर भाष्य २।१५)

१०. भाष्यकारों ने सत्त्व का उदाहरण सुन्दर स्त्री, रजस् का योद्धा तथा तमस् का मेघ दिया है— सुन्दर स्त्री सात्विक गुण के कारण अपनी क्रियाओं से पति को सुखी, सपत्नी को रजोगुण के कारण दुःखी तथा कामी व्यक्ति को तमोगुण के कारण मोहयुक्त (विवादयुक्त) करती है। इसी प्रकार वीर अपनी क्रियाओं से इन्हीं गुणों के कारण क्रमशः अपने देश को सुखी, शत्रुओं को दुःखी और मैदान छोड़कर भागने वालों को विषण्ण बनाता है तथा मेघ भी धूप से पीड़ित लोगों को सुखी, किसानों को क्रियाशील और विरहिणियों को संतप्त करता है।

**अवतरणिका**— इसप्रकार गुणों के लक्षण, प्रयोजन एवं स्वभाव का उल्लेख करने के बाद— नामोल्लेखपूर्वक उनकी अन्य विशेषताओं का कथन करते हैं तथा उनके परस्पर कार्यरूप स्वभाव को उदाहरण देकर समझाते हुए प्रस्तुत कारिका का अवतरण करते हैं—

**सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।**
**गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ १३॥**

**पदच्छेद–** सत्त्वम् (सत्त्व गुण) लघु (हल्का) प्रकाशकम् (प्रकाशित करने वाला), इष्टम् (सम्मत है), उपष्टम्भकम् (प्रेरक) चलम् (क्रियाशील) च (और) रजस् (रजोगुण)। गुरु (भारी) वरणकम् (नियामक) एव (ही) तमस् (तमोगुण) प्रदीपवत् (दीपक के समान) अर्थतः (प्रयोजन के अनुसार) वृत्तिः (व्यवहार)।

**अन्वय–** सत्त्वम् लघु (च) प्रकाशकम्, रजः उपष्टम्भकम् चलम्, तमः गुरु वरणकम् एव इष्टम् (एते गुणाः) अर्थतः प्रदीपवत् वृत्तिः (कुर्वन्ति)।

**अनुवाद–** सत्त्वगुण हल्का (और) प्रकाशित करने वाला, रजोगुण प्रेरक और क्रियाशील तथा तमोगुण भारी (और) नियामक ही माना गया है। (ये गुण पुरुष के) प्रयोजन के अनुसार दीपक के समान व्यवहार (करते हैं।)

**व्याख्या–** सत्त्वगुण हल्का होता है, किसी भी वस्तु के ऊर्ध्व-गमन का कारण इस सत्त्वगुण का हल्कापन ही होता है। जैसे, अग्नि की ज्वालाओं का ऊपर उठना, वायु का तिरछे जाना (तिर्यक् गमन) तथा इन्द्रियों की कार्य को शीघ्र करने की प्रवृत्ति आदि में यही लघुत्व सबसे बड़ा कारण है, जो सत्त्वगुण के कारण होता है। यह गुरुता या भारीपन का विरोधी है।

सत्त्व का दूसरा वैशिष्ट्य है– प्रकाशक होना। जिसका अभिप्राय है– 'इन्द्रिय और अर्थ (वस्तु) के निकट आने पर अर्थ की प्रतीति होना, सत्त्व के इस वैशिष्ट्य के कारण ही होता है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का जो ज्ञान कराया जाता है, वह सत्त्व के प्रकाशक होने का ही परिणाम है। सत्त्व के अभाव में वस्तुओं का प्रकाशित होना, प्रतीति होना, उनकी ज्ञान होना सम्भव नहीं है। यदि पदार्थों में सत्त्वगुण नहीं होगा तो उनकी सत्ता अथवा स्वरूप का प्रकाशन ही नहीं होगा।

द्वितीय, रजोगुण प्रेरक, प्रवर्तक अर्थात् चलाने वाला होता है। क्रियाशीलता इसका गुण है, वैशिष्ट्य है। दूसरे शब्दों में, रजोगुण स्वरूप से क्रियाशील होने के कारण वस्तुओं को प्रेरणा प्रदान करता है, क्योंकि कोई भी क्रियाशील वस्तु सम्पर्क में आने पर अन्य वस्तुओं को भी प्रेरित करती है अर्थात् क्रियाशील बना देती है। अतः वस्तुओं में जो क्रियाशीलता देखी जाती है, वह रजोगुण के कारण है।

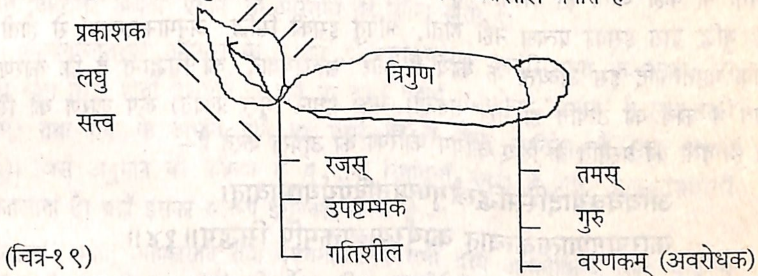
पुनः कारिका के तृतीय चरण में तमोगुण के वैशिष्ट्य का कथन करते हैं– यह भारी होने के कारण अवरोध उत्पन्न करने वाला, रोकने वाला, आवृत्त करने वाला है, क्योंकि भारी वस्तु अवरोधक बनती है। इसप्रकार तमोगुण अपनी नियामक शक्ति के कारण पदार्थों की क्रियाओं को नियमित, नियन्त्रित करता रहता है। उनमें अवरोध उत्पन्न करता रहता है। जिससे पदार्थों में स्थिरता आती है, विश्रान्ति के कारण पुनः कार्य की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। तमोगुण का यह नियमन केवल क्रियाशीलता में ही नहीं, अपितु सत्त्व के प्रकाशकत्व में भी लागू होता है, जिसे यह गुण मर्यादित अर्थात् व्यवस्थित करता है।

इनके वैशिष्ट्य के कारण इन तीनों गुणों की व्यक्ति स्वयं भी अनुभूति कर सकता है। जैसे– जब व्यक्ति स्वयं को अत्यन्त हल्का, सुखी, आनन्दित अनुभव करता है, उस समय

सत्त्वगुण प्रभावी रहता है। जब उसमें चंचलता, गतिशीलता की अनुभूति होती है, तब इसे रजोगुण का प्रभाव कहा जाएगा। उस समय वह आनन्द या सुख का अनुभव नहीं कर पाता है। उसमें एक उद्विग्नता बनी रहती है जिसके कारण वह व्याकुल रहता है। किन्तु जिस समय उसकी किसी भी काम को करने की इच्छा न हो, केवल पड़े रहने, सोने आदि में प्रवृत्ति हो, शरीर में आलस्य भरा हो, उस समय तमोगुण को प्रभावी मानना चाहिए।

इस सम्पूर्ण अभिप्राय को एक अन्य उदाहरण द्वारा भी समझा जा सकता है। जैसे– एक पौधा सत्त्वगुण के कारण हल्का होकर ऊर्ध्व गतिमान तथा इन्द्रियों के सम्पर्क के कारण प्रकाशित होते हुए ज्ञान का विषय बनता है। रजोगुण के कारण उसमें वृद्धि-गति आती है और वह बढ़ता है, किन्तु जैसे ही रजोगुण प्रभावी होता है, तुरन्त तमोगुण उसमें अवरोधक बनकर उसकी गति को नियमित करता है, इसीकारण वह पौधा धीरे-धीरे बढ़ता है, निरन्तर गतिशील नहीं रहता। यदि तमोगुण न हो तो वह पौधा निरन्तर बढ़ता ही चला जाए। अग्नि सभी पदार्थों को जला डाले, गतिशील वस्तुएँ कभी रुके ही नहीं।

इन तीनों गुणों में परस्पर विरोधी स्वभाववाला होने पर भी अत्यधिक तालमेल रहता है। जिसे ग्रन्थकार कारिका के चतुर्थ चरण में 'प्रदीपवत् चार्थतः वृत्तिः' कहकर स्पष्ट करते हैं। अर्थात् जिसप्रकार प्रकाशरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए दीपक के घटक-अग्नि, तेल और बत्ती आपस में विरोधी स्वभाव वाले होते हुए भी (क्योंकि स्वतन्त्ररूप से अग्नि, बत्ती को जला डालती है, तेल अग्नि को बुझा देता है, बत्ती तेल को अपने में सोख लेती है।) सहकारिता के सिद्धान्त पर मिलकर कार्य करते हैं और प्रकाश प्रदान करते हैं। ठीक उसीप्रकार सत्त्व, रजस् और तमोगुण भी परस्पर विरोधी स्वभाव वाले होते हुए भी पुरुष के प्रयोजनवश सृष्टिकार्य को सम्पन्न करते हैं। प्रत्येक वस्तु एवं क्रिया को मर्यादित एवं गतिशील बनाते हैं–




(चित्र-१९)

**विशेष–** १. ये तीनों गुण परस्पर विरोधी स्वभाव वाले होने से तो सुन्द-उपसुन्द- न्याय से विनष्ट हो जाने चाहिएँ, इस शङ्का के समाधान में ग्रन्थकार ने दीपक का उदाहरण देकर परस्पर सहयोग को अत्यन्त सुन्दर ढंग से दर्शाया है।

२. कारिका में प्रयुक्त 'अर्थतः' पद को जयमङ्गला एवं तत्त्वकौमुदीकार ने 'पुरुष के प्रयोजनार्थ' (पुरुषार्थतः) अर्थ में प्रयुक्त माना है, किन्तु आचार्य गौडपाद इसे 'वृत्ति' अर्थ में प्रयुक्त मानते है। आचार्य माठर इसका 'कार्यवशात्' अर्थ करते हैं, किन्तु यहाँ 'पुरुष के प्रयोजनार्थ अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है'।

३. प्रत्यक्षप्रमाण में इन्द्रियाँ विषय के पास पहुँचकर तदाकार से आकारित होकर विषय को प्रकाशित करती हैं। वह सत्त्व के प्रकाशकत्व धर्म के कारण सम्भव होता है। ज्ञान प्रकाशक है उसमें सत्त्वगुण की स्थिति सिद्ध है।

४. सत्त्वगुण एवं तमोगुण दोनों निष्क्रिय हैं, उन्हें क्रियाशील रजोगुण बनाता है। यह दोनों में उत्प्रेरक का कार्य करता है। रसायनशास्त्र में भी दो पदार्थों को क्रियाशील बनाने के लिए उत्प्रेरक का प्रयोग किया जाता है।

५. कारिका के प्रथमचरण में प्रयुक्त 'इष्टम्' पद शेष दोनों चरणों में प्रयोग करके अर्थ करना अधिक उचित प्रतीत होता है। जैसे— रजः उपष्टम्भकम् चलं च इष्टम् इत्यादि। कुछ विद्वानों ने इसके साथ 'सांख्याचार्यैः' पद का अध्याहार करके 'प्राचीन पञ्चशिख आदि आचार्यों का ऐसा मत है, इस अर्थ में प्रयुक्त माना है।

६. इन तीनों गुणों में अलग-अलग विशेषताएँ होते हुए भी एक महत्त्वपूर्ण समानता भी देखने को मिलती है, कि इनमें एक दूसरे को दबाने की सामान्यप्रवृत्ति रहती है (अभिभववृत्ति), एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता, यही सृष्टि का सबसे बड़ा हेतु है।

७. कारिका के तृतीयचरण में प्रयुक्त 'एव' पद का 'निश्चय' अर्थ में प्रयोग हुआ है। पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत कथा आती है कि सुन्द उपसुन्द दो राक्षस एक सुन्दर स्त्री को प्राप्त करने के लिए एक दूसरे के विरोधी हो गये और युद्ध करके दोनों विनष्ट हो गये। अतः परस्पर संघर्ष कर विनष्ट होने के भाव की अभिव्यक्ति के लिए 'सुन्दोपसुन्द न्याय' का कथन किया जाता है।

सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था 'मूलप्रकृति' जिसे 'प्रधान' अथवा अव्यक्त भी कहा जाता है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण स्थूल इन्द्रियों से दिखाई नहीं देती। अतः बुद्धि द्वारा इसका प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु इसकी सिद्धि 'अनुमान-प्रमाण' से होती है, क्योंकि महत्तत्त्वादि इस अव्यक्त के कार्य हैं और 'सत्कार्यवाद' का सिद्धान्त है कि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती। अतः प्रधान (मूल प्रकृति) रूप कारण की सिद्धि होती है। इसी की प्रस्तुति के लिए अग्रिम कारिका का उल्लेख करते हैं—

**अविवेक्यादेस्सिद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।**
**कारणगुणात्मकत्त्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्॥ १४॥**

**पदच्छेद—** अविवेकी-आदेः (अविवेकित्व आदि धर्मों की) सिद्धिः (अस्तित्व की प्रतीति) त्रैगुण्यात् (तीन गुणों के कारण से) तत् (उस) विपर्यय (अविवेकित्व का विपरीत विवेकी) अभावात् (तीन गुणों का अभाव होने से)। कारणगुणात्मकत्त्वात् (कारण के गुणों के स्वभाव से युक्त होने के कारण) कार्यस्य (कार्य के) अव्यक्तम् (प्रकृति प्रधान) अपि (भी) सिद्धम् (सिद्ध होता है)।

**अन्वय—** (सत्त्वादि) त्रैगुण्यात् अविवेक्यादेः (धर्माणाम) सिद्धिः (पुरुषे) तत् विपर्यय-अभावात्। कार्यस्य कारणगुणात्मकत्त्वात् अव्यक्तम् अपि सिद्धम्।

**अनुवाद–** (सत्त्व आदि) तीन गुणों के कारण अविवेकित्व आदि (धर्मों की) सत्ता सिद्ध होती है। (और पुरुष में) (तीन गुणों का) अभाव होने से उनका विपरीत (विवेकित्व सिद्ध होता है)। 'कार्य' का 'कारण' गुणों के स्वभाव से युक्त होने से मूल-प्रकृति (रूप अव्यक्त) की (सत्ता) भी सिद्ध होती है।

**व्याख्या–** प्रस्तुत कारिका में मूलप्रकृति के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है, जिसकी सिद्धि सामान्यतया प्रत्यक्षप्रमाण से सम्भव नहीं है, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है। इसके लिए कारिकाकार 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त एवं अनुमान-प्रमाण का सहारा लेते हैं।

'महत्' से लेकर सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् के सभी पदार्थ सुख दुःख एवं मोहात्मक प्रतीत होते हैं। इससे पूर्व की कारिकाओं (१२,१३) में प्रतिपादित किया जा चुका है कि सुख दुःख एवं मोहात्मकता क्रमशः सत्त्व रजस् और तमस् गुणों का स्वरूप है। अर्थात् इन गुणों के अस्तित्व से ही हमें सांसारिक पदार्थों में सुख दुःखादि की प्रतीति होती है, क्योंकि 'कार्य' में भी वे ही गुण होते हैं, जो कारण में विद्यमान रहते हैं। 'कार्य' कारण का ही विकसित रूप होता है।

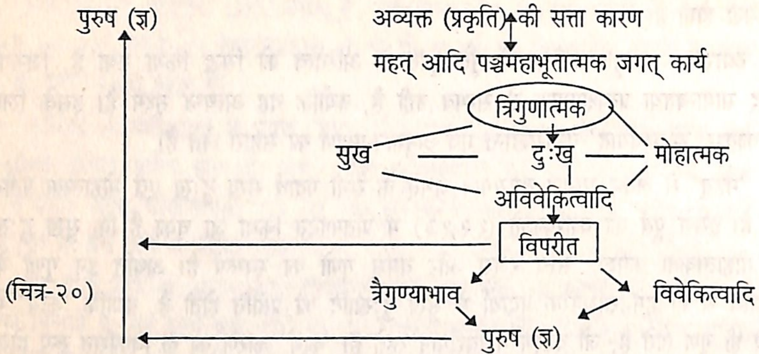
इसलिए अव्यक्त आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों में तीन गुणों (सत्त्व, रजस् एवं तमस्) की सिद्धि होती है। साथ ही इनके कारण उनमें अविवेकित्व विषयत्व सामान्यत्व, अचेतनत्व और प्रसवधर्मित्व (जिनका कारिका संख्या ११ में कथन किया जा चुका है) आदि धर्मों की सिद्धि भी होती है। इसके विपरीत 'पुरुष' नामक सांख्य के नित्यतत्त्व में त्रिगुणों का अभाव होने के कारण इन सबके विपरीत भावों– अर्थात् विवेकित्व, अविषयत्व, असामान्यत्व, चेतनत्व एवं अप्रसवधर्मित्व, की स्थिति बनती है। इसप्रकार कारिका के उत्तरार्ध द्वारा इन विशेषताओं से युक्त सांख्यसम्मत 'अव्यक्त' अथवा 'प्रधान' के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

अतः अन्वयव्यतिरेकी अनुमान के आधार पर एवं कारण कार्यसिद्धान्त के आधार पर अव्यक्त की सत्ता सिद्ध होती है। एक के होने पर दूसरे पदार्थ का होना 'अन्वय' है (तत् सत्त्वे तत् सत्त्वम्) तथा एक के अभाव होने पर दूसरे का न होना व्यतिरेक है (तद् अभावे तद्अभावः)। जिस अनुमान की प्रक्रिया में ये दोनों स्थितियाँ बनती हैं, वह अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहलाता है। यहाँ इसका स्वरूप इसप्रकार बनता है–

''अव्यक्त'', महत् अहंकारादि तथा दृश्यमानजगत् सभी तत्त्व अविवेकित्व आदि धर्मों से युक्त हैं, क्योंकि ये सभी तीन गुणों से युक्त हैं। जो जो पदार्थ तीन गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) से युक्त होते हैं, वे सभी अविवेकित्व आदि धर्मों से युक्त भी होते हैं। जैसे– प्रतिदिन अनुभव में आने वाले दृश्यमान जगत् के सभी पदार्थ त्रिगुण सम्पन्न होने के कारण अविवेकित्व आदि धर्मों से युक्त हैं। यह अनुमान की अन्वय-व्याप्ति हुई। अब व्यतिरेक-व्याप्ति का कथन करते हैं–

जो अविवेकी नहीं होता है, वह त्रिगुण सम्पन्न भी नहीं होता। जैसे– सांख्य का 'पुरुष' अथवा 'ज्ञ'। इसप्रकार अविवेकित्व आदि धर्मों से रहित पुरुष में गुणत्रय के अभाव के कारण

एवं मूल-प्रकृति में तीन गुणों के अस्तित्व की सिद्धि से, उसमें 'अविवेकित्व' आदि धर्मों की सिद्धि अनुमानप्रमाण से हो जाती है और इसी प्रमाण के द्वारा अव्यक्त (प्रधान, मूल प्रकृति) की सत्ता भी स्वतःसिद्ध हो जाती है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रस्तुत कर सकते हैं—



(चित्र-२०)

**विशेष–** १. कारिका के आरम्भ में प्रयुक्त 'अविवेकि' पद 'द्वैकयोर्द्विवचनैकवचने' पाणिनि सूत्र के 'द्वि' एवं 'एक' पद के द्वारा 'द्वित्व' तथा 'एकत्व' बोधन के समान 'अविवेकित्व' भाव अर्थ का बोधक है, क्योंकि भाव अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए धर्मी वाचक शब्द का धर्मपरक व्यवहार भी किया जाता है।

२. कुछ प्रतियों में 'तद्विपर्ययेऽभावात्' पाठ भी मिलता है तथा 'अविवेक्यादेः सिद्धिः' के स्थान पर 'अविवेक्यादि सिद्धः' पाठ भी मिलता है।

३. प्रस्तुत कारिका में जिस अविवेकित्व का कथन किया गया है वह केवल स्थूल एवं सूक्ष्म भूतों में ही नहीं है, अपितु मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय एवं अव्यक्त (जिसे प्रधान भी कहा जाता है) सभी में विद्यमान है, क्योंकि इन सब में तीन गुण (सत्त्व, रजस् और तमस्) विद्यमान हैं।

४. इससे पूर्व ग्रन्थकार ने आठवीं कारिका में कहा था कि— 'मूल प्रकृति जो सृष्टि का मूल कारण है। वह हमें अभाव होने से दिखाई नहीं देती, ऐसी बात नहीं है, अपितु उसके दिखाई न देने का मुख्य कारण उसका सूक्ष्म होना है। महत् आदि व्यक्तरूप कार्यों के द्वारा उस अव्यक्त की सत्ता की सिद्धि प्रस्तुत कारिका में की गई है।

५. व्यक्त पदार्थों में स्थित, अनुभव द्वारा सिद्ध त्रिगुणात्मकता को इस कारिका में ग्रन्थकार ने अनुमानप्रमाण में प्रयोग आने वाले 'हेतु' के समान प्रयोग किया है। जिसके आधार पर व्यक्त पदार्थों में पहले ग्यारहवीं कारिका में बताए गए 'अविवेकित्व', 'विषयत्व', 'सामान्यत्व' 'अचेतनत्व' तथा प्रसवधर्मित्व की सिद्धि की गई है।

६. सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार 'कार्य' में 'कारण' के गुण ही विराजमान रहते हैं। इसलिए त्रिगुणत्व एवं अविवेकित्व आदि विशेषताओं से युक्त दृश्यमान जगत्रूप कार्य के आधार पर यह सिद्ध होता है कि इसका कारण भी त्रिगुणत्व एवं अविवेकित्व आदि विशेषताओं

से युक्त होना चाहिए, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। यही सांख्य सम्मत अव्यक्त अथवा प्रधान का स्वरूप है। इसप्रकार कारिका के उत्तरार्द्ध द्वारा अव्यक्त की सिद्धि की गई है।

**अवतरणिका**– अन्वयव्यतिरेकी अनुमान एवं सत्कार्यवाद के सिद्धान्त द्वारा अव्यक्त की सत्ता की सिद्धि के बाद अग्रिम दो कारिकाओं में भिन्न तर्क प्रस्तुत करते हुए सृष्टि का कारण अव्यक्त को ही बताते हैं तथा उसकी कार्यशैली का कथन करते हुए प्रस्तुत कारिकाओं का अवतरण करते हैं। जिससे अव्यक्त की सत्ता सिद्ध होती है–

**भेदानां परिमाणात्, समन्वयत्वात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।**
**कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य॥ १५॥**
**कारणमस्त्यव्यक्तं, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।**
**परिणामतः सलिलवत् प्रति प्रति गुणाश्रयविशेषात्॥ १६॥**

**पदच्छेद**– भेदानाम् (महत् आदि कार्यों के) परिमाणात् (परिणाम से परिमित होने से) समन्वयात् (समान होने से) शक्तितः (शक्ति से) प्रवृत्तेः (प्रवृत्ति से, उत्पन्न होने से) च (और) कारणकार्यविभागात् (कारण से ही कार्य आविर्भूत होने से) अविभागात् (लीन होने से) वैश्वरूपस्य (विविध रूपों वाले सभी कार्यों के) कारणम् (कारण) अस्ति (है) अव्यक्त (प्रधान, मूल प्रकृति) प्रवर्तते (प्रवृत्त होता रहता है) त्रिगुणतः (तीन गुणों के स्वरूप से) समुदयात् (तीनों गुणो के मिश्रित रूप से) च (और) परिणामतः (परिणामों के द्वारा) सलिलवत् (जल के समान) प्रति-प्रति गुण-आश्रय विशेषात् (एक एक गुण के आश्रय से उत्पन्न भेद या वैशिष्ट्य के कारण)।

**अन्वय**– भेदानाम् परिमाणात् (भेदानाम्) समन्वयात्, (कारणस्य) शक्तितः (कार्यस्य) प्रवृत्तेः च कारण कार्य विभागात्, वैश्वरूपस्य (स्वकारणे) अविभागात्, अव्यक्तम् कारणम् अस्ति। (एतत् अव्यक्तम्) त्रिगुणतः च समुदयात् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवत् प्रवर्तते।

**अनुवाद**– महत् आदि कार्यों के परिमित होने से, (महत् आदि कार्यों के) कारण के समान होने से, (कारण की) शक्ति से उत्पन्न होने से और कारण से ही कार्य के आविर्भूत होने से (प्रलयकाल में) उसी कारण में लीन हो जाने से, विविध रूपों वाले सभी कार्यों का एक कारण अव्यक्त (प्रधान) अवश्य है।

(यह अव्यक्त) अपने तीनों गुणों के स्वरूप से तीनों गुणों के मिश्रित रूप से, एक-एक गुण के आश्रय से उत्पन्न भेद या 'वैशिष्ट्य के कारण, परिणाम से जल के समान प्रवृत्त होता रहता है।

**व्याख्या**– प्रथम कारिका में ग्रन्थकार अव्यक्त (मूल प्रकृति) की सत्ता की सिद्धि के लिए पाँच युक्तियों का कथन करते हैं–

(क) **भेदानां परिमाणात्**– यहाँ भेदानां से अभिप्राय– 'महत् तत्त्व से लेकर भूमि पर्यन्त सभी कार्यों से है, इन सभी का मूलकारण अव्यक्त है, क्योंकि ये सभी २३ तत्त्व सीमित

परिमाण वाले हैं तथा सीमित परिमाण वाले कार्यों को उत्पन्न करने के लिए एक व्यापक कारण का होना आवश्यक है। यह व्यापक कारण अन्य कोई नहीं, अपितु, 'प्रकृति', 'अव्यक्त' या 'प्रधान' ही है। जैसे– सीमित परिमाण वाले घटादि का व्यापक कारण अव्यक्त मृत् पिण्ड के रूप में रहता है, क्योंकि मिट्टी के पिण्ड में घड़ा दिखाई नहीं देता है। घटरूप कार्य की अव्यक्तावस्था ही वहाँ कारण होती है। इसलिए सीमित परिमाण वाले महत् आदि का कारण परम अव्यक्त (प्रकृति) ही है, अन्य कोई नहीं। यहाँ प्रयुक्त 'भेदानाम्' पद का प्रयोग 'समन्वयात्' एवं 'शक्तितः प्रवृत्तेश्च' से पूर्व भी करना होगा।

(ख) **(भेदानां) समन्वयात्–** महत् तत्त्व से लेकर भूमिपर्यन्त सभी २३ तत्त्वों रूप कार्यों का मूलकारण अव्यक्त ही है, क्योंकि बुद्धि आदि सभी यद्यपि स्थूलरूप से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु फिर भी इन सभी में एक साधारणधर्म (समान धर्म) है जो सभी को एक सूत्र में बाँधता है, जो 'समन्दय' करने वाला अर्थात् एक भाव को सभी जगह रखने वाला है और वह अव्यक्त है अन्य कोई नहीं। यहाँ समन्वय से अभिप्राय– भिन्न पदार्थों में स्थित अनुरूपता या सदृशता से है। बुद्धि इत्यादि सभी सुखदुःखमोहात्मक प्रतीत होते हैं। समान वस्तुओं का कारण भी उन्हीं गुणों से युक्त कोई सूक्ष्म या अव्यक्त पदार्थ होता है। जैसे– कार्यरूप घड़े और मुकुट के कारण मिट्टी और सोने में ये अव्यक्तरूप से (सूक्ष्म रूप से) विद्यमान रहते हैं, क्योंकि घट और मुकुट आकारवान् हैं और जो आकारवान् होता है, वह अपने आकार से विहीन अपने कारण से समन्वित होता है। आकारवान् होना ही व्यक्त होना है। अतः मूलकारण को अव्यक्त मानना होगा। इसलिए महत् आदि कार्यों का मूलकारण प्रधान रूप 'अव्यक्त' है।

(ग) **(भेदानां) शक्तितः प्रवृत्तेः–** 'महत्' आदि अपने अनुरूप एवं प्रतिरूप पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति निश्चय ही उनमें स्थित ऐसी शक्ति की ओर सङ्केत करती है, जिसके कारण वे इन्हें उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। उस शक्ति को प्रत्येक पदार्थ में अलग-अलग स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उससे गौरव दोष की प्राप्ति होगी। अतः एक ऐसे आश्रय की कल्पना करनी होगी जो सभी व्यक्त पदार्थों में सरूप-विरूप परिणाम की योग्यता को उत्पन्न करे। वह शक्तिदाता आश्रय अन्य कोई नहीं, अव्यक्त अर्थात् प्रधान को ही मानना होगा।

कहने का तात्पर्य है कि किसी भी कार्य को उत्पन्न करने की उसके कारण मे शक्ति होती है, क्योंकि शक्तिहीन कारण से कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं। तिलों में ही तेल उत्पन्न करने की शक्ति होती है, रेत में नहीं। अतः रेत से तेल प्राप्ति असम्भव है। इसीप्रकार कुम्हार घड़ा बनाने के लिए इसीलिए प्रवृत्त होता है, क्योंकि वह उसके निर्माण में सक्षम होता है, वस्त्रादि के निर्माण के लिए वह इसलिए प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वह इसमें समर्थ नहीं है। अतः महत् आदि कार्यों को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त कारणरूप आश्रय 'अव्यक्त' से भिन्न सम्भव नहीं है।

(घ) **कारणकार्यविभागात्–** प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले सूक्ष्मरूप में अपने कारण में 'सत्' रूप में विद्यमान रहता है। ठीक उसीप्रकार जैसे कछुए के शरीर में उसके अंग

छिपे रहते हैं। मृत्पिण्ड में घड़ा सूक्ष्मरूप में स्वर्णपिण्ड में आभूषण आदि सूक्ष्मरूप मे विद्यमान रहते हैं, जो कार्यरूप में उत्पन्न होकर प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। इसीप्रकार पञ्चमहाभूत आदि कार्य अपने कारणरूप तन्मात्राओं में सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहते हैं। तन्मात्राएँ, अहंकार में और अहंकार, महत्‌रूप कारण में सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है। किन्तु महत् का भी कोई कारण मानना होगा, जिससे यह उत्पन्न होता है, प्रकट होता है। वह कारण अन्य कोई नहीं अपितु 'अव्यक्त' प्रकति ही है।

इस प्रसङ्ग में यह शङ्का की जा सकती है कि कारण कार्य की इस परम्परा में महत् का कारण आप अव्यक्त को मानते हैं, उससे आगे अव्यक्त का भी तो कोई कारण सम्भव है? उसकी परिकल्पना भी तो की जा सकती है। इसका उत्तर है– ऐसा करने पर अव्यवस्था दोष होगा, क्योंकि पुनः उसके भी कारण की, उसके बाद उसके भी कारण की परिकल्पना के कारण कोई व्यवस्था ही नहीं बन पाएगी। इसलिए अव्यक्त की सत्ता स्वीकार करना और उसे महदादि सृष्टि का कारण मानना उचित है।

(ङ) **वैश्वरूप्यस्य अविभागात्–** 'विश्वरूप' शब्द से स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय करके 'वैश्वरूप्य' शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अभिप्राय है– 'वस्तु की विश्वरूपता। अर्थात् अनेक रूपों में स्थित सम्पूर्ण कार्य को यहाँ विश्वरूप कहा गया है, जो प्रलय काल में अपने कारण में समा जाता है। उस स्थिति में कारण और कार्य में कोई अन्तर नहीं रह जाता है।

विनाश की स्थिति में घड़े और मुकुट आदि आभूषण क्रमशः अपने कारणरूप मिट्टी और सोने में प्रविष्ट होकर हमें दिखाई नहीं देते, अतः अव्यक्त हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में 'कारण' रूप हो जाते हैं। इसप्रकार अव्यक्त अवस्था में जो कारण है, वही व्यक्त अवस्था में कार्य होता है। अतः सृष्टिकाल में अलग-अलग रूपों में दिखाई देने वाली सम्पूर्ण सृष्टि प्रलयकाल में अपने एक कारण 'अव्यक्त' में समाहित हो जाती है। इस दृष्टि से भी इस सम्पूर्ण प्रपञ्च का एक कारण 'अव्यक्त' सिद्ध होता है।

**सांख्यदर्शन के अनुसार–** 'प्रलयकाल में पृथ्वी आदि महाभूत अपने कारण स्वरूप तन्मात्राओं में, तन्मात्राएं आदि अपने कारणरूप अहंकार में, अहंकार अपने कारणरूप महत् में तथा महत् अपने कारणरूप 'मूल प्रकृति' (जिसे अव्यक्त अथवा प्रधान भी कहा जाता है) में प्रविष्ट होकर अव्यक्त अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। सृष्टिकाल में इसी क्रम से इन तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। अतः इस सब कार्यसमूह को साक्षात् अथवा परम्परया 'अव्यक्त' रूप कारण से उत्पन्न मानने पर सभी समस्याओं का समाधान हो जाता है।

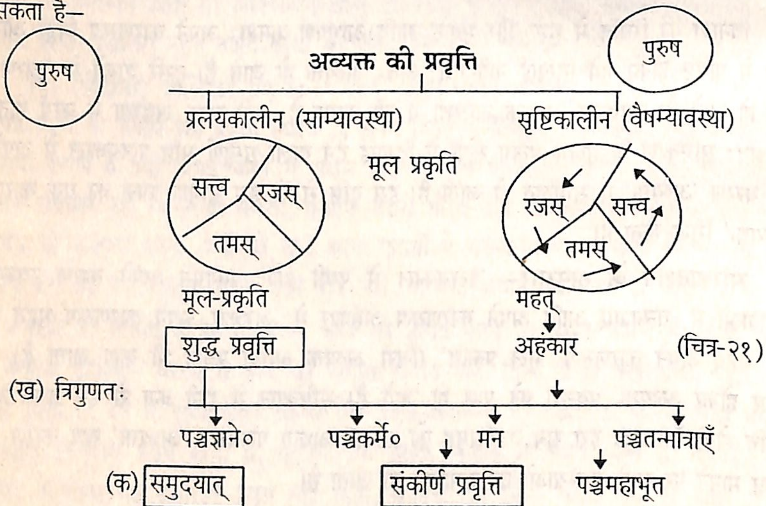
इसप्रकार 'अव्यक्त' रूप कारण की सिद्धि में पाँच युक्तियों का कथन करने के बाद ग्रन्थकार १६वी कारिका में अव्यक्त की कार्यशैली का प्रतिपादन करते हुए कहते है कि– यह अव्यक्त रूप मूलकारण तीन गुणों के रूप में स्वतन्त्ररूप से (त्रिगुणतः), गुणों के मिश्रणरूप से (समुदयात्) एक-एक गुण के आश्रय से उत्पन्न भेद के रूप में प्रवृत होता है।

इसप्रकार 'अव्यक्त' की प्रवृत्ति के तीन स्वरूपों का कथन करने के बाद उसके प्रवर्तन के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं– 'जल के समान परिमाण होने से (परिणामतः सलिलवत्)। अब क्रमशः इसकी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।

त्रिगुणतः समुदयात् च (प्रवर्तते)– सृष्टि के मूलकारण 'अव्यक्त' में तीन गुण सत्त्व रजस् और तमस् विद्यमान रहते हैं, जिनके सहयोग से यह 'मूलप्रकृति' निरन्तर क्रियाशील रहती है। यह क्रियाशीलता प्रलयकाल एवं सृष्टिकाल में भिन्नस्वरूप वाली होती है।

(क) **समुदयात्**– सृष्टि की अवस्था में यह क्रियाशीलता वैषम्य स्वरूप में होती है। जिसके कारण इन तीनों गुणों में एक दूसरे को दबाने की प्रवृत्ति पैदा होती है। जो पुरुष की निकटता में, उसका प्रकृति पर प्रकाश पड़ने से होती है। जिससे प्रकृति क्षुब्ध हो उठती है। परिणामस्वरूप गूणों की विषमता से उनमें सक्रियता आती है और महत् आदि पदार्थों की सृष्टि होती है।

(ख) **त्रिगुणतः**– इसके विपरीत प्रलयकालीन प्रवृत्ति सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों में एक समान (सदृश) परिणाम वाली होती है, क्योंकि गुणों का स्वभाव निरन्तर परिवर्तन या परिणामशील रहना है, जिसके कारण प्रलयावस्था में भी सत्त्व सत्त्वरूप में, रजस् रजोरूप में तथा तमस् तमोरूप में ही स्वतन्त्र रूप से परिवर्तित होते रहते हैं। यही गुणों की साम्यावस्था भी है। इस समय सृष्टि का निर्माण नहीं होता है। इस अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–



(चित्र-२१)

इसप्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के कारण सृष्टि का मूल यह 'अव्यक्त' उनके परस्पर सम्मिश्रण से सृष्टिकाल में तथा सदृश परिणाम वाले होते हुए, बिना आपस में मिले प्रलयकाल में निरन्तर क्रियाशील बने रहकर दो प्रकार की प्रवृत्ति वाला होता है। जिसे शुद्ध एवं संकीर्ण प्रवृत्ति भी कहा जा सकता है, क्योंकि पहली, तीनों गुणों का सजातीयप्रवाह

होने से (उनकी) साम्यावस्था है तथा दूसरी (उनका) मिश्रण रूप विजातीय प्रवाह होने से वैषम्यावस्था।

इस प्रसङ्ग में एक शङ्का होती है कि यदि सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों के अपने-अपने निश्चित स्वरूप हैं तो फिर उनसे उत्पन्न होने वाली यह सृष्टि भिन्न स्वरूप वाली क्यों है? इसे उन गुणों से उत्पन्न कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

इसके उत्तर मे ग्रन्थकार 'परिणामतः सलिलवत् प्रति-प्रति गुणाश्रयविशेषात्' का उल्लेख करते हैं–

(ग) जिसप्रकार वर्षा के रूप में एक ही बादल से पृथ्वी पर गिरने वाला जल स्वाद एवं गुणों से एक होता है, किन्तु पृथ्वी के विभिन्न प्रकार के विकारों के सम्पर्क में आकर वही नारियल, निम्बू, ताड, बेल, कैथ, करेला, आम और आंवला आदि फलों में मधुर, खट्टा, नमकीन, कडवा, कसैला और तिक्त आदि स्वादयुक्त रसों में परिवर्तित हो जाता है।

ठीक उसीप्रकार अलग-अलग आश्रय विशेषरूप वस्तुओं के सम्पर्क में आने के कारण अव्यक्त के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणत्रय एक होते हुए भी परिणाम भेद से परिवर्तित होते रहते हैं। अर्थात् इन तीनों गुणों में प्रत्येक के अलग-अलग मात्रा में मिश्रण के द्वारा एक ही अव्यक्त से, अनेक स्वरूप वाले कार्यों की उत्पत्ति देखी जाती है। इसीलिए 'त्रिगुणात्मिका प्रकृति' से भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होने वाले व्यक्त पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

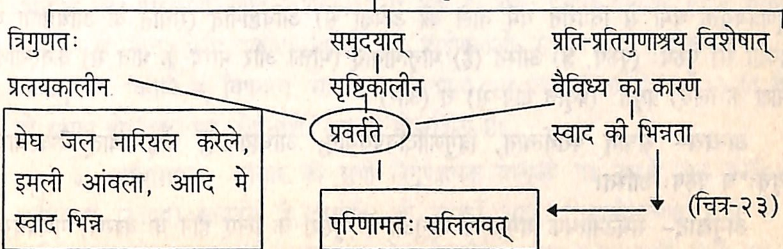
दोनों कारिकाओं के अभिप्राय को इसप्रकार भी अभिव्यक्त किया जा सकता है–

**अव्यक्त की सत्ता की सिद्धि**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| कार्यों के सीमित परिमाण से | भिन्न पदार्थों मे स्थित अनुरूपतः | शक्ति के अनुसार प्रवृत्तिः | कारण और कार्य का विभाग प्राप्त होने से | सभी रूपों के एक रूप जाने से |
| (भेदानां परिमाणात्) (१) | (समन्वयात्) (२) | (शक्तितः प्रवृत्तेः) (३) | (कारण कार्य विभागात्) (४) | (वैश्वरूप्यस्य (५) अविभागात्) |

(चित्र-२२)

**अव्यक्त की प्रवृत्ति**



(चित्र-२३)

**विशेष–** १. कुछ विद्वानों के मत में व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति प्रत्यक्षरूप से देखी जाती है तथा जो अव्यक्त कभी देखा ही नहीं गया। उससे महत् आदि की उत्पत्ति कैसे स्वीकार कर ली जाए? इस शङ्का के उत्तर में ग्रन्थकार ने प्रथम कारिका में 'कारणम् अस्ति अव्यक्तम्' कहकर पाँच तर्क देते हुए सम्पूर्ण व्यक्त समुदाय का कारण अव्यक्त को बताया तथा उसके अस्तित्व को सिद्ध किया।

२. **वैश्वरूप्य–** विश्वरूप कहलाता है, जिसका अभिप्राय है, वस्तु की विश्वरूपता। अनेक रूपों में दिखाई देने वाले व्यक्तरूप सम्पूर्ण कार्य को विश्वरूप कहा गया है। जो प्रलयकाल में अपने कारण अव्यक्त में तिरोहित हो जाता है।

३. जल का उदाहरण प्रस्तुत करके ग्रन्थकार ने सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के कारण सृष्टि में होने वाली विविधता को अत्यन्त सरलतापूर्वक प्रतिपादित किया है।

४. जयमङ्गलाकार ने अनेकता के उत्पादक एक ही तत्त्व का भिन्न उदाहरण द्वारा प्रतिपादन किया है– उनके अनुसार, जिसप्रकार गन्ने के रस से सीरा, गुड़, राब, खांड और चीनी आदि अनेक वस्तुएँ बनाई जा सकती हैं ठीक उसीप्रकार सत्त्वादि गुणों की साम्यावस्था अव्यक्तरूप प्रकृति से व्यक्त पदार्थों की (जो विभिन्न रूपों वाले हैं) उत्पत्ति होती है।

५. कारिका में प्रयुक्त 'अविभागात्' पद का आचार्य गौडपाद, माठर एवं वाचस्पतिमिश्र 'लय' अर्थ करते हैं, किन्तु जयमङ्गलाकार ने इसे 'एक रूप में स्थित' अर्थ की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त माना है।

६. वस्तुतः सांख्यदर्शन का सम्पूर्ण प्रासाद सत्कार्यवाद के सिद्धान्त एवं गुणत्रय (सत्त्व रजस् और तमोगुण) के आधार पर टिका हुआ है।

पदे-पदे इनका ग्रन्थकार ने अवलम्ब लिया है।

**अवतरणिका–** अव्यक्तरूप मूलकारण की सिद्धि तथा उसकी प्रवृत्ति के प्रकारों का कथन करने के बाद ग्रन्थकार सांख्यशास्त्र के द्वितीय नित्यतत्त्व पुरुष जिसे 'ज्ञ' भी कहा जाता है, की सत्ता का प्रतिपादन करते हुए प्रस्तुत कारिका का अवतरण करते हैं–

**संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।**
**पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥ १७॥**

**पदच्छेद–** संघात (समूह) परार्थत्वात् (दूसरों के लिए होने से), त्रिगुणादिविपर्ययात् (गुणत्रययुक्त धर्मों से विपरीत धर्म वाले की अपेक्षा से) अधिष्ठानात् (संघात के अधिष्ठाता की अपेक्षा से) पुरुषः (पुरुष, ज्ञ) अस्ति (है) भोक्तृभावात् (भोक्ता और भोग्य के भाव से) कैवल्यार्थम् (मोक्ष के लिए) प्रवृत्तेः (प्रवृत्ति होने से) च (और)

**अन्वय–** संघात् परार्थत्वात्, त्रिगुणादिविपर्ययात्, अधिष्ठानात्, भोक्तृभावात् कैवल्यार्थम् प्रवृत्तेः च पुरुषः अस्ति।

**अनुवाद–** संघटनात्मक समूहरूप वस्तुओं के दूसरों के लिए होने के कारण, गुणत्रययुक्त धर्मों से विपरीत धर्म वाले की अपेक्षा होने के कारण, (व्यक्तरूप संघात का) अधिष्ठाता होने की

अपेक्षा से, (सांसारिक वस्तुओं के) भोक्ता होने की अपेक्षा से (कुछ लोगों की) मोक्ष के लिए प्रवृत्ति होने से पुरुष (की सत्ता) है।

**व्याख्या–** जिसप्रकार अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति को तर्कपद्धति से ग्रन्थकार ने पूर्व की कारिकाओं में सिद्ध किया। उसीप्रकार सांख्य के दूसरे नित्य एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'पुरुष' की सत्ता (अस्तित्व) की सिद्धि के लिए पाँच युक्तियों को प्रस्तुत करते हैं। जिसका विस्तृत विवेचन इसप्रकार है– **पुरुषः अस्ति–** 'पुरुष' नामक तत्त्व है–

१. **संघात् परार्थत्वात्–** इस संसार के सभी पदार्थ– शयन, आसन, घर, आदि– संघातमय हैं। एक संघात दूसरे के लिए होता है जैसे– ईंट, चूने, पत्थर सिमेंट आदि से बना घर, शय्या आदि शरीर के लिए होते हैं। दूसरे शब्दों में संघातमय पदार्थों का स्वभाव होता है कि वे दूसरों के लिए होते हैं। इसलिए 'मूल-प्रकृति' एवं उससे उत्पन्न यह संघातरूप समस्त व्यक्त जगत् निश्चय ही उससे भिन्न के लिए होना चाहिए और वह 'अन्य' और कोई नहीं, अपितु सांख्यसम्मत चेतन तत्त्व पुरुष ही हो सकता है।

२. **त्रिगुणादिविपर्ययात्–** प्रथम युक्ति के सम्बन्ध में यह शङ्का की जा सकती थी कि– आपकी बात ठीक है संघात किसी दूसरे संघात आदि की प्रतीति तो करा सकता है। जैसे– घर रूप संघात शरीर आदि, जो उसका भोक्ता है, की प्रतीति कराता है, किन्तु आपके कथन से वह संघात पुरुष ही होना चाहिए, इस बात की सिद्धि तो नहीं होती, इसी के समाधान के लिए ग्रन्थकार ने कहा– (त्रिगुणादि विपर्ययात्)– अर्थात् इस संसार की सभी वस्तुएँ, पदार्थ तीन गुणों से युक्त हैं। इतना ही नहीं, अपितु उनमें गुणों का न्यूनाधिक्य भी देखने को मिलता है अर्थात् सांसारिक पदार्थों में किसी में सत्त्वगुण की अधिकता है तो दूसरे में रजस् अथवा तमस् की अधिकता देखने को मिलती है, अन्य गुणों की वहाँ न्यूनता है।

गुणों का यह न्यूनाधिक्य इस बात की ओर भी सङ्केत करता है कि ऐसा कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिए, जिसमें इन तीन गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) का सर्वथा अभाव हो और वह तत्त्व पुरुष ही हो सकता है अन्य कोई नहीं। ऐसा मानने से 'संघात् परार्थत्वात्' की भी संगति बैठ जाती है, क्योंकि व्यक्त, अव्यक्त सम्पूर्ण संघात् पुरुष रूप पदार्थ के लिए सिद्ध हो जाता है।

इसके अतिरिक्त व्यक्त, अव्यक्त आदि संघात त्रिगुणसम्पन्न, अविवेकी, अविषय, असामान्य, अचेतन तथा प्रसवधर्मी आदि विशेषताओं से युक्त है। अतः इसका प्रयोजन इससे सर्वथा भिन्न कोई अन्य तत्त्व होना चाहिए। जिसमें इन विशेषताओं से विपरीत विशेषताएँ हों अर्थात् अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, चेतनत्व एवं प्रसवधर्मिता से रहित आदि वैशिष्ट्य से सम्पन्न हो। वह अन्य कोई नहीं पुरुष ही हो सकता है।

३. **अधिष्ठानात्–** संसार की सभी त्रिगुणात्मक वस्तुओं का उससे भिन्न कोई न कोई अधिष्ठाता (स्वामी) अवश्य है, क्योंकि जो वस्तुएँ सुख, दुःखमोहात्मक होती है उनका अधिष्ठाता उनसे अलग कोई दूसरा तत्त्व होता है। जैसे– सुख प्रदान करने वाला रथ, उसका

अधिष्ठाता सारथि होता है, जो उससे भिन्न है। इसीप्रकार महत् आदि सभी व्यक्त एवं अव्यक्त पदार्थों के सुखदुःखमोहात्मक होने से इस सबका कोई न कोई अधिष्ठाता अवश्य होना चाहिए जो इनसे भिन्न हो अर्थात् त्रिगुणरहित हो और वह अधिष्ठाता पुरुष (ज्ञ) के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह त्रिगुणरहित होने से सबसे भिन्न भी है। यह पुरुष सभी शरीरों का इसीप्रकार अधिष्ठाता है, जैसे– माला में सूत्र।

४. **भोक्तृभावात्–** इस संसार में दिखाई देने वाला भोग्य और भोक्ता का भाव भी पुरुष की सत्ता को सिद्ध करता है। अनुकूल प्रतीत होने वाला सुख होता है तथा आन्तरिक एवं बाह्यइन्द्रियों को प्रतिकूल प्रतीत होने वाला दुःख होता है। जिसका अनुभव प्रत्येक प्राणी को होता है, क्योंकि वनस्पतियाँ, पशु, पक्षी भी इसका अनुभव करते हैं। इस प्रसङ्ग में एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि सुखात्मक अथवा दुःखात्मक अनुभूति किसे होती है? क्योंकि मन, बुद्धि, अहंकार आदि तो त्रिगुणात्मक होने से स्वयं सुखदुःखात्मक हैं। अतः स्वयं ही वे अपना अनुभव नहीं कर सकते, क्योंकि तलवार की धार स्वयं अपना कर्तन नहीं करती, अग्नि स्वयं को नहीं जलाता, वायु स्वयं को नहीं सुखाता और यदि मन, बुद्धि, अहंकार आदि को ही भोक्ता भी मान लें तो ऐसा मानने से इनके स्वरूप में भोक्तृत्व और भोग्यत्व इन दो विरोधी वृत्तियों का आरोप मानना होगा अर्थात् उस स्थिति में सुख आदि ही सुख आदि का अनुभव करने लगेंगे, जो उचित नहीं होगा। इसलिए जो स्वयं सुख दुःख इत्यादि के स्वरूप वाला नहीं है, वही प्रसन्न अथवा दुःखी होता है और वह अन्य कोई नहीं, अपितु 'पुरुष' ही है, क्योंकि जिसप्रकार बिना द्रष्टा के दृश्यत्व सम्भव ही नहीं है, उसीप्रकार बिना भोक्ता के भोग्यत्व सम्भव नहीं है। वह भोक्ता ही पुरुष है।

५. **कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः–** ग्रन्थकार पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि में अन्तिम युक्ति प्रस्तुत करते हैं। दुःख की हमेशा के लिए निवृत्ति को कैवल्य कहा जाता है। इसे ही मोक्ष भी कहते हैं। शास्त्रों, मुनियों, महर्षियों, ज्ञानी व्यक्तियों की मोक्षप्राप्ति के लिए प्रवृत्ति देखी जाती है। बुद्धि आदि जड़ पदार्थों में यह सम्भव नहीं है, क्योंकि वे त्रिगुणात्मक होने से स्वयं दुःखस्वरूप हैं। वे अपने स्वरूप से किसप्रकार अलग हो सकते हैं। इसलिए दुःख भिन्नस्वरूप वाले (सत्त्व, रजस् और तमस् से भिन्न) पुरुष (आत्मा अथवा ज्ञ) का अस्तित्व सिद्ध होता है।

इस सम्पूर्ण अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

**पुरुष की सत्ता (पुरुषोऽस्ति)**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| संघातों का दूसरों के लिए होना (संघातपरार्थत्वात्) | त्रिगुणादि से विपरीतस्वभाव वाला होने से (त्रिगुणादिविपर्ययात्) | त्रिगुण समूह का अधिष्ठाता आवश्यक होने से (अधिष्ठानात्) | भोग्य एवं भोक्ता भाव से (भोक्तृभावात्) | मोक्ष के लिए प्रवृत्ति देखे जाने से (कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः) |

(चित्र-२४)

**विशेष–** १. विल्सन ने कारिका के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'संघात' पद के स्थान पर 'संहत' पाठ स्वीकार किया है। यह कल्पना सम्भवतः उन्होंने सांख्यसूत्र (संहतपरार्थत्वात् (१।१४०) के आधार पर की है, किन्तु इस पाठभेद का औचित्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यह पाठ किसी भी टीका में नहीं मिलता तथा इससे छन्दोभंग भी होता है।

२. कारिका में प्रतिपादित पुरुष का अधिष्ठातृत्व औपचारिक रूप से समझना होगा, नहीं तो पुरुष को कर्ता मानना होगा, जबकि सांख्य 'पुरुष' को निष्क्रिय 'अकर्ता' प्रतिपादित करता है। जिसप्रकार रथ के नियन्ता का निष्क्रियत्व सम्भव नहीं है, उसीप्रकार निष्क्रिय रहने से पुरुष का अधिष्ठातृत्व भी नहीं बन सकेगा।

३. कारिका में प्रयुक्त 'त्रिगुणादि' पद को अधिष्ठानात्' से पूर्व भी प्रयोग करके अर्थ करना होगा।

**अवतरणिका–** पूर्व कारिका में पुरुष की सत्ता की सिद्धि करने के बाद सांख्य के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त '**पुरुष बहुत्व**' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए ग्रन्थकार प्रस्तुत कारिका का अवतरण करते हैं–

**जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।**
**पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥ १८॥**

**पदच्छेद–** जन्ममरणकरणानाम् (जन्म मरण और इन्द्रियों की) प्रतिनियमात् (व्यवस्था से) अयुगपत् प्रवृत्तेः) (एक साथ प्रवृत्ति का अभाव) च (और) पुरुषबहुत्वम् (पुरुषों की अनेकता) सिद्धम् (सिद्ध होती है) त्रैगुण्यविपर्ययात् (तीन गुणों के भेद के कारण) च (और) एव (ही)।

**अन्वय–** जन्म-मरण-करणानाम् प्रतिनियमात् च अयुगपत् प्रवृत्तेः च त्रैगुण्यविपर्ययात् एव पुरुष-बहुत्वम् सिद्धम्।

**अनुवाद–** जन्म, मरण और इन्द्रियों की व्यवस्था होने के कारण और एक साथ प्रवृत्ति का अभाव होने से तथा तीनों गुणों के भेद के कारण ही पुरुषों की अनेकता सिद्ध होती है।

**व्याख्या–** पुरुष का अस्तित्व सिद्ध करने के बाद ग्रन्थकार उनकी संख्या के विषय में प्रतिपादन करते हुए उन्हें अनेक स्वीकार करते हैं (पुरुष बहुत्वं सिद्धम्) तथा उसके लिए प्रमुख रूप से तीन युक्तियाँ देते हैं–

१. **जन्म मरण करणानां प्रतिनियमात्–** पुरुष अर्थात् आत्मा अनेक हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का जन्म और मरण अलग-अलग समय में होता है। नूतन शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार आदि के समुदाय के साथ पुरुष (आत्मा) का सम्बन्ध होना ही जन्म कहलाता है तथा इस पुरुष का इस समुदाय के साथ सम्बन्ध विच्छेद ही मरण है।

यदि पुरुष एक होता तो सभी का एक साथ जन्म और एक साथ मरण होता, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता, इसलिए जन्म, मरण की अलग-अलग व्यवस्थाओं के कारण पुरुष का अनेकत्व सिद्ध होता है। यदि हम सभी शरीरों में एक ही पुरुष की स्थिति को स्वीकार करते

हैं। सभी शरीरों का अधिष्ठाता एक ही पुरुष को मानते हैं तो एक पुरुष के उत्पन्न होने पर सबकी उत्पत्ति तथा एक के मरने पर सबकी मृत्यु होनी चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए प्रत्येक शरीर में अलग-अलग पुरुषों का अस्तित्व स्वीकार करके उन्हें एक नहीं, अपितु अनेक मानना होगा।

कारिका के प्रथमचरण में प्रयुक्त 'प्रतिनियमात्' पद को जन्म, मरण और करणानाम् पदों के साथ प्रयोग करके इसप्रकार अर्थ करना होगा– जन्म प्रतिनियमात् (जन्म की व्यवस्था होने से) मरण प्रति नियमात् (मरण की व्यवस्था होने के कारण) एवं करणानां प्रतिनियमात् (इन्द्रियों की व्यवस्था होने से) पुरुष बहुत्वं सिद्धम् (पुरुष का अनेक होना सिद्ध होता है।

यहाँ 'करण' से अभिप्राय– मन, बुद्धि, अहंकार आदि तीन अन्तःकरण और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय आदि कुल १० बाह्य इन्द्रियों से है। जिनकी संख्या कुल मिलाकर तेरह हो जाती है, क्योंकि ये तेरह ज्ञान-प्राप्ति के असाधारण कारण होते हैं। इसलिए इन सबको 'करण' कहा जाता है। प्रत्येक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए इनकी अत्यधिक आवश्यकता होती है।

इन सब अन्तः और बाह्य इन्द्रियों की व्यवस्था भी प्रत्येक शरीर में अलग-अलग होती है जो इस बात को सिद्ध करती है कि पुरुष अनेक है, एक नहीं, क्योंकि यदि पुरुष एक होता तो एक के अंधा होने पर सभी अंधे, एक के लंगड़ा होने पर सभी लंगड़े, एक के बहरा होने पर सभी बहरे, और एक के उदासीन होने पर सभी उदासीन हो जाते, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। अतः प्रत्येक शरीर में स्थित पुरुषों का अनेक होना सिद्ध होता है।

अनेक पुरुषों के अस्तित्व (सत्ता) को मानने पर सभी शरीरों की स्थिति स्वतन्त्र होने से, उनकी इन्द्रियाँ भी अलग-अलग होंगी, जिससे उन सबके अलग-अलग समय में जन्म और मरण की व्यवस्था भी बन सकेगी तथा इन्द्रियों विषयक कठिनाई का सामना भी नहीं करना होगा।

२. **अयुगपत्प्रवृत्तेः–** कारिका के द्वितीय चरण में पुरुषों की अनेकता को सिद्ध करने के लिए ग्रन्थकार दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हैं– 'यदि एक ही पुरुष की सत्ता सभी शरीरों में स्वीकार की जाए तो उनकी सभी क्रियाएँ एक साथ होनी चाहिए। जैसे– एक के बैठने पर सभी बैठें, एक के चलने पर सभी शरीर चलें, एक के खाने, पीने, सोने, हंसने, रोने आदि क्रियाओं के करने पर सभी एक साथ क्रमशः खाने, पीने, सोने, हंसने, रोने आदि की क्रियाओं को करें, किन्तु व्यवहार में इसप्रकार की एक साथ आचरण करने की प्रवृत्ति नही देखी जाती है। प्रत्येक शरीर की एक ही समय में अलग-अलग क्रियाएँ होती हैं। यह व्यवस्था प्रत्येक शरीर में अलग-अलग पुरुष के अस्तित्व को स्वीकार करने पर ही सम्भव है। अतः पुरुष (आत्मा) एक नहीं अनेक हैं।

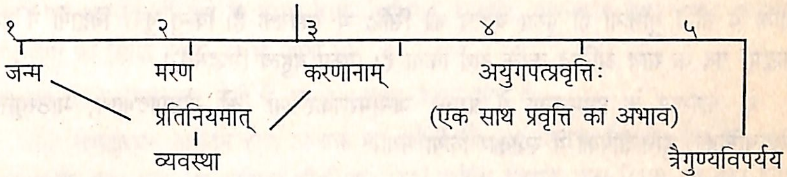
३. **त्रैगुण्यविपर्ययात्–** पुरुष बहुत्व को सिद्ध करने के लिए कारिका के अन्त में तृतीय तर्क का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि– इस संसार में भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले लोग हैं

और यह स्वभावपरिवर्तन उनमें स्थित सत्त्व, रजस् और तमोगुण की भिन्नता अर्थात् न्यूनाधिक्य के कारण होता है। जैसे ऊर्ध्व रेतस् योगी में सत्त्वगुण की बहुलता होती है। सामान्य व्यक्ति में रजोगुण प्रभावी रहता है, किन्तु पशु-पक्षी एवं आलसी व्यक्ति में तमोगुण का बाहुल्य होता है।

यदि प्रत्येक शरीर ने एक पुरुष की सत्ता होती तो प्राणियों में इसप्रकार इन तीन गुणों का वैषम्य नहीं होता और वे सब एक स्वभाव वाले होते, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है। इसलिए प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न पुरुषों की सत्ता स्वीकार करना उचित है, जो पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादक है।

पुरुषों को अनेक मानने से उनमें गुणों के कम अथवा अधिक होने के कारण स्वभाव एवं कार्य आदि की भिन्नता भी सिद्ध हो जाती है। अतः 'पुरुष-बहुत्व' का सिद्धान्त ही उचित एवं न्यायसङ्गत है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है—

**पुरुषों की अनेकता (पुरुष बहुत्व)**




(चित्र-२५)

**विशेष**— १. आचार्य माठर 'जन्म' पद को 'जाति' अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं और व्याख्या करते हैं कि— यदि सभी पुरुष एक हैं तो एक ब्राह्मण के उत्पन्न होने पर सभी को ब्राह्मण ही उत्पन्न होना चाहिए।

२. न युगपत् प्रवृत्तेः इति अयुगपत्प्रवृत्तेः (नञ् समास) सभी प्राणियों की एक साथ प्रवृत्ति नहीं होती अथवा एक साथ प्रवृत्ति का अभाव होता है।

३. इस प्रसङ्ग में यह शङ्का की जा सकती है कि यदि पुरुष अनेक हैं तो वेदों में आत्मा की एकता का प्रतिपादन क्यों मिलता है? यदि ऐसा है तो क्या सांख्य वेद विरुद्ध है? इसको इसप्रकार समझा जा सकता है कि सांख्य दो प्रकार के पुरुष मानता है— (क) बद्ध पुरुष (ख) मुक्त पुरुष।

४. कुछ विद्वानों के अनुसार ज्ञ से सम्बन्ध रखने वाली एक कारिका जो १६, १७वीं कारिकाओं के बीच में रही होगी, नष्ट हो गई है। इस कारिका में सम्भवतः ईश्वरकृष्ण ने मुक्तपुरुष के विषय में विचार किया होगा (भारतीयदर्शन, उमेशमिश्र— पृ० २१४)

५. प्रस्तुत कारिका बद्ध पुरुषों के विषय में निर्देश करती है, जिनकी भिन्न-भिन्न शरीरों में अलग-अलग सत्ता है। यद्यपि ये पुरुष भी 'मुक्त-पुरुष' के ही अंश हैं, किन्तु अविद्या अथवा अज्ञान के कारण शरीरों में आबद्ध हैं। ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर मोक्ष की अवस्था में ये मुक्तपुरुष में मिलकर ठीक उसीप्रकार एकाकार हो जाते हैं जिसप्रकार जल की एक बूँद सागर में मिलकर

एकाकार (तदाकार से आकारित) हो जाती है। वह सागररूप पुरुष ही आत्मा, परमात्मा, ज्ञ आदि रूपों में स्थित है। भिन्न-भिन्न पुरुषों की स्थिति जल की अलग-अलग बूँदों के समान है, ऐसा मानने से सांख्य का वेदों के साथ विरोध नहीं रहता है।

६. कुछ सांख्याचार्यों ने इस अभिप्राय को चन्द्रबिम्ब एवं जलाशय के उदाहरण द्वारा भी प्रदर्शित किया है। उनके अनुसार– जिसप्रकार एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब अनेक जलाशयों में अनेक दिखाई देता है, उसीप्रकार एक ही पुरुष अनेक शरीरों में आभासित होता है।

७. किन्तु अन्य आचार्य इसे वृक्ष के उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते हैं– जिसप्रकार अनेक प्रकार के वृक्षों के लिए जातिपरक एक ही शब्द वृक्ष का प्रयोग किया जाता है, ठीक उसीप्रकार अनन्त पुरुषों में (जो अलग-अलग शरीरों में स्थित हैं) पुरुषत्व तो एक ही है।

८. कारिका के अन्त में प्रयुक्त 'एव' पद त्रैगुण्य विपर्ययात् पद के बाद अन्वित कर अर्थ करना अधिक उचित प्रतीत होता है। उससे तीनों युक्तियों पर बल देना ग्रन्थकार का प्रयोजन है, क्योंकि ये तीनों युक्तियाँ ही पुरुष बहुत्व की सिद्धि में सहायक हैं। किन्तु कुछ विद्वानों ने इसे 'सिद्धम्' पद के साथ अन्वित करके अर्थ किया है। (पुरुष बहुत्वं सिद्धमेव)।

९. कारिका के प्रथमचरण में प्रयुक्त 'जन्ममरणकरणानां' को गौडपादभाष्य, माठरवृत्ति, सांख्यचन्द्रिका, युक्तिदीपिका में स्वीकार किया गया।

**अवतरणिका–** सांख्य सम्मत 'पुरुष बहुत्व' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के अनन्तर कारिकाकार विवेक-ज्ञान में उपयोगी होने के कारण उस (पुरुष) के अन्य धर्मों (साक्षित्व आदि) का कथन करने के लिए प्रस्तुत कारिका का अवतरण करते हैं–

**तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।**
**कैवल्यं माध्यस्थ्यं दृष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥ १९॥**

**पदच्छेद–** तस्मात् (उससे) च (और) विपर्यासात् (वैषम्य के कारण) सिद्धम् (सिद्ध होता है) साक्षिमत्वम् (साक्षी होने का भाव) अस्य (इस) पुरुषस्य (पुरुष का) कैवल्यम् (मोक्षरूप धर्म) माध्यस्थ्यम् (उदासीनता), तटस्थता का धर्म) द्रष्टृत्वम् (द्रष्टा का धर्म) अकर्तृभावः (निष्क्रियता का भाव, कर्तृत्व का अभाव) च (और)।

**अन्वय–** च तस्मात् (त्रिगुणादेः) विपर्यासात् अस्य पुरुषस्य साक्षिमत्वम् कैवल्यम्, माध्यस्थ्यम्, द्रष्टृत्वम् अकर्तृभावः च सिद्धम्॥

**अनुवाद–** और उस (त्रिगुणादि धर्मों) से विपरीत होने के कारण इस पुरुष का साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्व और अकर्तृत्व (भी) सिद्ध होता है।

**व्याख्या–** सांख्य के दो प्रमुख, नित्यतत्त्व हैं– पुरुष और मूलप्रकृति। इनमें मूलप्रकृति जिसे प्रत्यक्ष दिखाई न देने के कारण अव्यक्त भी कहा जाता है, से व्यक्त पदार्थों की उत्पत्ति होती है। दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए व्यक्त, अव्यक्त, ज्ञ (पुरुष) का तात्त्विक दृष्टि से जानना अत्यावश्यक है। इसी दृष्टि से ग्रन्थकार ने कारिका ११ में व्यक्त और अव्यक्त पदार्थों की

कुछ विशेषताओं का कथन करके कारिका के अन्त में लिखा था— 'तद्विपरीतस्तथा पुमान्' तथा उस स्थल पर व्यक्त एवं अव्यक्त पदार्थों के अचेतन, त्रिगुण, सामान्य, विषय, अविवेकी तथा प्रसवधर्मी आदि छः विशेषताओं का कथन किया था।

प्रस्तुत कारिका में अभिप्रेत पुरुष की विशेषताओं को जानने के लिए इन विशेषताओं के विपरीत भाव का कथन करना होगा। जैसे— अव्यक्त अचेतन है तो पुरुष चेतन, अव्यक्त त्रिगुण सम्पन्न है तो पुरुष निर्गुण, अव्यक्त सामान्य है तो पुरुष विशेष, अव्यक्त विषय है तो पुरुष अविषय, अव्यक्त अविवेकी है तो पुरुष विवेकी। इसीप्रकार अव्यक्त प्रसवधर्मी है तो पुरुष अप्रसवधर्मी। उस कारिका के आधार पर ये छः विशेषताएँ पुरुष की कही जा सकती हैं, क्योंकि उस स्थल पर पुरुष को अव्यक्त-व्यक्त के विपरीत विशेषताओं वाला बताया गया था।

इसलिए इस कारिका के प्रारम्भ में ही ग्रन्थकार कहते हैं कि उस त्रैगुण्यादि से पूर्णतया विपरीत विशेषताओं से युक्त होने के कारण अर्थात्, पुरुष के चेतन, निर्गुण, विशेष, अविषय, विवेकी एवं अप्रसवधर्मी होने के कारण इसके साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्व एवं अकर्तृत्व आदि धर्मों की सिद्धि स्वतः ही हो जाती है।

यह सिद्धि किसप्रकार होती है इसका क्रमशः कथन करते हैं—

(क) **साक्षित्व–** अचेतन होना अव्यक्त का धर्म है तो पुरुष उसका विपरीत होने के कारण चेतन हुआ। अतः पुरुष का साक्षित्व भी सिद्ध हुआ, क्योंकि जिसके द्वारा विषय को देख लिया जाता है अथवा जिसको विषय दिखाया जाए, वही साक्षी कहलाता है। लोकव्यवहार में भी वादी और प्रतिवादी के द्वारा अपना विवादास्पद विषय साक्षी को दिखाया जाता है। ठीक इसीप्रकार महत् (बुद्धि) रूप में परिवर्तित प्रकृति अपने द्वारा ग्रहण किए गए विषय को स्वयं में प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष को दिखाने की दृष्टि से अर्पित कर देती है। इसी दृष्टि से पुरुष उस सबका साक्षी होता है। अतः पुरुष के एक धर्म साक्षित्व की सिद्धि होती है।

(ख) **कैवल्य–** अव्यक्त (प्रकृति) त्रिगुण सम्पन्न होने तथा पुरुष उसके विपरीत अर्थात् निर्गुण होने के कारण कैवल्य स्वरूप भी सिद्ध होता है, क्योंकि त्रिविध दुःखों (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) की हमेशा के लिए (आत्यन्तिक) निवृत्ति ही कैवल्य कहलाता है। पुरुष में त्रिगुण का अभाव होने से दुःखों का अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों सुखदुःखमोहात्मक हैं। इसलिए पुरुष के निर्गुण होने के कारण दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति स्वतःसिद्ध है। अतः इस दृष्टि से पुरुष का कैवल्य धर्म सिद्ध होता है।

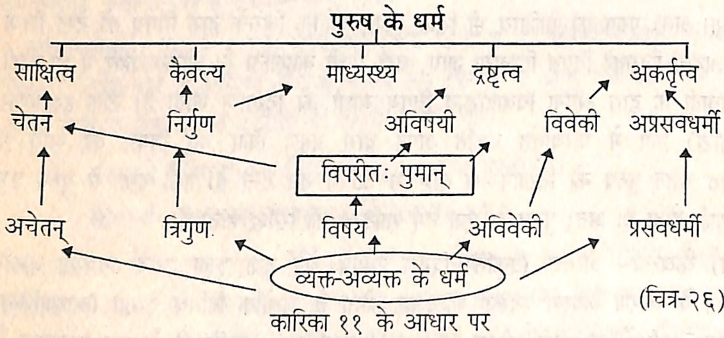
(ग) **माध्यस्थ्य–** पुरुष के निर्गुण होने के कारण ही उसके दूसरे धर्म माध्यस्थ्य की भी स्वतः ही सिद्धि हो जाती है, क्योंकि यहाँ मध्यस्थ पद से अभिप्राय तटस्थ अथवा उदासीनभाव से है। जो व्यक्ति परस्पर विरोधी दो पक्षों में किसी भी पक्ष के साथ न होकर स्वयं को तटस्थ रखे वही मध्यस्थ होने की योग्यता रखता है। अव्यक्त में स्थित सुख, दुःख मोहादि परस्पर विरोधी हैं, किन्तु पुरुष उनके प्रति पूर्णतया उदासीन रहता है, इसलिए मध्यस्थ हुआ यह माध्यस्थ्य उसके निर्गुण होने से ही सम्भव है। सगुण होने की स्थिति में इस तटस्थभाव के

औदासीन्य की सम्भावना ही नहीं की जा सकती थी। इसलिए पुरुष का माध्यस्थ्य भी सिद्ध होता है।

(घ) **द्रष्टृत्व–** अव्यक्त के अचेतन वैशिट्य के विपरीत चेतनत्व रूप विशेषता के कारण ही पुरुष द्रष्टृत्व भी सिद्ध होता है, क्योंकि द्रष्टा हमेशा चेतन पदार्थ ही होता है अचेतन नहीं। साथ ही पुरुष में स्थित अविषयत्व धर्म के कारण भी उसमें द्रष्टृत्व धर्म की स्थिति बनती है, क्योंकि विषय स्वयं अपना द्रष्टा नहीं हो सकता। इसलिए अव्यक्त जो वस्तुतः विषय है स्वयं के द्रष्टा अचेतन होने के कारण भी नहीं हो सकते। जिसप्रकार घट विषय स्वयं को नहीं देख सकता। अतः पुरुष में अविषयी होने के कारण द्रष्टृत्व की सिद्धि होती है।

(ङ) **अकर्तृत्व–** इसीप्रकार पुरुष में दो दृष्टियों से अकर्तृत्व की सिद्धि होती है– १. विवेकी होने से २. उसमें प्रसवधर्म का अभाव होने से (अप्रसवधर्मी)। अविवेकिता एवं प्रसवधर्मिता त्रिगुणात्मक अव्यक्त के धर्म बताए गए हैं। पुरुष इनसे विपरीत धर्मों विवेकी एवं प्रसवधर्म से रहित होता है। अतः उसका अकर्तृत्व सिद्ध होता है, क्योंकि गुणों के अभाव में इन दोनों धर्मों का अभाव होना स्वाभाविक है। वस्तुतः अविवेकिता सम्भूयकारिता और प्रसवधर्मिता गुणों के धर्म ही माने गए हैं। इसलिए पुरुष का अकर्तृत्व भी सिद्ध होता है।

इस सम्पूर्ण कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी समझा जा सकता है–




(चित्र-२६)

कारिका ११ के आधार पर

**विशेष–** १. कारिका के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'च' पद का प्रयोग 'समुच्चय' अर्थ की अभिव्यक्ति हेतु विशेष प्रयोजन के लिए किया गया है, जो प्रस्तुत कारिका के अर्थ को पूर्व की कारिका के साथ जोड़ता है। जिसका अभिप्राय है कि– जिसप्रकार पुरुष की अनेकता वस्तुतः न होते हुए भी कही जाती है। ठीक उसीप्रकार साक्षित्वादि धर्म भी उसमें न होते हुए भी उसके कहे जाते हैं।

२. कारिका में प्रयुक्त 'तस्मात्' पद साभिप्राय प्रयुक्त हुआ है, जिससे ११वीं कारिका में 'व्यक्ताव्यक्त' के धर्म 'त्रिगुणमविवेकि' इत्यादि की ओर संकेत होता है। जिसका अर्थ होगा यह पुरुष व्यक्त, अव्यक्त दोनों प्रकार की प्रकृति के त्रिगुण आदि धर्मों से, जो उस कारिका में कहे गए हैं, सर्वथा विपरीत (तद् विपरीतस्तथा पुमान्)– निर्गुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन

तथा अप्रसवधर्मी होता है और उस (वैपरीत्यभाव विपर्यासात्) से पुरुष के साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्व एवं अकर्तृत्व धर्मों की सिद्धि होती है।

३. यदि कारिकाकार 'तस्मात्' के स्थान पर 'विपर्यासात्, अस्मात्' का प्रयोग करते तो 'इदम्' शब्द द्वारा नैकट्य का बोध कराने के कारण इससे ठीक पहले प्रयुक्त कारिका 'जन्ममरणकरणानाम्' से ही इस कारिका का सम्बन्ध स्थापित हो पाता जो ग्रन्थकार को अभिप्रेत नहीं था, क्योंकि वह तो समुच्चयार्थक 'च' पद का प्रयोग करने से सरलतापूर्वक हो ही गया है।

४. शङ्करानन्द अथवा शङ्कराचार्य ने कारिका में प्रयुक्त 'मध्यस्थ' माध्यस्थ्य पद का अर्थ वादी-प्रतिवादी दोनों के प्रति सम अथवा सर्वत्र उपेक्षाभाव से युक्त उदासीन किया है—

**पश्यति श्रृणोति सर्वं करोति स्थितिं प्रसङ्गं च।**
**नापि स्वतो न परतो नोभयतश्चाप्युदासीनः॥जयमङ्गला॥**

५. प्रस्तुत कारिका में पुरुष को 'अकर्ता' बताया गया है जो व्यवहारतः सिद्ध नहीं होता, क्योंकि प्रतिदिन व्यवहार में हमें 'मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं सोता हूँ इत्यादि अनुभूतियों से उसके कर्तृत्व की प्रतीति होती है और यदि पुरुष कर्ता नहीं है तो फिर उसका भोक्ता होना कैसे सम्भव है? अतः प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से 'वदतो व्याघात' दोष की प्राप्ति होती है। इसप्रकार की विपरीत स्थिति का उत्तर देने के लिए अग्रिम कारिका 'तस्मातत्संयोगात्' का प्रयोग किया है।

**अवतरणिका–** उदासीन होते हुए भी पुरुष कर्ता किसप्रकार होता है। इसका प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत कारिका का अवतरण करते हैं।

**तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।**
**गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥ २०॥**

**पदच्छेद–** तस्मात् (इसलिए) तत् (उस) संयोगात् (संयोग से) अचेतनम् (जड़), चेतनावत् (चेतन के समान) इव (मानो) लिङ्गम् (सूक्ष्मशरीर) गुणकर्तृत्वे (प्रकृति के गुणों के कर्ता होने पर)) अपि (भी) तथा (वैसा होने पर) कर्ता इव (कर्ता के समान) भवति (होता है) उदासीनः (उदासीन)।

**अन्वय–** तस्मात् तत् (पुरुष) संयोगात् अचेतनम् चेतनावत् इव (प्रतीयते) तथा गुणकर्तृत्वे अपि उदासीनः (पुरुषः) कर्ता इव भवति।

**अनुवाद–** इसलिए उस (पुरुष) के संयोग से जड़ (प्रकृति) मानो चेतन के समान (प्रतीत होती है) वैसा होने पर (प्रकृति के) गुणों के कर्ता होने पर भी उदासीन पुरुष कर्ता के समान (प्रतीत) होता है।

**व्याख्या–** सांख्यसिद्धान्त के अनुसार 'तेजोरूप पुरुष का प्रकाश त्रिगुणात्मिका प्रकृति पर पड़ने पर उससे महत् आदि व्यक्त पदार्थों की उत्पत्ति होती है। यहाँ त्रिगुणात्मिका प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। चेतन पुरुष के सम्पर्क में आने पर जड़ प्रकृति भी चेतन के समान उसीप्रकार प्रतीत होती है— जिसप्रकार चुम्बक के सम्पर्क में आने पर लोहे के टुकड़े में गतिशीलता आ

जाती है। अग्नि के सम्पर्क में आने पर जड़ ईंधन अथवा लोहे का टुकड़ा भी जलाने लगता है और हम कहते हैं कि लोहे ने जलाया, लकड़ी ने जलाया आदि।

इसीप्रकार त्रिगुणयुक्त एवं परिणामी होने के कारण बुद्धि आदि कर्ता होते हैं, पुरुष गुणरहित एवं अपरिणामी होने के कारण वस्तुतः कर्ता नहीं होता, अपितु उसमें कर्तापन की प्रतीति एक भ्रान्तिमात्र है। वह तो केवल द्रष्टा होता है, क्योंकि कर्तृत्व एवं द्रष्टृत्व ये दोनों एक आधार में सम्भव नहीं हैं।

पुनः भ्रान्ति के कारण का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि चेतन पुरुष के सान्निध्य में, सम्पर्क में आने पर ही जड़प्रकृति चेतन के समान प्रतीत होती है। उस स्थिति में पूर्णतया उदासीनपुरुष कर्ता न होने पर भी कर्ता के समान आभासित होता है।

कारिका में प्रयुक्त 'लिङ्गम्' पद विशेष व्याख्या की अपेक्षा रखता है। हमारे शरीर में प्रमुख रूप से तीन तत्त्व विद्यमान हैं– (क) पुरुष (ख) लिङ्गशरीर (ग) स्थूलभूत शरीर। इनमें से स्थूलभूत शरीर पुरुष और लिङ्गशरीर के निकल जाने पर 'शव' हो जाता है। उसे लोग या तो जला डालते हैं या जमीन में दफना देते हैं। तब पञ्चमहाभूतों से निर्मित यह स्थूलशरीर पुनः पञ्चमहाभूतों में ही विलीन हो जाता है।

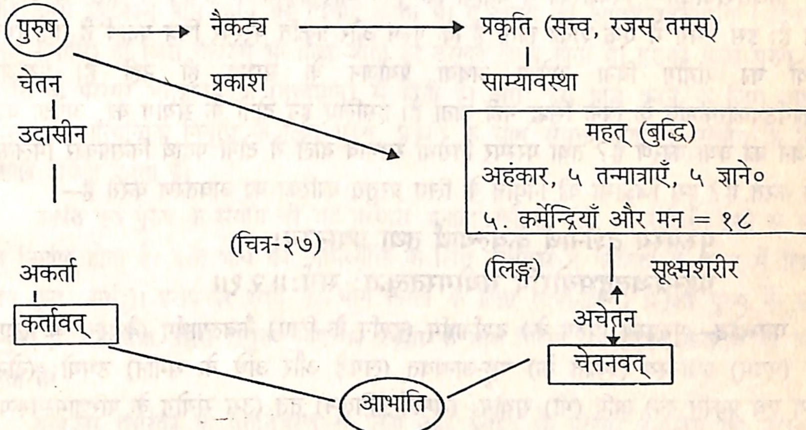
जहाँ तक लिङ्गशरीर का प्रश्न है इसका निर्माण महत् (बुद्धि), अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ और मन आदि कुल १८ पदार्थों के सूक्ष्म अंशों से होता है। यह सूक्ष्मशरीर यालिङ्गशरीर ही बद्धपुरुष अथवा आत्मा के साथ एक शरीर से दूसरे शरीर में संसरण (गति) करता है। इसमें प्रकृति के तीनों (सत्त्व, रजस् और तमस्) गुण विद्यमान होते हैं। यह लिङ्गशरीर ही वस्तुतः प्रत्येक कार्य का कर्ता होता है, जिसके परिणामस्वरूप पाप-पुण्य के संस्कारों से आबद्ध होकर पुरुष के साथ अलग-अलग पञ्चभूतात्मक शरीरों को धारण करता है। इसके साथ रहने वाला पुरुष पूर्णतया उदासीन रहता है, किन्तु अत्यन्त नैकट्य अथवा तादात्म्य के कारण लोहे और अग्नि के समान ये दोनों एक प्रतीत होते हैं। उस स्थिति में पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' आदि की अनुभूति करता है। जबकि वस्तुतः वह कर्ता नहीं होता, वह तो केवल द्रष्टा होता है। उसकी कर्तापन की अनुभूति पूर्णतया भ्रान्ति पर आधारित है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कर्तृत्व सूक्ष्मशरीर में स्थित सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुणों में विद्यमान है, किन्तु चेतनपुरुष के अत्यन्त सान्निध्य के कारण वह उसमें प्रतीत होता है। जबकि यहाँ कर्तापन का पूर्णतया अभाव होता है। चैतन्य ही पुरुष का धर्म है, कर्तृत्व नहीं। प्रतीति तो भ्रान्ति मात्र है। इसीकारण ज्ञान की अवस्था में यह प्रतीति नहीं होती।

इसे हम बिजली द्वारा चलने वाले किसी भी उपकरण जैसे पंखा आदि का उदाहरण देकर अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। पंखा स्वयं में जड़ है, किन्तु विद्युत् के संचरण से उसमें हमें ऐसी प्रतीति होती है कि पंखा हमें हवा दे रहा है, जबकि यह भ्रान्ति है। वस्तुतः उसकी चेतनता का मूलस्रोत विद्युत् है। ठीक इसीप्रकार चेतना का मूल स्रोत (लिङ्गशरीर की) चेतन पुरुष है।

इसप्रकार पूर्व कारिका संख्या १७-१९ में बताए गए उसके धर्म साक्षित्व द्रष्टृत्व, भोक्तृत्व, अधिष्ठातृत्व प्रधानतया उसके नहीं है, केवल प्रतीत होते हैं। पुरुष तो वस्तुतः चेतन, चित्स्वरूप एवं उदासीन है। दूसरे शब्दों में जो धर्म हमने १७-१९वीं कारिका तक पुरुष के कहे हैं उनमें से अधिकांश बद्धपुरुष के धर्म हैं, मुक्त के नहीं।

इस कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है—




(चित्र-२७)

**विशेष–** १. कुछ विद्वानों के मत में कारिका में प्रयुक्त 'तस्मात्' पद से पूर्व 'यतः' पद का अध्याहार करके कारिका का अभिप्राय अधिक संगत होगा, किन्तु इसका औचित्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'यस्मात्' पद का प्रयोग यहाँ 'हेतु' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए ही हुआ है।

२. सांख्य का पुरुष वस्तुतः अकर्ता है फिर भी उसमें जो कर्तापन की प्रतीति होती है वह वास्तविक नहीं, अपितु भ्रान्तिमूलक है। इसका अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

३. आचार्य माठर इस प्रसंग को घड़े के उदाहरण से समझाते हुए कहते हैं कि घड़ा न स्वयं ठंडा होता है और न गर्म, अपितु जल के सम्पर्क में आने पर ठंडा और अग्नि के सम्पर्क में आने पर गर्म हो जाता है। ठीक उसीप्रकार चेतन पुरुष की निकटता से जड़ प्रकृति भी चैतन्य सम्पन्न प्रतीत होने लगती है। जयमंगलाकार इस प्रसंग में अग्नि और लोहे का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

४. आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इस प्रसंग को आग और लोहे तथा जल एवं सूर्य के संयोग का उदाहरण प्रस्तुत करके स्पष्ट किया है।

५. जयमंगलाकार पुरुष के कर्तापन की प्रतीति का कारण प्रकृति के तमोगुण से पुरुष का अभिभूत होना मानते हैं। उनके अनुसार— संयोग के कारण प्रकृति के तमोगुण से अभिभूत होकर पुरुष गुणों का कर्ता स्वयं को समझने लगता है। जबकि वास्तविकता यह है कि वह एक तिनके को भी टेढ़ा नहीं कर सकता—

प्रवर्तमानान्प्रकृतेरिमान् गुणांस्तमोभिभूतो विपरीतदर्शनः।
अहं करोमीत्यबुधोऽभिमन्यते तृणस्य कुञ्जीकरणऽप्यनीश्वरः॥

६. कारिका के पूर्वार्द्ध में प्रयुक्त 'इव' पद को उत्प्रेक्षावाची तथा उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त 'इव' को 'समान' अर्थ की प्रतीति के लिए मानना उचित प्रतीत होता है। उससे कारिका का अभिप्राय अधिक संगत लगता है।

**अवतरणिका–** पूर्वकारिका में बताया कि पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस प्रसंग में एक शंका होती है कि पुरुष और प्रकृति परस्पर भिन्न पदार्थ हैं तथा भिन्न पदार्थों का संयोग बिना अपेक्षा अथवा प्रयोजन के सम्भव ही नहीं है। प्रयोजन उपकार्यउपकारकभाव के बिना सिद्ध नहीं होता है। इसलिए इन दोनों के संयोग का, अपेक्षा का, प्रयोजन का क्या कारण है? तथा परस्पर विरोधी स्वभाव वाले ये दोनों पदार्थ किसप्रकार मिलकर कार्य करते हैं? इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए प्रस्तुत कारिका का अवतरण करते हैं–

**पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।**
**पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ २१॥**

**पदच्छेद–** पुरुषस्य (पुरुष के) दर्शनार्थम् (दर्शन के लिए) कैवल्यार्थम् (कैवल्य के लिए) तथा (एवम्) प्रधानस्य (प्रकृति के) पङ्गु-अन्धवत् (लंगड़े और अंधे के समान) उभयोः (दोनों (पुरुष एवं प्रकृति का) अपि (भी) संयोगः (सम्पर्क, मिलन) तत् (उस संयोग के परिणामस्वरूप) कृतः (की गई) सर्गः (सृष्टि है)।

**अन्वय–** प्रधानस्य दर्शनार्थम् तथा पुरुषस्य कैवल्यार्थम् उभयोः अपि संयोगः पङ्गु-अन्धवत् (भवति) (एषः) सर्ग, तत् कृतः (एव) (वर्तते)।

**अनुवाद–** प्रकृति के दर्शन के लिए एवं पुरुष के कैवल्य के लिए दोनों (पुरुष एवं प्रकृति) का ही संयोग अंधे और लंगड़े के समान (होता है), (यह सम्पूर्ण) सृष्टि उस (संयोग) के द्वारा (ही) बनी हुई है।

**व्याख्या–** प्रस्तुत कारिका में पुरुष एवं प्रकृति के संयोग के प्रमुख-रूप से दो प्रयोजनों का उल्लेख किया गया है (क) दर्शन (ख) कैवल्य प्रकृति का स्वभाव है कि वह अपने आपको (स्वयं को) पुरुष के समक्ष प्रस्तुत करना चाहती है, क्योंकि प्रकृति भोग्या है, सुख दुःख का अनुभव करना ही भोग है। प्रकृति स्वयं सुखदुःखस्वरूपा है, क्योंकि वह त्रिगुणात्मिका है। इसलिए वह स्वयं सुख दुःखादि का अनुभव नहीं कर सकती। उसके लिए कोई भोक्ता होना चाहिए, वह भोक्ता पुरुष ही है अन्य कोई नहीं।

इसलिए भोग्या प्रकृति का पुरुष के साथ संयोग अपने भोक्ता पुरुष के सामने स्वयं को प्रदर्शित करना है। इसमें ही वह आनन्द का अनुभव करती है। लोकव्यवहार में भी देखा जाता है कि स्त्रियाँ स्वयं को इसीलिए सजाती और संवारती हैं, जिससे उन्हें उनके पति आदि पुरुष देखें। स्वयं के पुरुष द्वारा भोग में ही वे अपनी सार्थकता समझती हैं। यही अभिप्राय यहाँ कारिका में प्रयुक्त 'दर्शनार्थम्' में अभिप्रेत है।

इसके अतिरिक्त पुरुष एवं प्रकृति का संयोग केवल प्रकृति की अपेक्षा के कारण ही नहीं होता, अपितु पुरुष भी इसकी अपेक्षा रखता है और उसकी यह अपेक्षा अथवा प्रयोजन है– कैवल्य की प्राप्ति। प्रकृति के साथ सम्बद्ध होकर पुरुषबद्ध हो जाता है तथा प्रकृति में स्थित सुख दुःख मोहादि को अपने ही मानने लगता है, यद्यपि ऐसा उसके अज्ञान अथवा अविद्या के कारण होता है।

पुनः वह दुःखादि से पीड़ित होकर व्याकुलता का अनुभव करता है, छटपटाने लगता है और उनसे छुटकारा प्राप्त करने का विचार करता है। दुःखत्रय की आत्यन्तिकनिवृत्ति (सदैव के लिए समाप्ति) ही जिसे कैवल्य भी कहा जाता है, उसका लक्ष्य होता है। इसकी प्राप्ति पुरुष एवं प्रकृति के परस्पर भेदज्ञानपूर्वक (तत्त्वज्ञान) से होती है। अतः इसे प्राप्त करने के लिए अर्थात् दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए पुरुष, प्रकृति के साथ संयुक्त होता है, संयोग के लिए उसकी अपेक्षा करता है।

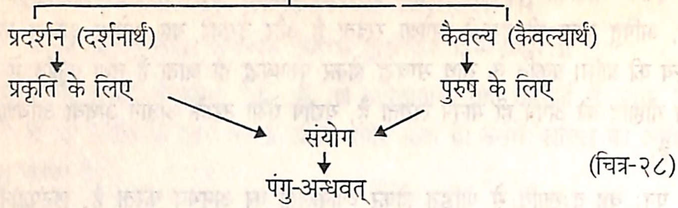
प्रकृति एवं पुरुष के संयोग की यह परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। इसी से सृष्टि का निर्माण होता है। इसी भाव की अभिव्यक्ति के लिए ग्रन्थकार ने कारिका के अन्त में लिखा (तत् कृतः सर्गः)। इसप्रकार स्वयं का भोग कराने के लिए (दर्शनार्थम्) प्रकृति पुरुष के साथ संयुक्त होती है तथा उससे संयुक्त पुरुष का प्रकृति के साथ मिलने का उद्देश्य कैवल्य की प्राप्ति रहता है।

ग्रन्थकार कारिका के तृतीयचरण में पुरुष और प्रकृति के परस्पर सहयोग को उदाहरण पूर्वक प्रस्तुत करते हुए कहते हैं– पंगु-अन्धवत् उभयोः अपि संयोगः। इन दोनों का संयोग परस्पर सहयोग के सिद्धान्त पर आधारित है। जिसप्रकार एक अंधा व्यक्ति होता है जो देख नहीं सकता और अन्य व्यक्ति लंगड़ा है जो चल नहीं सकता। वे दोनों स्वतन्त्ररूप से कुछ भी करने में समर्थ नहीं होते, किन्तु यदि वे दोनों एक दूसरे के साथ जुड़ जाएँ तो वे कुछ भी करने में समर्थ हैं, कहीं भी जा सकते हैं, क्योंकि लंगड़ा व्यक्ति यदि अंधे व्यक्ति के कंधे पर सवार हो जाए, तो लंगड़ा व्यक्ति जो देख सकता है, मार्ग निर्देश करेगा और अंधा व्यक्ति जो ठीक प्रकार चल सकता है, आसानी से लंगड़े के साथ कहीं भी जाने में, कुछ भी करने में समर्थ होगा। उन दोनों को इसप्रकार के परस्पर सहयोग के आधार पर किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी।

सांख्य के पुरुष और प्रकृति का संयोग एवं सहयोग भी लंगड़े और अंधे के ही समान होता है, जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण व्यक्त जगत् का निर्माण होता है। इन दोनों के संयोग से भोग और कैवल्य दोनों की सिद्धि होती है।

इसप्रकार भोग और कैवल्यरूप मुख्य प्रयोजन के अतिरिक्त इन दोनों के संयोग का एक अवान्तर प्रयोजन महत् आदि से लेकर पञ्चमहाभूतपर्यन्त सृष्टि का निर्माण करना भी है। वस्तुतः यह सृष्टि भी इन दोनों के क्रमशः भोग और अपवर्ग के लिए ही है।

कारिका के भाव को इसप्रकार भी प्रस्तुत कर सकते हैं–




(चित्र-२८)

**विशेष–** १. उपर्युक्त अर्थ कारिका के पूर्वार्द्ध के क्रम को भंग करके आचार्य वाचस्पति मिश्र के अनुसार किया गया है, किन्तु आचार्य गौडपाद ने कारिका के क्रम को स्वीकार करते हुए पुरुष के दर्शन (पुरुषस्य दर्शनार्थम्) तथा प्रकृति के मोक्ष (कैवल्यार्थं प्रधानस्य) विषयक अर्थ को उचित माना है।

२. आचार्य विज्ञानभिक्षु भी प्रकृति के मोक्ष को ही स्वीकार करते हैं जो उचित भी प्रतीत होता है, क्योंकि सांख्यकारिकाकार ने आगे स्वयं इस बात को स्वीकार किया हैं–

**तस्मान्न बध्यतेऽसौ न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।**
**संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ ६२॥**

इसप्रकार बंधन पुरुष का नहीं अपितु प्रकृति का होता है। अतः मोक्ष (कैवल्य) भी प्रकृति का ही मानना उचित है।

३. पुरुष एवं प्रकृति के परस्पर सहाय्य को लंगड़े-अंधे (पंगुअंधवत्) के उदाहरण द्वारा अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

४. प्रकृति एवं पुरुष के संयोग की सार्थकता का अत्यन्त समासात्मकशैली में कथन किया गया है।

**अवतरणिका–** यहाँ तक पुरुष एवं प्रकृति के स्वरूपादि का कथन करने तथा उनके मिलने के उद्देश्य का प्रतिपादन करने के बाद कारिकाकार सांख्यसिद्धान्त के अनुसार सृष्टिक्रम का निरूपण करने के लिए अग्रिम कारिका का उल्लेख करते हैं–

**प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडषकः।**
**तस्मादपि षोडषकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥ २२॥**

**पदच्छेद–** प्रकृतेः (प्रकृति से) महान् (महत्) (बुद्धि) ततः (उस महत् से) अहङ्कारः (अहंकार) तस्मात् (उस अहंकार से) गणः (समूह) च (और) षोडषकः (सोलह पदार्थों का) तस्मात् (उस) अपि (भी) षोडषकात् (सोलह के (समूह में से) पञ्चभ्यः (पांच (तन्मात्राओं) से) पञ्चभूतानि (पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं)।

**अन्वयः–** प्रकृतेः महान् (उत्पद्यते), ततः (महतः) अहङ्कारः च तस्मात् (अहंकारात्) षोडषकः गणः (प्रादुर्भवति) तस्मात् अपि षोडषकात् पञ्चभ्यः (पञ्चतन्मात्रेभ्यः) पञ्चभूतानि (प्रकटीभवन्ति)।

**अनुवाद–** मूल प्रकृति से महान् (उत्पन्न होता है), उस महान् से अहंकार, और उस (अहंकार) से सोलह पदार्थों का समूह (प्रकट होता है)। उसी सोलह के समूह में से पाँच (तन्मात्राओं) से पञ्चमहाभूत (उत्पन्न होते हैं)।

**व्याख्या–** सांख्यशास्त्र सृष्टि की उत्पत्ति का मूलकारण 'प्रकृति' को मानता है। इसको 'प्रधान', 'अव्यक्त', 'कारण', 'तमोबहुल', 'गुणसाम्य' एवं 'अव्याकृत' इत्यादि नामों से भी जाना जाता है, किन्तु 'अव्यक्त' और 'प्रधान', 'प्रकृति' अथवा 'मूलप्रकृति' आदि नामों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। यह नित्य तत्त्व है।

इस 'मूलप्रकृति' से, (जो सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था का ही नाम है) पुरुष का प्रकाश पड़ने पर सर्वप्रथम 'महत्' तत्त्व की उत्पत्ति होती है। सांख्य का पुरुष तेजोरूप निष्क्रिय, द्रष्टामात्र है, जिसका विस्तृत विवेचन हम पहले कर चुके हैं। इसी का दूसरा नाम 'ज्ञ' भी है। यह भी नित्यतत्त्व माना गया है। इसी को आत्मा अथवा परमात्मा भी कह सकते हैं।

'महत्' का दूसरा नाम 'बुद्धि', 'मति', 'प्रत्यय', 'महान्' एवं 'उपलब्धि' भी है। 'निश्चय' ही इसका प्रमुख लक्षण है। पुनः 'महत्' तत्त्व से 'अहंकार' की उत्पत्ति होती है। सृष्टि-क्रम के इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि मूलप्रकृति में तीन गुण होने के कारण उससे उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों में ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं, अन्तर केवल मात्रा का होता है। कहीं सतोगुण प्रधान होता है तो कहीं रजोगुण।

अतः सत्त्वगुण प्रधान 'अहंकार' से ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मोन्द्रियाँ और मन तथा तमोगुण प्रधान अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ यह सोलह का गण (षोडशकः गणः) उत्पन्न होता है। रजस् की भूमिका दोनों की उत्पत्ति में प्रेरक के समान होती है। पुनः इस षोडशगण का विस्तृत नामोल्लेख किया जा रहा है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ– 'श्रोत्र', 'त्वक्', 'चक्षु', 'रसना' और 'घ्राण' हैं। इनके माध्यम से ही व्यक्ति क्रमशः इनके विषयों शब्द, स्पर्श (उष्ण अथवा शीत) रूप, रस और गंध को ग्रहण करता है। सामान्यरूप से व्यक्ति कान आदि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले अंगों के लिए श्रोत्र, नेत्र आदि का प्रयोग कर लेता है। वास्तव में वे ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं है, अपितु उन-उन अंगों में निहित शक्ति ही ज्ञानेन्द्रिय कहलाती है। जिस शक्ति के माध्यम से ये विषयों को ग्रहण करती हैं। इनके माध्यम से ज्ञान की प्राप्ति होती है, इसीलिए ये ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं।

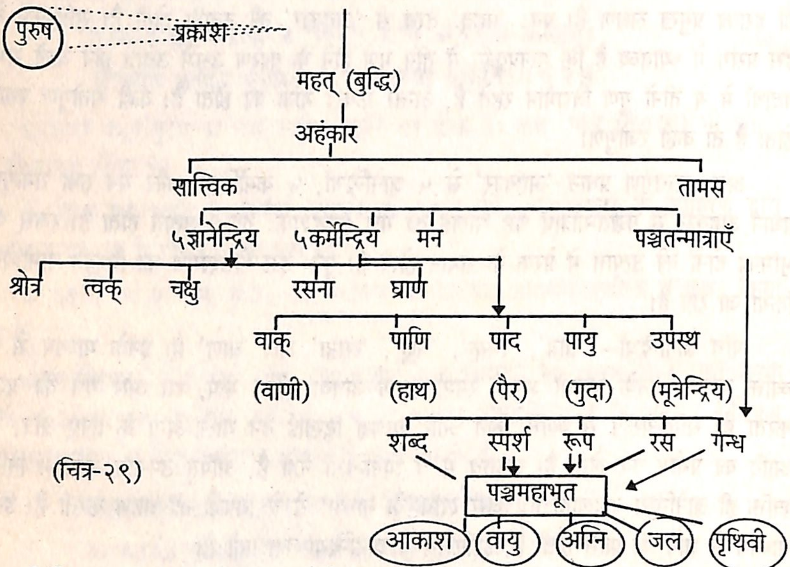
पाँच कर्मेन्द्रियाँ– 'वाक्' (वाणी), पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा) तथा उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) हैं। व्यक्ति इनके द्वारा दैनिककर्म निष्पन्न करता है। जैसे– वाक् कर्मेन्द्रिय के द्वारा बोलना, पाणि के द्वारा लेना, रखना आदि, पाद के द्वारा चलना, पायु के द्वारा मलविसर्जन करना एवं उपस्थ के द्वारा आनन्द प्राप्त करना आदि। इसीलिए इन्हें कर्मेन्द्रिय कहा जाता है।

सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न ग्यारहवाँ तत्त्व 'मन' है। यह संकल्प-विकल्प करता है। अहंकार के तमोगुणबहुल अंश से उत्पन्न पञ्चतन्मात्राओं में 'शब्द', 'स्पर्श', 'रस' और 'गन्ध' आते हैं। ये हमें दिखाई नहीं देते इनका केवल ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभव किया जा सकता है। ये वस्तुतः

सूक्ष्मरूप में स्थित रहते हैं। इन्हीं (सूक्ष्म) तन्मात्राओं से सांख्यशास्त्र पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति मानता है।

इसप्रकार अहंकार से उत्पन्न सोलह का गण (षोडषकगण) हुआ– पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, मन, तथा पञ्चतन्मात्राएँ (5+5+1+5=16) इस षोडशगण में स्थित पञ्चतन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी इन पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति का कथन कारिका के उत्तरार्द्ध में किया गया है।

इसप्रकार सांख्यशास्त्र के अनुसार त्रिगुणात्मिका मूल-प्रकृति से कुल मिलाकर तेइस पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिन्हें 'व्यक्त' भी कहा जाता है। यही सांख्य का सृष्टिक्रम है। प्रलयकाल में ये सभी व्यक्तपदार्थ अपने-अपने कारण में अन्तर्भूत होते जाते हैं। अन्त में इन सबका मूलकारण प्रकृति शेष रहती है, क्योंकि वह नित्य है। यहाँ पुरुष भी नित्य होने के कारण प्रलयकाल में स्थित रहता है। कारिका के सम्पूर्ण अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–



(चित्र-२९)

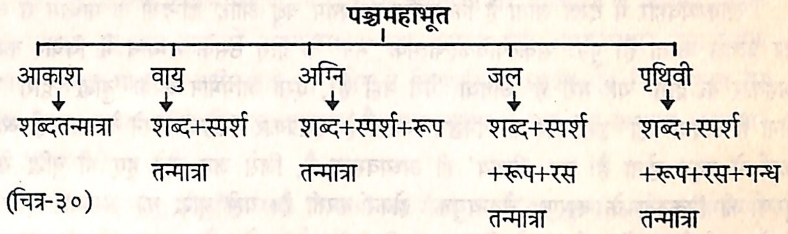
**विशेष**– १. कारिका के उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त षोडशकात् पञ्चभ्यः से अभिप्राय सोलह के समूह में स्थित पाँच तन्मात्राओं से है।

२. पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भाष्यकारों में मतभेद मिलता है। आचार्य माठर और गौडपाद प्रत्येक तन्मात्रा से स्वतन्त्ररूप से (चित्र के अनुसार) अलग-अलग महाभूतों की उत्पत्ति मानते हैं।

३. किन्तु आचार्य वाचस्पतिमिश्र एवं जयमंगलाकार इनकी उत्पत्ति इसप्रकार मानते हैं– शब्दतन्मात्रा से आकाश, पुनः शब्दतन्मात्रा सहित स्पर्शतन्मात्रा से वायु, इसके बाद शब्द,

स्पर्शतन्मात्राओं के साथ रूपतन्मात्रा से तेज (अर्थात् अग्नि) की उत्पत्ति होती है। इसीप्रकार शब्द, स्पर्श, तथा रूप से युक्त रसतन्मात्रा से जल की एवं शब्द, स्पर्श, रूप एवं रसतन्मात्राओं से युक्त गन्धतन्मात्रा से पृथिवी की उत्पत्ति हुई है।

इस अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है—




(चित्र-३०)

४. इसीकारण आकाश में केवल शब्दगुण, वायु में शब्द एवं स्पर्श दो गुण, तेज में शब्द, स्पर्श एवं रूप तीन गुण, जल में शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस चार गुण एवं पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध आदि पाँचों गुण पाए जाते हैं।

५. योगसूत्र से जयमंगलाकार के मत की पुष्टि होती है (योगसूत्र २/१९)

६. जयमंगलाकार ने आकाशादि महाभूतों को स्थूल एवं विशेष भी कहा है।

७. कारिका में प्रयुक्त 'अपि' अव्यय पद का 'निश्चय' अर्थ में प्रयोग उचित प्रतीत होता है।

८. सांख्य का सृष्टिसिद्धान्त अत्यन्त संक्षेप में कथन किया गया है।

**अवतरणिका–** 'अव्यक्त' रूप प्रकृति से महत् आदि २३ व्यक्त पदार्थों की उत्पत्ति पूर्वकारिका में बताई गई। पुनः सर्वप्रथम उत्पन्न 'महत्' का लक्षण करते हुए, उसके सात्त्विक एवं तामसधर्मों का कथन करने के लिए प्रस्तुत कारिका का अवतरण करते हैं—

**अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।**
**सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥ २३॥**

**पदच्छेद–** अध्यवसायः (निश्चय ही) बुद्धिः (बुद्धि है) धर्मः ज्ञानम् (ज्ञान) विरागः (वैराग्य) ऐश्वर्यम् (ऐश्वर्य) सात्त्विकम् (सात्त्विक) एतत् (ये चार) रूपम् (गुण हैं) तामसम् (तमोगुण से उत्पन्न) अस्मात् (इनसे) विपर्यस्तम् (विपरीत हैं)।

**अन्वय–** अध्यवसायः बुद्धिः (अस्ति अस्याः) धर्मः, ज्ञानम्, विरागः, ऐश्वर्यम् एतत् (चतुष्टयम्) सात्त्विकम् रूपम् (वर्तते)। तामसम् (गुणम्) अस्मात् विपर्यस्तम् (भवति)।

**अनुवाद–** 'निश्चय' बुद्धि (है)। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ये (चार) उसके सात्त्विक गुण (हैं), तमोगुण से उत्पन्न (इनसे ठीक) विपरीत (अधर्म, अज्ञान, राग, अनैश्वर्य हैं)।

**व्याख्या–** प्रकृति से सर्वप्रथम उत्पन्न 'महत्' जिसका दूसरा नाम 'बुद्धि' भी है, का कारिका के प्रथम चरण में लक्षण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

**अध्यवसायः बुद्धिः**— बुद्धि का स्वरूप 'अध्यवसाय' है। यहाँ 'अध्यवसाय' से अभिप्राय 'निश्चय' से है। अतः 'निश्चय' ही बुद्धि है। यद्यपि 'निश्चय' बुद्धि का कार्य होने के कारण उसका धर्म है, किन्तु यहाँ 'क्रिया' और 'क्रियावान्' में अभेद मानकर ही 'निश्चय' को बुद्धि कहा गया है।

लोकव्यवहार में देखा जाता है कि व्यक्ति सर्वप्रथम चक्षु आदि इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु का प्रत्यक्ष करता है। पुनः संकल्पविकल्पात्मक 'मन' के द्वारा उसके सम्बन्ध में विचार करके, अहंकार के द्वारा 'यह मेरी है' अथवा 'मेरी नहीं है', ऐसा अभिमान करके 'बुद्धि' द्वारा 'इसे लेना है अथवा नहीं' इसप्रकार का 'निश्चय' करता है। इसप्रकार 'निश्चय' करने के बाद ही व्यक्ति कार्य में प्रवृत्त होता है। यह 'निश्चय' ही अध्यवसाय है, जिसे जड़ होते हुए भी बुद्धि चेतन पुरुष की निकटता के कारण 'चैतन्ययुक्त' होकर करती है। यही बुद्धि का असाधारण अर्थात् विशेषकार्य है। यहाँ ग्रन्थकार ने क्रिया एवं क्रियावान् के अभेद के आधार पर ही बुद्धि का लक्षण किया है।

पुनः शेष कारिका में ग्रन्थकार ने 'निश्चयस्वरूपिणी' इस बुद्धि के आठ धर्मों का उल्लेख किया है। इनमें प्रथम चार— 'धर्म, 'ज्ञान', 'विराग' एवं 'ऐश्वर्य' सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण सात्त्विक तथा तमोगुण की प्रधानता के कारण इनके ठीक विपरीत 'अधर्म', 'अज्ञान', राग तथा 'अनैश्वर्य' आदि तामसिक माने गए हैं। इन दोनों प्रकार के धर्मों (सात्त्विक एवं तामसिक) में रजोगुण प्रेरक के रूप में भूमिका निर्वाह करता है। अतः दोनों में इसकी स्थिति बनी रहती है। अब हम बुद्धि के आठ धर्मों का क्रमशः विवेचन करेंगे।

(क) **धर्म**— व्यक्ति को 'अभ्युदय' एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति कराने वाला कारण 'धर्म' कहलाता है। यज्ञ, दानादि अच्छे कार्यों के द्वारा इस लोक में भौतिक उन्नति को प्राप्त करना ही 'अभ्युदय' है तथा 'निःश्रेयस्' से अभिप्राय कैवल्य (मोक्ष) से है। जिसे योगदर्शनादि में कहे गये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारण, ध्यान और समाधि आदि अष्टांगयोग के (शास्त्रानुमोदित) आचरण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

इसप्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आदि यम एवं शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान आदि नियम का पालन करना ही अप्रत्यक्षरूप से धर्म है। इस सबके विपरीत आचरण करना ही अधर्म होता है। जब व्यक्ति अपने 'अभ्युदय' एवं 'निःश्रेयस्' को प्राप्त करने के लिए कार्य करता है, उस समय उसमें सत्त्वगुण का पर्याप्तमात्रा में उद्रेक कहा जाएगा, किन्तु इसके विपरीत 'अधर्म'' पूर्ण आचरण करते हुए 'तमोगुण' की बहुलता कही जाएगी। रजोगुण धर्म एवं अधर्म दोनों स्थितियों में विराजमान होता है, क्योंकि वह निष्क्रिय सत्त्वगुण एवं तमोगुण को प्रेरित करता है, उन्हें गतिशील बनाता है। रजोगुण के अभाव में ये दोनों गुण कुछ भी करने में असमर्थ होते हैं। इसीलिए इसकी भूमिका 'प्रेरक' के समान होती है।

(ख) **ज्ञान**— त्रिगुणात्मिका 'प्रकृति' एवं निर्गुण, तेजोरूप 'पुरुष' का विवेक भेदपूर्वक साक्षात्कार ही सांख्यदर्शन की भाषा में 'ज्ञान' कहलाता है। सांख्य के अनुसार प्रकृति-पुरुष-विवेकरूप प्रतीति अनुभूति ही ज्ञान है। जिसके द्वारा व्यक्ति को कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

आचार्य माठर एवं आचार्य गौडपाद ज्ञान के दो भेदों का उल्लेख करते हैं– (क) बाह्यज्ञान (ख) आभ्यन्तर ज्ञान। बाह्यज्ञान को व्यक्ति वेदांगो (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरूक्त एवं ज्योतिष) के अध्ययनपूर्वक वेदशास्त्रों, पुराणों आदि के मनन से प्राप्त करता है, किन्तु योग्य गुरु के सान्निध्य से सांख्यदर्शन में कहे गए, सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीन गुणों की साम्यावस्था त्रिगुणात्मिका, प्रकृति तथा निर्गुण, व्यापी, चेतन पुरुष अथवा ज्ञ को यथार्थरूप में जानकर, उनके भेद को समझते हुए प्राप्त ज्ञान को आभ्यन्तरज्ञान कहा जाएगा। इसी आभ्यन्तरज्ञान द्वारा व्यक्ति को कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है। संक्षेप में त्रिगुणात्मिका प्रकृति एवं निर्गुण पुरुष का भेदपूर्वक विवेक अथवा बुद्धि ही ज्ञान कहलाता है। सांख्यदर्शन में ज्ञान पद के द्वारा आभ्यन्तर ज्ञान ही अभिप्रेत है।

इसके ठीक विपरीत सांसारिक सभी क्रियाओं को सत्य मानते हुए पुरुष अर्थात् आत्मा को कर्ता तथा प्रकृति को मूलतः चेतन आदि धर्मो से युक्त समझना अज्ञान है। तमोगुण का प्रभाव अधिक होने पर इसप्रकार का 'अज्ञान' रहता है।

(ग) **विराग–** राग अर्थात् आसक्ति का अभाव 'विराग' अथवा 'वैराग्य' होता है त्रिगुणात्मक सभी वस्तुओं में अनासक्ति ही वैराग्य है। (चाहे वे इस लोक की हों या परलोक की) गौडपाद एवं आचार्य माठर ने इसके भी दो भेद किये हैं– (क) बाह्य (ख) आभ्यन्तर।

सांसारिक विषयों को प्राप्त करने, रक्षा करने तथा उनके नष्ट होने में हिंसा आदि दोषों को देखकर उनके प्रति वितृष्णा की भावना ही बाह्यवैराग्य कहलाता है। इसके अतिरिक्त मोक्ष की प्रबल इच्छा रखने वाला विरक्त व्यक्ति जब सांसारिक विषयों को स्वतः ही स्वप्न के समान समझने लगता है तथा उनके प्रति उसमें विरक्ति की भावना पैदा होती है। तब आभ्यन्तरवैराग्य की स्थिति मानी जाती है। मन की स्थिति एवं प्रयत्न के अनुसार विराग की चार अवस्थाएँ बताई गई हैं–

१. **यतमान अवस्था–** मेरे मन में स्थित दोष मेरी इन्द्रियों को कुमार्ग पर न ले जावें इसप्रकार विचार कर किया गया प्रयत्न यतमानवैराग्य की स्थिति वाला होता है।

२. **व्यतिरेक अवस्था–** इसप्रकार के यतमान अवस्था वाले प्रयत्न में कुछ दोष मन के ऊपर प्रभावी होंगे और कुछ नहीं होंगे। मन के कमजोर होने की स्थिति में कौन दोष अधिकार जमा सका, प्रभावी हो सका और कौन नहीं इस भेद के निश्चय को प्राप्त करना ही वैराग्य की व्यतिरेक-अवस्था है।

३. **एकेन्द्रिय अवस्था–** परिपक्व दोष जब मन में ही उथल पुथल मचाते हैं इतने प्रभावी नहीं होते कि वे इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रवृत्त कर सकें यह वैराग्य की एकेन्द्रिय-अवस्था कहलाती है।

४. **वशीकरण अवस्था–** सांसारिक विषय जो मन को विचलित कर देने में समर्थ हैं, सामने आने पर भी उनके प्रति किसी प्रकार की उत्सुकता का न होना ही वैराग्य की वशीकरण अवस्था होती है। यह सब सत्त्वगुण के प्रभावी होने से होता है।

इसके विपरीत तमोगुण के प्रभाव के कारण सांसारिक भोग्य पदार्थों स्त्री, भोजन, पान, विलेपन आदि में पूर्णतया आसक्ति, उनके भोग द्वारा आनन्द की अनुभूति ही राग है। इस स्थिति में बुद्धि पूर्णतया सांसारिक विषयों में डूब कर आनन्द का अनुभव करती है।

(घ) **ऐश्वर्य–** 'अणिमा', 'लघिमा', 'गरिमा', 'महिमा', 'प्राप्ति', 'प्राकाम्य' वशित्व एवं ईशित्व इन आठ सिद्धियों की प्राप्ति ही 'ऐश्वर्य' कहलाता है। सिद्धियों का प्रादुर्भाव भी बुद्धि की ही धर्म है, जो सत्त्वगुण के प्रभावी होने से प्राप्त होता है। इनमें।

१. **अणिमा–** अणुभाव अथवा सूक्ष्मरूप धारण करने की क्षमता को कहेंगे। इस सिद्धि को प्राप्त करके योगी शिला में भी प्रवेश की क्षमता से युक्त हो जाता है।

२. **लघिमा–** हल्कापन अथवा लघुता ही 'लघिमा' है, जिसके कारण योगी सूर्य की किरणों का सहारा लेकर सूर्यलोक में पहुंचने की सामर्थ्य से युक्त हो जाता है।

३. **गरिमा–** गुरुता अथवा भारीपन ही 'गरिमा' है। इसके कारण व्यक्ति इतना भारी हो जाता है कि उसे कोई भी उठाने में समर्थ नहीं होता। रामायण में 'अंगद' को यही सिद्धि प्राप्त थी, जिससे उसका पैर कोई भी व्यक्ति विचलित नहीं कर सका।

४. **महिमा–** 'महत्त्व' को कहते हैं, अर्थात् विशाल आकार धारण करने की क्षमता इस सिद्धि को प्राप्त करके व्यक्ति विशाल आकार को धारण करने में समर्थ हो जाता है।

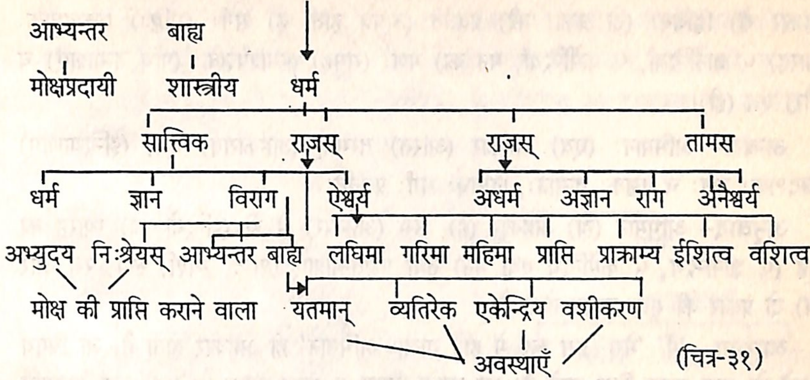
५. **प्राप्ति–** इसे प्राप्त करके व्यक्ति बिना महत् परिमाण धारण किए भी जमीन पर बैठा-बैठा अपनी अंगुली से ही चन्द्रमा को छू सकता है। उसके लिए कोई भी सांसारिक वस्तु अप्राप्य नहीं होती।

६. **प्राकाम्य–** इच्छा का साफल्य ही 'प्राकाम्य' नामक सिद्धि है। जिसके कारण योगी पानी के समान ही जमीन में भी गोते लगा सकता है।

७. **वशित्व–** इसके कारण पृथिवी आदि सभी महाभूत तथा उसपर स्थित सभी भौतिक पदार्थ योगी के वशीभूत हो जाते हैं।

८. **ईशित्व–** इस सिद्धि के द्वारा योगी सभी पृथिवी आदि भूतों एवं भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश में समर्थ हो जाता है। इसे प्राप्त करके व्यक्ति सत्यसंकल्प हो जाता है। वह जैसा संकल्प करता है वैसा ही हो जाता है। ये सभी बुद्धि के सात्त्विक धर्म है। वाचस्पति मिश्र सत्संकल्प को 'कामावसायित्व नामक नवीं सिद्धि के अन्तर्गत मानते हैं।

तामसधर्म 'अनैश्वर्य' उक्त सभी बातों के ठीक विपरीत होता है। ये सभी बुद्धि में रहते हैं। इस कारिका के सम्पूर्ण अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–



(चित्र-३१)

**विशेष–** १. प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार ने 'निश्चय' को ही बुद्धि कहा है। जबकि निश्चय करना बुद्धि का कार्य है न कि स्वयं स्वरूप। क्रिया और क्रियावान् में एक होते हुए भी, सूक्ष्म भिन्नता होती है। यहाँ अध्यवसाय' बुद्धि का धर्म है, इसलिए 'अध्यवसायवती बुद्धिः' ऐसा कहना उचित प्रतीत होता है। ऐसा कुछ विद्वानों का मानना है।

२. विराग को स्पष्ट करते हुए जयमंगलाकार कहते हैं कि– 'विषय, शरीर एवं इन्द्रियों में दोष देखकर उनके प्रति विमुखता ही वैराग्य है तथा उनमें अभिलाषा का बना रहना ही राग है– 'विषयशरीरेन्द्रियेभ्यो दोषदर्शनात् वैमुख्यं विरागः, तेष्वभिलाषो रागः।'

३. किन्तु वाचस्पतिमिश्र' राग के अभाव को ही वैराग्य मानते हैं– 'विरागो वैराग्यं रागाभावः.' योगसूत्रकार– अनुभव किए गये सुख को पुनः प्राप्त करने की कामना ही राग है, ऐसा प्रतिपादित करते हैं– 'सुखानुशयी रागः'। उनके अनुसार लौकिक एवं पारलौकिक विषयों में तृष्णा के समाप्त हो जाने पर मन का पूर्णतया वश में होना ही वैराग्य है।

४. प्रत्येक इन्द्रिय के विषय निश्चित हैं, किन्तु मन, बुद्धि एवं अहंकार इन तीन की सर्वत्र गति होती है, क्योंकि इन्द्रियों के समान इनके विषय निश्चित नहीं हैं। पुनरपि इन तीनों से 'बुद्धि' का वैशिष्ट्य प्रतिपादन करने के लिए ग्रन्थकार ने 'अध्यवसायो बुद्धिः' लक्षण किया है, जो बुद्धि को मन और अहंकार से भिन्न प्रतिपादित करता है। यही लक्षण का असाधारण धर्म है।

५. 'तामसमस्माद्विपर्यस्तम्' कहकर ग्रन्थकार ने सूत्रात्मक शैली का प्रयोग करते हुए बुद्धि के तामसधर्मों का कुशलतापूर्वक कथन किया है।

**अवतरणिका–** सांख्य के अनुसार सृष्टिक्रम में उत्पन्न महत् (बुद्धि) का लक्षण एवं धर्मों का कथन करने के बाद महत् से उत्पन्न होने वाले अग्रिम पदार्थ अहंकार का लक्षण करते हुए उससे उत्पन्न पदार्थों का कथन करने के लिए ग्रन्थकार अग्रिम कारिका को प्रस्तुत करते हैं–

**अभिमानोऽहंकारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।**

**एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव॥२४॥**

**पदच्छेद–** अभिमानः (मैं, मेरा आदि चिन्तन ही) अहंकारः (अहंकार है) तस्मात् (उस अहंकार से) द्विविधः (दो प्रकार की) प्रवर्तते (उत्पन्न होती है) सर्गः (सृष्टिः) एकादशकः (ग्यारह) ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, मन का) गणः (समूह) तन्मात्रपञ्चकः (पाँच तन्मात्राएँ) च (और) एव (ही)।

**अन्वय–** अभिमानः (एव) अहंकार (अस्ति) तस्मात् (अहंकारात्) एव, (इन्द्रियाणाम्) एकादशकः गणः च पञ्चकः तन्मात्रः, द्विविधः सर्गः प्रवर्तते।

**अनुवाद–** अभिमान (ही) अहंकार (है), उस (अहंकार) से ही (इन्द्रियों का) ग्यारह का समूह (५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय तथा मन) तथा पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) दो प्रकार की सृष्टि उत्पन्न होती है।

**व्याख्या–** 'मैं' 'मेरा' इस रूप में होने वाला 'अभिमान' ही अहंकार होता है। जो विषय इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। मन उनके विषय में मनन करता है। पुनः एक अनुभूति होती है कि मैं इस वस्तु का अधिकारी हूँ, यह मेरी है। इसप्रकार का 'मैं' रूप में अभिमान ही अहंकार है।

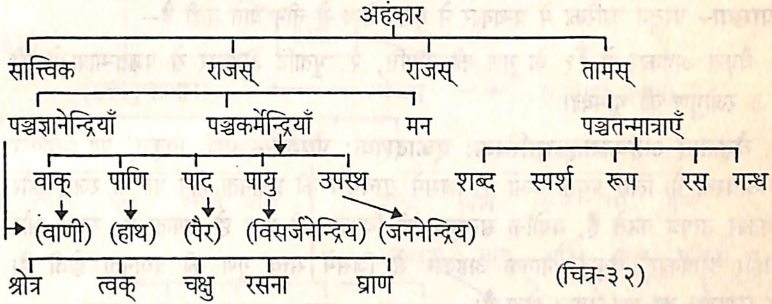
इन्द्रियाँ बाह्य वस्तुओं को 'कुछ' है, केवल इस रूप में ग्रहण करती हैं। मन संकल्प-विकल्प करके उस वस्तु को अहंकार को सौंप देता है। तब अहंकार के कारण व्यक्ति उससे सम्बद्ध होकर उसे ग्रहण करने अथवा त्यागने में बुद्धि के निश्चयात्मक व्यापार के बाद प्रवृत्त होता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में अभिमान करना ही अहंकार का लक्षण बनता है। यहाँ भी बुद्धि के लक्षण के अनुसार ही क्रिया एवं क्रियावान् में अभेदान्वय की स्थापना की गई है। अभिमान के अतिरिक्त अहंकार की दूसरी वृत्ति होती ही नहीं है। इसलिए कारिका के प्रथम चरण में ग्रन्थकार ने अहंकार का लक्षण प्रस्तुत किया– 'अभिमानोऽहंकारः'।

कारिका के शेष भाग में अहंकार से उत्पन्न होने वाली दो प्रकार की सृष्टि– 'सात्त्विक' और 'तामस्', का उल्लेख किया गया है (तस्मात् द्विविधः सर्गः प्रवर्तते)– इसी दो प्रकार की सृष्टि में सत्त्वगुणप्रधान अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों का समूह उत्पन्न होता है। जिसमें, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण) ५ कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) तथा मन, जिनकी संख्या कुल मिलाकर ग्यारह है, आती हैं। इसी का कथन करने के लिए ग्रन्थकार ने कहा– 'एकादशकश्च गणः (प्रवर्तते)'।

यद्यपि ग्यारह के इस गण में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, किन्तु रजोगुण तथा तमोगुण भी अल्पमात्रा में विद्यमान रहते हैं। 'तन्मात्रपञ्चक' में तमोगुण की प्रधानता होती है तथा वहाँ सत्त्व एवं रजोगुण अल्पमात्रा में रहते हैं क्योंकि गुणत्रय में कोई भी एक अथवा दो स्वतन्त्ररूप से स्थित होने में समर्थ नहीं होते।

इसप्रकार तमोगुण प्रधान अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) उत्पन्न होते हैं। यहाँ तन्मात्र का अभिप्राय है– सूक्ष्मतम, स्वरूपमात्र। इनसे ही पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है जो बाद में कही जाएगी। मात्रा पद का ग्रहण भूतों के संस्पर्श के अभाव रूप अर्थ की प्रतीति कराने के लिए किया गया है।

इसप्रकार यहाँ इन्द्रियों एवं तन्मात्राओं के दो प्रधान भेद हैं– प्रथम ११ इन्द्रियों में मुख्यता सत्त्व की होती है तथा पञ्चतन्मात्राओं में मुख्यता तमोगुण की होती है। द्वितीय इन्द्रियाँ विषयी है और पञ्चतन्मात्राएँ इनके विषय। अतः अहंकार से उत्पन्न होने वाले पदार्थों की कुल संख्या ११+५ मिलकर कुल १६ हो जाती है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है।



(चित्र-३२)

**विशेष–** १. क्योंकि यह सोलह का समूह अहंकार से उत्पन्न होता है। अतः सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार अहंकार इन सबका कारण है और ये सब अहंकार के कार्य।

२. कारिका के पूर्वार्द्ध के अन्त में प्रयुक्त 'सर्गः' पद सृष्टि अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

३. कारिका के अन्त में प्रयुक्त 'एव' पद का प्रयोग 'तस्मात्' पद पर बल देने के लिए 'अवधारण' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है, क्योंकि यह सृष्टि उस अहंकार से ही उत्पन्न होती है। कुछ विद्वान् इस द्विविधः सर्गः के साथ जोड़कर 'दो प्रकार की ही सृष्टि' अर्थ पर बल देने के लिए प्रयुक्त मानते हैं।

४. यहाँ यह शंका की जा सकती है कि– अहंकार तो एक होता है फिर उससे जड़ (तन्मात्राएँ) और प्रकाशक (इन्द्रियाँ) रूप दो भिन्नप्रकार की सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है? इसके उत्तर में ग्रन्थकार ने 'सात्त्विकः एकादशः इत्यादि कारिका का उल्लेख किया है।

**अवतरणिका–** अहंकार से उत्पन्न सृष्टि में किस गुण का कहाँ प्राधान्य है, इसका कथन करने के लिए ही अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।**
**भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥ २५॥**

**पदच्छेद–** सात्त्विकः (सत्त्वगुण प्रधान) एकादशकः (ग्यारह इन्द्रियों का समूह) प्रवर्तते (उत्पन्न होता है) वैकृतात् (वैकृत नामक सात्त्विक) अहंकारात् (अहंकार से) भूतादेः (भूतादि नामक तन्मात्रः (पञ्चतन्मात्राएँ) सः (वह) तामसः (तामस् अहंकार से) तैजसाद् (राजस् अहंकार से) उभयम् (दोनों, इन्द्रियाँ और तन्मात्राएँ)।

**अन्वय–** वैकृतात् अहंकारात् एकादशकः सात्त्विकः (गणः) प्रवर्तते, भूतादेः (तामसात् अहंकारात्) सः तामसः तन्मात्रः (उत्पद्यते) तैजसात् (अहंकारात्) उभयम् (प्रवर्तते)।

**अनुवाद–** वैकृत (नामक सात्विक) अहंकार से ग्यारह (इन्द्रियों) का सात्त्विक गण उत्पन्न होता है। भूतादि (नामक तासम् अहंकार से) वह तमोगुणप्रधान तन्मात्राओं का (गण उत्पन्न होता है)। तैजस् (अहंकार से) दोनों (ग्यारह इन्द्रियां और पञ्चतन्मात्रा उत्पन्न होते हैं)।

**व्याख्या–** प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार ने मुख्य रूप से तीन बातें कहीं हैं–

१. वैकृत अहंकार से ११ के गण की उत्पत्ति, २. भूतादि अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति, ३ रजोगुण की भूमिका।

१. **वैकृतात् अहंकारात् सात्त्विकः एकादशकः प्रवर्तते**– यहाँ 'विकृत्' पद अहंकार की एक अवस्था के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसमें सत्त्वगुण की प्रधानता होने पर भी रजस् और तसम् विकार उत्पन्न करते हैं, क्योंकि सत्त्वगुण ही विकृति को प्राप्त हो सकता है, रजस् और तमस् नहीं। इसप्रकार 'वैकृत' नामक अहंकार से जिसमें सत्त्व गुण की प्रधानता होती है। एकादश (ग्यारह) का गण उत्पन्न होता है।

ग्यारह के अन्तर्गत-पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) तथा मन आते हैं। क्योंकि मन सहित ये दस इन्द्रियाँ सत्त्वगुण प्रधान अहंकार से उत्पन्न होती हैं, इसीलिए सात्त्विक कहलाती हैं।

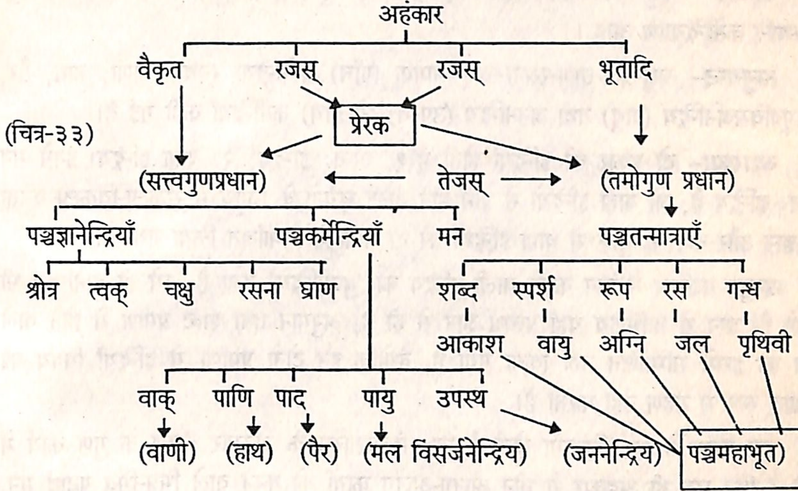
२. **भूतादेः सः तामसः तन्मात्रः (उत्पद्यते)**– अहंकार की दूसरी अवस्था जिसमें तमोगुण की प्रधानता होती है, को भूतादि नाम दिया गया है। इस भूतादि नामक अहंकार से (जिससे सत्त्व एवं रजस् की अपेक्षा तमोगुण की प्रधानता होती है) तमोगुण प्रधान पञ्चतन्मात्राओं का समूह उत्पन्न होता है। पञ्चतन्मात्राओं के अन्तर्गत-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आते हैं। इन्हीं तमोगुण प्रधान पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति भी होती है, सम्भवतः इसीलिए इस अहंकार को भूतादि संज्ञा प्रदान की गई है।

जड़ता तमोगुण का वैशिष्ट्य है। इसलिए तमोगुण प्रधान भूतादि नामक अहंकार से उत्पन्न पञ्चतन्मात्राएँ भी जड़ होती हैं तथा उनसे भी उत्पन्न पञ्चमहाभूत भी जड़ होते हैं। यह सब अहंकार में स्थित तमोगुण की बहुलता का ही कार्य है।

३. **तैजसात् उभयम् (प्रवर्तते)**– इस प्रसंग में एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जब सत्त्वगुण प्रधान वैकृत अहंकार से दस इन्द्रियों सहित, मन तथा तमोगुण प्रधान भूतादि अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं का गण उत्पन्न होता है तो यहाँ सत्त्व एवं तमस् की भूमिका तो स्पष्ट है, किन्तु रजस् की भूमिका तो कही नहीं गई है। इसी का समाधान करने के लिए ग्रन्थकार ने कारिका के चतुर्थ चरण में प्रयोग किया– 'तैजसात् उभयम्'। अर्थात् सत्त्व और तमस् ये दोनों गुण निष्क्रिय हैं। अतः वे अलग-अलग स्वतन्त्ररूप से कोई भी कार्य करने से सक्षम नहीं है। इनमें सक्रियता उत्पन्न करने के लिए रजोगुण अपना सहयोग प्रदान करता है। अतः सत्त्व एवं तमस् दोनों का प्रेरक होने के कारण वह दोनों की (सात्त्विक एवं तामसगण) उत्पत्ति में सहायक की महत्त्वपूर्ण

भूमिका निर्वाह करता है। इसी भाव की अभिव्यक्ति के लिए ग्रन्थकार ने अन्त में कहा— तैजसात् उभयम्।

कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं—



(चित्र-३३)

**विशेष–** १. प्रस्तुत कारिका में अहंकार से उत्पन्न होने वाली सृष्टि का कथन करते हुए उसमें सत्त्व, रजस् और तमोगुण की भूमिका का कथन अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है।

२. कारिका के तृतीय चरण में प्रयुक्त 'भूतादि' को व्याख्याकारों ने तमोगुण प्रधान अहंकार की संज्ञा स्वीकार किया है, किन्तु तृतीय चरण का अर्थ इसप्रकार भी किया जा सकता है। (पञ्चमहा) भूतादि का उत्पादक (कारण) तन्मात्राओं का वह गण तमोगुण प्रधान होता है। यहाँ तन्मात्राएँ भूतादि को उत्पन्न करने वाली बताई गई हैं। यह भाव भी अभिप्रेत प्रतीत होता है।

३. सत्त्वगुण दूध के समान यदि स्वच्छ एवं निर्मल माना जाए तो उसमें रजस् और तसम् ये दोनों मिलकर उसीप्रकार विकृति उत्पन्न करने वाले होंगे। जैसे— दूध में निम्बू या मलिन जल मिलकर उसमें विकृति पैदा करते हैं। इसीलिए इसे 'वैकृत' नाम दिया गया है।

४. कारिका के चतुर्थ चरण में प्रयुक्त 'तैजस्' पद का प्रयोग रजोगुण के लिए किया गया है।

**अवतरणिका–** वैकृत अहंकार से एकादश गण की उत्पत्ति तथा भूताद अहकार से पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति का कथन करने के पश्चात् एकादशगण में से पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों का नामोल्लेख करते हुए अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं—

**बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।**
**वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः॥ २६॥**

**पदच्छेद–** बुद्धि इन्द्रियाणि (ज्ञानेन्द्रियाँ) चक्षुः (नेत्र), श्रोत्र, (कान) घ्राण (नासिका) रसना (जिह्वा) त्वक् (त्वचा) आख्यानि (नामक) वाक् (वाणी) पाणि (हाथ) पाद (पैर) पायु (मल विसर्जनेन्द्रिय) उपस्थ (जननेन्द्रिय) कर्मेन्द्रियाणि (कर्मेन्द्रियाँ) आहुः (कही गई हैं)।

**अन्वय–** चक्षुः श्रोत्र-घ्राण-रसन-त्वक्-आख्यानि बुद्धि-इन्द्रियाणि, वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि आहुः।

**अनुवाद–** चक्षु-श्रोत्र-घ्राण-रसना-त्वक् नामक (पाँच) ज्ञानेन्द्रियाँ (तथा) वाणी, हाथ, पैर, मलमूत्रविसर्जनेन्द्रिय (पायु) तथा जननेन्द्रिय (उपस्थ) (ये पाँच) कर्मेन्द्रियाँ कही गई हैं।

**व्याख्या–** दो प्रकार की इन्द्रियाँ होती हैं १. अन्तः इन्द्रिय, २. बाह्य इन्द्रिय। इनमें मन अन्तः इन्द्रिय है, जो बाह्य इन्द्रियों से प्राप्त होने वाली सूचना के विषय में संकल्प-विकल्प करता है। ज्ञान और कर्म की दृष्टि से बाह्य इन्द्रियों को दो भागों में विभाजित किया गया है।

प्रस्तुत कारिका में ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय को 'बुद्धीन्द्रिय' कहा है, इसे ही ज्ञानेन्द्रिय भी कहते हैं। ज्ञान से अभिप्राय यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान से ही है, अनुमान तथा शब्द प्रमाण से होने वाले ज्ञान को इसमें सम्मिलित नहीं किया गया है, क्योंकि इन दोनों प्रमाणों से इन्द्रियाँ विषय को साक्षात् रूप से ग्रहण नहीं करती हैं।

इस प्रसंग में एक जिज्ञासा होती है कि सांख्यशास्त्र के अनुसार कारण के गुण कार्य में होते हैं फिर एक ही अहंकार से तीन अलग-अलग कार्यों को करने वाले भिन्न-भिन्न पदार्थ मन, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ किसप्रकार उत्पन्न होते हैं? इसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि सत्त्व गुण की उत्कृष्टता आदि के कारण यह भेद होता है, अर्थात् उत्कृष्ट सत्त्वप्रधान अहंकार से मन, मध्यम सत्त्व प्रधान अहंकार से पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ तथा निकृष्ट सत्त्वप्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

इसी कारण मन सर्वाधिक विषयों को प्रकाशित करता है। बुद्धीन्द्रियाँ विषय को प्रकाशित करते हुए भी मन के समान प्रकाशित नहीं करतीं और कर्मेन्द्रियाँ तो सत्त्व की निकृष्टता के कारण प्रकाशित ही नहीं करतीं हैं, किन्तु सत्त्व की प्रधानता के कारण वे लघु होने के कारण क्षिप्रकारिणी होती हैं।

रूप, रस और गंधादि विषयों को बुद्धिपूर्वक आलोचन, पर्यालोचन आदि करके जो ज्ञान में साधक अथवा करण होती हैं, वे ही बुद्धीन्द्रिय अथवा ज्ञानेन्द्रिय हैं। उनकी संख्या पाँच है– (क) रूप की उपलब्धि का साधन 'चक्षु'-इन्द्रिय है (ख) शब्द को ग्रहण करने का साधन श्रोत्र है (ग) गन्ध को उपलब्ध कराने का साधन घ्राण-इन्द्रिय है (घ) इसीप्रकार मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, और तिक्त इन छः रसों का ज्ञान कराने वाली रसनेन्द्रिय होती है (ङ) पाँचवी 'त्वक्' इन्द्रिय स्पर्शरूप ज्ञान का, यह उष्ण हैं या शीतल, इस रूप में बोध कराती है। मध्यम सत्त्वप्रधान अहंकार से ये सब उत्पन्न होती हैं।

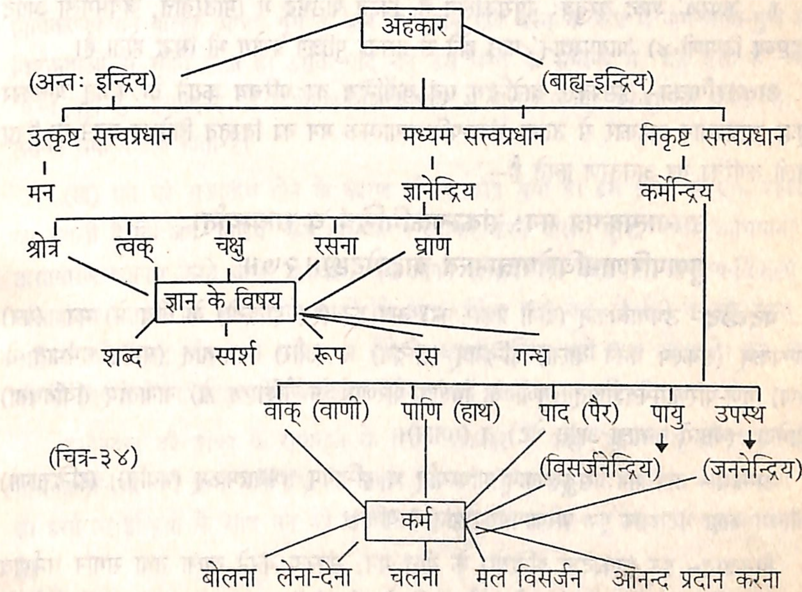
इस प्रसङ्ग में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि स्थूल रूप से दिखाई देने वाले नेत्र, कान, जिह्वा, नासिका और त्वचा ज्ञानेन्द्रिय नहीं हैं। ये तो उनके बाह्य आवरण हैं। इनके

अन्दर रहने वाली शक्ति ही ज्ञानेन्द्रिय हैं। जिसके कारण हम तत्-तत् विषय शब्दादि का ग्रहण करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों का हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, केवल अनुभव कर सकते हैं।

कारिका के उत्तरार्द्ध में निकृष्ट सत्त्वप्रधान अहंकार से उत्पन्न होने वाली कर्मेन्द्रियों का नामोल्लेख किया गया है। कर्म की साधक होने से इन्हें कर्मेन्द्रिय कहा जाता है। (कर्म साधनानि इन्द्रियाणि-कर्मेन्द्रियाणि) इनके द्वारा वचन-आदान-विहरण आदि क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं। इनकी संख्या पाँच है। ये पाँचों ही संसार में होने वाली सभी क्रियाओं को कुशलतापूर्वक सम्पन्न करती हैं।

(क) इनमें बोलने की क्रिया को सम्पन्न करने वाली इन्द्रिय वाक् अथवा वाणी है। (ख) किसी भी वस्तु का आदान-प्रदान करने वाली इन्द्रिय 'पाणि' अथवा हाथ है। इनकी संख्या दो होने पर भी इन्द्रिय के रूप में एक ही माना गया है। (ग) विचरण, विहरण, गमन-आगमन (जाना आना) आदि क्रियाओं को सम्पन्न करने वाली इन्द्रिय पाद अर्थात् पैर हैं (घ) पायु के द्वारा मल-मूत्र विसर्जन का कार्य सम्पन्न किया जाता है तथा (ङ) आनन्द प्रदान करने वाली इन्द्रिय 'उपस्थ' (जननेन्द्रिय) है।

कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी अभिव्यक्त किया जा सकता है–



(चित्र-३४)

**विशेष**– १. इन्हें इन्द्रिय इसलिए कहा जाता है, क्योंकि 'ये इन्द्र अर्थात् आत्मा की सत्ता, अस्तित्व को सिद्ध करती हैं।' श्रुति में भी आत्मा के लिए इन्द्र पद का प्रयोग हुआ है– (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते)। इन्द्रियाँ ज्ञान और कर्म की साधक होने के कारण साधन हैं और साधन की उपयोगिता के लिए किसी कर्ता की कल्पना करनी होगी। वह कर्ता अथवा स्वामी अन्य कोई

नहीं, अपितु आत्मा ही है। इसप्रकार अनुमानप्रमाण से ये इन्द्रियाँ आत्मा, पुरुष अथवा इनके स्वामी के अस्तित्व की सिद्धि में सहायक होती हैं।

२. कारिका में ज्ञान की साधक इन्द्रिय को ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्म की साधक इन्द्रिय को कर्मेन्द्रिय कहा गया है। ये दोनों पद 'बुद्धेः, ज्ञानस्य कर्मस्य वा साधनानि इन्द्रियाणि' इस व्युत्पत्ति की अनुसार शाकपार्थिवादि समास होकर निष्पन्न होते हैं। इस समास की विशेषता है कि इसमें मध्यम 'साधक' पद का लोप हो जाता है।

३. युक्तिदीपिका में कारिका के द्वितीय चरण में 'कर्ण त्वक् चक्षू रसन नासिका ख्यानि' पाठ उपलब्ध होता है। जबकि माठरवृत्ति में यह 'श्रोत्र त्वक्चक्षूरसननासिका ख्यानि' पाठ मिलता है।

४. इसीप्रकार कारिका के तृतीय चरण का पाठ युक्ति दीपिका में 'वाक्पाणिपादपायूपस्थाः' तथा माठरवृत्ति, जयमंगला एवं सुवर्णसप्तति में— 'वाक्पाणिपादपायूपस्थान्', मिलता है।

५. छन्दोरचना की दृष्टि से कारिका में प्रयुक्त ज्ञानेन्द्रियों के नाम का क्रम श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना एवं घ्राण होना चाहिए।

६. 'उपस्थ' शब्द वस्तुतः नपुंसकलिंग है, किन्तु पाठभेद में (माठरवृत्ति, जयमंगला आदि में द्रष्टव्य टिप्पणी-४) 'पायूपस्थान्' पाठ होने से इसका पुंल्लिग प्रयोग भी सिद्ध होता है।

**अवतरणिका–** इसप्रकार ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय का परिचय कराने के पश्चात् ग्रन्थकार उत्कृष्ट सत्त्वप्रधान अहंकार से उत्पन्न संकल्पविकल्पात्मक मन का विस्तृत विवेचन करने के लिए अगली कारिका का अवतरण करते हैं–

**उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।**
**गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च॥ २७॥**

**पदच्छेद–** उभयात्मकम् (दोनों प्रकार का) अत्र इन (११ इन्द्रियों) के बीच में) मनः (मन) संकल्पकम् (संकल्प करने वाला) इन्द्रियम् (इन्द्रिय) च (और) साधर्म्यात् (समान धर्मभाव के कारण) गुण-परिणाम-विशेषात् (गुणों के विशेष परिणाम के वैशिष्ट्य से) नानात्वम् (विविधता) बाह्यभेदाः (बाहरी तन्मात्रा आदि भेद) च (समान)।

**अन्वय–** अत्र मनः सङ्कल्पकम् साधर्म्यात् च इन्द्रियम् उभयात्मकम् (भवति)। (इन्द्रियाणां) नानात्वम् बाह्य भेदाः च गुण-परिणाम-विशेषात् (भवन्ति)।

**अनुवाद–** इन (एकादश इन्द्रियों) के बीच मन, संकल्प करने वाला तथा समान धर्मभाव के कारण इन्द्रिय दोनों प्रकार का होता है। (इन्द्रियों की) विविधता बाह्य तन्मात्रा आदि भेदों के समान गुणों के विशेष परिणाम के वैशिष्ट्य के कारण (होती हैं)।

**व्याख्या–** प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार ने मन की प्रथम विशेषता का कथन करते हुए उसे 'उभयात्मक' कहा है (उभयात्मकं मनः)। जिसका अभिप्राय है कि 'मन दोनों प्रकार की इन्द्रिय है— ज्ञानेन्द्रिय भी और कर्मेन्द्रिय भी, क्योंकि मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के साथ

समानरूप से कार्य करता है। मन के सहयोग से ही 'चक्षु' आदि ज्ञानेन्द्रिय तथा 'वाक्' आदि कर्मेन्द्रिय अपने अपने कार्यों को करने तथा विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। उसके अभाव में नहीं।

जैसे यदि कोई व्यक्ति नेत्र द्वारा चित्र देखता है और उसका मन अन्यत्र होता है तो उसे चित्र का 'प्रत्यक्ष' होते हुए भी ज्ञान नहीं होता यह बात हम कर्मेन्द्रियों के विषय में भी अनुभव करते हैं। मन की अनुपस्थिति में 'उपस्थ' कर्मेन्द्रिय भी आनन्द प्रदान करने में असमर्थ होती है।

इसलिए यह सिद्ध होता है कि मन के द्वारा अधिष्ठित होने पर ही ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने तथा कर्मों को करने में सक्षम होती हैं। इसी दृष्टि से कारिकाकार ने इसे 'उभयात्मक' कहा है।

पुनः कारिका के द्वितीय चरण में मन की दो विशेषताओं का कथन किया गया है— प्रथम, मन संकल्पात्मक है। द्वितीय, इन्द्रियों का सजातीय होने के कारण इन्द्रिय की श्रेणी में भी आता है।

(क) मन का असाधारण लक्षण है— संकल्प करना। नेत्रादि इन्द्रिय मन को वस्तु का 'कुछ है' इस रूप में प्रत्यक्ष कराती हैं, जिसे प्रथमतः निर्विकल्पकज्ञान भी कहा जाता है। यह निर्विकल्पकज्ञान बालक अथवा गूँगे के ज्ञान के समान मात्र वस्तु के रूप में नाम-जाति-गुण आदि विशेषताओं से रहित होता है। उसके बाद मन उस वस्तु के सम्बन्ध में 'यह ऐसी है' अथवा 'ऐसी नहीं है' इसप्रकार की विशेषण-विशेष्य-भाव से युक्त सम्यक् परिकल्पना करता है। यही उसका संकल्पकत्व होता है।

(ख) मन को सजातीय होने के कारण इन्द्रिय कहा गया है। इस प्रसंग में एक शंका की जा सकती है कि जब 'निश्चय' रूप असाधारण व्यापार करने वाली 'बुद्धि' तथा 'अभिमान' रूप असाधारण व्यापार करने वाले 'अहंकार' को आपने इन्द्रिय नहीं कहा फिर संकल्प-विकल्प रूप असाधारण व्यापार को करने वाले 'मन' को आप इन्द्रिय क्यों कह रहे हैं? क्योंकि महत् और अहंकार को नियत विषयों से सम्बद्ध न होने के कारण इन्द्रिय नहीं कहा जाता है। तब तो मन को भी विषयों में गतिवाला होने के कारण इन्द्रिय नहीं कहा जाना चाहिए?

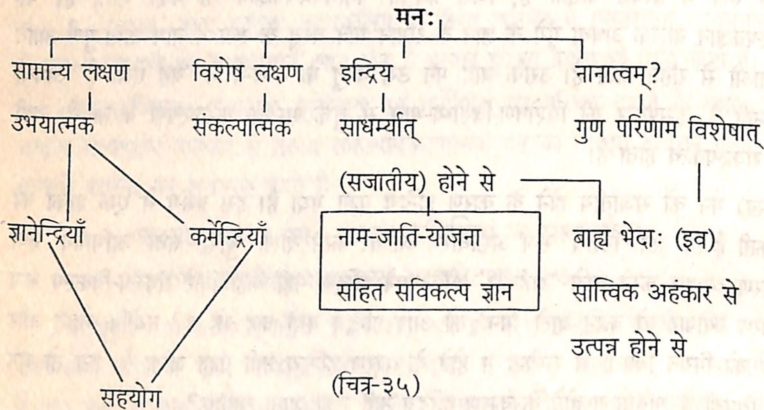
इसीप्रकार की शंका के समाधान के लिए ग्रन्थकार ने कहा 'साधर्म्यात् इन्द्रियम्' अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं पाँच कर्मेन्द्रियों के समान ही मन की उत्पत्ति भी सात्त्विक अहंकार से होती है। इसलिए इन्द्रियों के साथ मन की समानधर्मता उपादान कारण को ध्यान में रखकर कही गई है।

क्योंकि यदि इन्द्रियों के समान 'आत्मा का अनुमान कराने वाला' इस आधार पर मन को इन्द्रिय कहा जाएगा तो इस दृष्टि से आत्मा के ज्ञापक होने के कारण बुद्धि (महत्) और अहंकार भी इन्द्रियों की श्रेणी में आ जाएँगे। जो ग्रन्थकार को अभिप्रेत नहीं है। इसीलिए मन के इन्द्रियत्व की सिद्धि में 'साधर्म्य' को हेतु कहा गया है।

इस प्रसंग में एक शंका स्वाभाविक रूप से होती है कि सांख्य अहंकार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति का कथन करता है। अहंकार तो एक है फिर उससे अलग-अलग रूपों वाली एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति कैसे सम्भव है? इसी के उत्तर में ग्रन्थकार ने कहा—

**नानात्वम् बाह्यभेदाः इव (च) गुणपरिणाम विशेषात्**— गुणों के परिणाम भेद के कारण, अलग-अलग तन्मात्राओं के समान ही विविध प्रकार की इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं। अर्थात् जिसप्रकार शब्द तन्मात्रा आदि से उत्पन्न पञ्चमहाभूतों तथा उनसे भी उत्पन्न वनस्पति आदि में सत्त्व, रजस् और तमस् गुणत्रय की मात्रा-परिणाम आदि वैशिष्ट्य के कारण विविधता देखी जाती है, यद्यपि इन सबका मूलकारण तमोगुण प्रधान अहंकार से उत्पन्न होने वाली पञ्चतन्मात्राएँ ही होती हैं। ठीक उसीप्रकार धर्म-अधर्मरूप जो गुणपरिणाम है उनके विशेष से, विविध्य से वैकृत और भूतादि विविधता आती है और उस विविधता के परिणामस्वरूप उससे उत्पन्न होने वाली एकादश इन्द्रियों की विविधता भी स्वतः ही सम्भव हो जाती है।

इसप्रकार एक ही अहंकार से उत्पन्न होने पर भी इन्द्रियों का वैविध्य प्रतिपादित होता है। कारिका में प्रयुक्त 'च' अव्ययपद को भाष्यकारों ने उपमार्थक मानकर 'इव' अर्थ में प्रयुक्त माना है। कारिका के सम्पूर्ण अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है—




(चित्र-३५)

**विशेष**— १. आचार्य माठर ने 'बाह्यभेदाश्च' के स्थान पर 'ग्राह्य भेदाच्च' पाठ को स्वीकार किया है। जो कारिका के प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से उचित प्रतीत होता है क्योंकि उत्तरार्द्ध में इन्द्रियों के नानात्व प्रतिपादन में दो हेतु— 'गुण-परिणाम-विशेषात्' तथा 'ग्राह्यभेदात्' (ग्राहक इन्द्रियों के भी अनेक भेद) उचित एवं युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं।

२. प्रायः सभी भाष्यकारों ने 'च' अव्यय पद को उपमार्थक माना है, किन्तु 'ग्राह्यभेदाच्च' पाठ मानने पर ऐसा करने की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि इस स्थिति में यह 'समुच्चय' अर्थ में प्रयुक्त होगा।

३. 'च' को समुच्चयार्थक मानकर इसप्रकार भी अर्थ किया जा सकता है— 'गुणों के अनेक अनुपात में मिश्रण के परिणाम और बाहरी विषय इन्द्रियों की अनेकता के कारण हैं।

४. सामान्यरूप से 'इन्द्रिय' पद की व्युत्पत्ति' इन्द्रस्य इदम्' के अनुसार करके इन्द्र अर्थात् आत्मा की सत्ता के साधक हेतु के रूप में की जाती है, किन्तु यहाँ 'मन' के लिए इन्द्रिय पद का प्रयोग इस अभिप्राय में नहीं हुआ है, क्योंकि इस स्थिति में 'महत्' और 'अहंकार' भी इन्द्रिय की श्रेणी में आने लगेंगे। जो उचित नहीं होगा। अतः यहाँ केवल उन्हीं को इन्द्रिय कहना अभिप्रेत हैं जिनकी उत्पत्ति 'सात्त्विक अहंकार' से हुई है।

५. किसी भी वस्तु के प्रत्यक्ष में मन की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि इन्द्रिय और वस्तु के होते हुए भी केवल मन के अनुपस्थित होने, अन्यत्र होने की स्थिति में व्यक्ति को वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

६. एक सात्त्विक अहंकार से अलग-अलग तरह की ग्यारह इन्द्रियाँ ठीक उसीप्रकार गुणों के परिणाम विशेष अर्थात् धर्म-अधर्म विशेष के कारण, जन्म ग्रहण करती हैं, जैसे— तमोगुणप्रधान अहंकार से बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा से भिन्न शब्दादि तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं तथा एक ही वृक्ष से फल, पत्ते, गोंद आदि अलग-अलग प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

कारिका में प्रयुक्त 'उभयात्मकम्' से मन का बाह्य इन्द्रिय और अन्तः करण दोनों का अभिप्राय भी लिया जा सकता है, क्योंकि तेरह प्रकार के करणों में तीन (मन, बुद्धि और अहंकार) अतःकरण तथा दस इन्द्रियाँ बाह्यकरण होती हैं। मन दोनों भूमिका निर्वाह करता है। अतः इसे उभयात्मक कहा गया है।

**अवतरणिका–** मन को परिभाषित करके उसका इन्द्रियत्व एवं नानात्व प्रतिपादित करने के बाद ग्रन्थकार अग्रिम कारिका में दस इन्द्रियों की असाधारण वृत्तियों का कथन करते हैं—

**रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।**
**वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्॥ २८॥**

**पदच्छेद–** रूप-आदिषु (रूप आदि विषयों में) पञ्चानाम् (पाँच ज्ञानेन्द्रियों का) आलोचन मात्रम् (प्रकाशन मात्र) इष्यते (माना जाता है) वृत्तिः (व्यापार) वचन (बोलना) आदान (ग्रहण करना) विहरण (चलना) उत्सर्ग (त्याग करना) आनन्दाः (आनन्द का अनुभव करना) च (और) पञ्चानाम् (पाँच कर्मेन्द्रियों के)।

**अन्वय–** पञ्चानाम् (ज्ञानेन्द्रियाणाम्) वृत्तिः रूप (शब्द-गन्ध-रस स्पर्श) आदिषु (विषयेषु) आलोचनमात्रम् इष्यते (वागादिनाम्) पञ्चानाम् (कर्मेन्द्रियाणाम् वृत्तिः) वचन आदान-विहरण-उत्सर्ग-आनन्दाः च (इष्यते)।

**अनुवाद–** पाँच (ज्ञानेन्द्रियों) का व्यापार रूप, (शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श) आदि (विषयों) का प्रकाशन करना मात्र माना जाता है। (वाक् आदि) पाँच (कर्मेन्द्रियों) का (व्यापार) बोलना, ग्रहण करना, चलना, (मल मूत्र) त्याग करना और आनन्द का अनुभव कराना (माना जाता है)।

**व्याख्या–** जैसा कि पूर्व कारिकाओं में कथन किया गया कि अहंकार के सत्त्वगुण की प्रधानता के होने पर पञ्चज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है तथा सत्त्वगुण प्रकाशक होता है इसलिए

ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों के सान्निध्य में आने पर उनके आकार में परिणत होकर, प्रकाशित करती हैं। यही बात कारिका के पूर्वार्द्ध में कही गई है— पञ्चज्ञानेन्द्रियों— चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वचा का व्यापार अपने-अपने विषयों क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस, और स्पर्श का प्रकाशन (आलोचन) करना है।

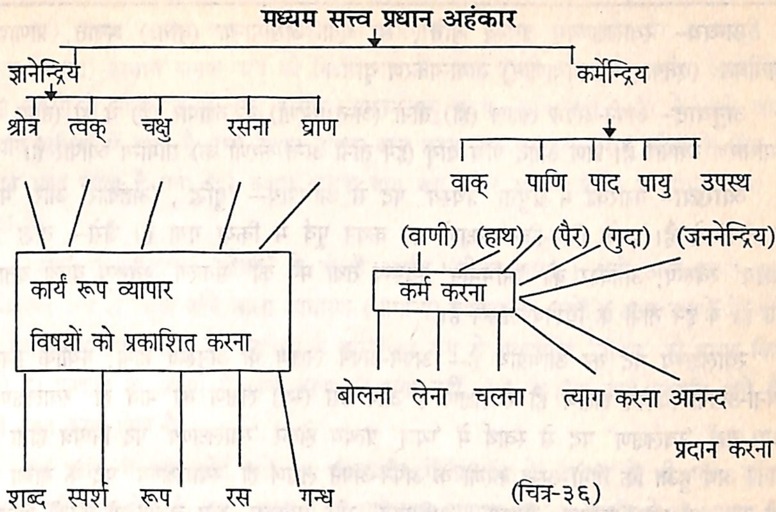
कारिका में प्रयुक्त 'आलोचन' पद का ज्ञान के अर्थ में प्रयोग न होकर 'प्रकाशित करना' अर्थ में हुआ है तथा उसके साथ 'मात्र' पद से अभिप्राय है कि ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों को प्रकाशित मात्र करती हैं जो 'यह कुछ है' इस रूप में होता है। नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि विशेषताओं का संकल्प विकल्प करना मन का कार्य है और वह वस्तु ग्राह्य है अथवा त्याज्य अग्रिम 'निश्चय' बुद्धि करती है। अतः कारिका में प्रयुक्त 'मात्र' पद, वस्तु की विशेषताओं का कथन करना ज्ञानेन्द्रियों का कार्य नहीं, उनका कार्य तो वस्तु का प्रकाशन करना मात्र है, इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

कारिका के उत्तरार्द्ध में पञ्चकर्मेन्द्रियों के व्यापार का कथन किया गया है। यहाँ प्रयुक्त पञ्चानाम् से अभिप्राय पाँच कर्मेन्द्रियों वाक् (वाणी), पाणि (हाथ), पाद (पैर) पायु (मल विसर्जनेन्द्रिय), और उपस्थ (जननेन्द्रिय) से है। कारिकाकार ने इनके नाम का उल्लेख न करके संक्षिप्तीकरण की दृष्टि से केवल कार्यों का उल्लेख किया है।

**तदनुसार क्रमशः–** 'वाक्' अर्थात् वाणीरूप इन्द्रिय का व्यापार वचन (बोलना) अर्थात भाषण करना है 'आदान' लेना अर्थात् ग्रहण करना पाणि नामक इन्द्रिय का व्यापार है। यहाँ आदान के साथ 'प्रदान' अर्थ भी अभिव्यक्त हो रहा है, क्योंकि लेना देना 'दोनों कार्य हाथ कर्मेन्द्रिय के द्वारा ही सम्पन्न किए जाते हैं।

**पाद–** 'पैरों' का व्यापार विहरण अर्थात् इधर-उधर भ्रमण (चलना) है, जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना कह सकते हैं। उत्सर्ग से अभिप्राय मलत्याग रूप उत्सर्जन से है, उत्सर्जन रूप कार्य गुदा एवं मूत्रेन्द्रिय दोनों के द्वारा किया जाता है। अतः यहाँ दोनों का अभिप्राय ग्रहण किया जाना चाहिए, किन्तु कुछ विद्वान् यहाँ 'त्याग' करने के केवल 'पुरीष' का त्याग करने वाली इन्द्रिय 'गुदा' को ही लेते हैं। उपस्थ 'जननेन्द्रिय' को कहते हैं, जिसका व्यापार आनन्द प्रदान करना है।

इस प्रसंग में एक शंका की जा सकती है कि आनन्द तो बुद्धि का धर्म है जो ज्ञानस्वरूप होता है, उसे 'उपस्थ' कर्मेन्द्रिय का व्यापार कैसे माना जा सकता है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यहाँ आनन्द से अभिप्राय केवल उसके हेतु स्त्री-पुरुष के अंगों का स्पर्शमात्र है, अग्रिम कार्य तो बुद्धि का ही होता है, किन्तु इस सबमें इतना कम अन्तर होता है कि हमें आनन्दरूप व्यापार उपस्थ का ही प्रतीत होता है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–



(चित्र-३६)

**विशेष–** १. प्रस्तुत कारिका में अत्यन्त संक्षेप में ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रिय दोनों के व्यापारों का कथन कर दिया गया है। सूत्रात्मक शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है।

२. आचार्य गौडपाद 'आनन्द' पद से अभिप्राय सन्तति उत्पन्न करना रूप व्यापार लेते हैं (उपस्थस्यानन्दः सुतोत्पत्तिविषया वृत्तिः (गौडपाद भाष्य) जो उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'उपस्थ' जननेन्द्रिय केवल सन्तति के निस्सरण रूप अर्थ में ही है, अन्य अर्थों में नहीं।

३. कारिका में प्रयुक्त 'मात्र' पद के विषय में जयमंगलाकार का मत है कि– 'ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार अपने-अपने विषयों का प्रकाशन करना मात्र है, कोई विशेष विवरण प्रस्तुत करना नहीं।'

४. कुछ संस्करणों में रूपादिषु के स्थान पर 'शब्दादिषु' पाठ भी मिलता है।

**अवतरणिका–** इसप्रकार ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के व्यापारों का कथन करने के बाद अग्रिम कारिका में त्रिविध अन्तःकरण (बुद्धि, अहंकार और मन) के व्यापार का कथन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–

**स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।**
**सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च॥ २९॥**

**पदच्छेद–** स्वालक्षण्यम् (अपने-अपने लक्षणों के अनुसार) वृत्तिः (व्यापार) त्रयस्य (तीनों मन, बुद्धि और अहंकार की) सा (वह) एषा (यह) भवति (होती है) असामान्या (असाधारण) सामान्यकरणवृत्तिः (सामान्य व्यापार) प्राणाद्याः (प्राण- (अपान-व्यान-समान और उदान) आदि) वायवः (पञ्चवायु) पञ्च (पाँच)।

**अन्वय–** स्वालक्षण्यम् त्रयस्य वृत्तिः, सा एषा असामान्या (वृत्तिः) भवति, प्राणाद्याः पञ्चवायवः (एतेषाम् करणत्रयाणाम्) सामान्यकरण वृत्तिः।

**अनुवाद–** अपने-अपने लक्षण (ही) तीनों (अन्तःकरणों) के व्यापार (हैं) वे ही (तीनों के) असाधारण व्यापार हैं। प्राण आदि पाँच वायु (इन तीनों अन्तःकरणों के) सामान्य व्यापार हैं।

**व्याख्या–** कारिका में प्रयुक्त 'त्रयस्य' पद से अभिप्राय– 'बुद्धि', 'अहंकार' और 'मन' इन तीनों से है। इनके जिन-जिन लक्षणों का कथन पूर्व में किया गया है। जैसे– बुद्धि को 'निश्चय' स्वरूप, अहंकार को 'अभिमान' स्वरूप तथा मन को 'संकल्प' स्वरूप वाला बताया गया है। ये इन तीनों के विशेष लक्षण हैं।

स्वालक्षण्य पद का अभिप्राय है– अपने-अपने लक्षण के अनुरूप होना, क्योंकि इनका अपना-अपना विशेष लक्षण ही स्वलक्षण है और उस (स्व) लक्षण का भाव ही 'स्वालक्षण्य' हुआ। यहाँ 'स्वलक्षण' पद से स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय होकर 'स्वालक्षण्य' पद निष्पन्न होता है। इसका अर्थ हुआ कि तीनों अन्तःकरणों के अपने-अपने लक्षण ही 'स्वालक्षण्य' पद के वाच्य हैं, वही यह (सा एषा) क्रमशः 'निश्चय', 'अभिमान' और 'संकल्प' रूप लक्षण ही उनकी अलग-अलग वृत्ति अर्थात् व्यापार भी हैं, जिसे ग्रन्थकार ने कारिका के दूसरे चरण में 'असामान्या (वृत्तिः) भवति' द्वारा प्रतिपादित किया है।

इसप्रकार कारिका के पूर्वार्द्ध में त्रिविध करणों के विशिष्ट व्यापारों का कथन करने के बाद उत्तरार्द्ध में प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पाँच वायुओं को इन त्रिविधकरण (बुद्धि, अहंकार और मन) का सामान्य (साधारण अथवा सम्मिलित) व्यापार बताते हुए कहा– 'प्राणाद्याः पञ्चवायवः सामान्यकरणवृत्तिः' अर्थात् प्राण आदि पञ्चवायु इनके साधारण व्यापार हैं। जिसे दूसरे शब्दों में सम्मिलित व्यापार भी कहा जा सकता है।

यहाँ प्रयुक्त सामान्य और असामान्य पद विशेष व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं, जिन्हें समझकर कारिका का अभिप्राय सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। 'सामान्य' का अभिप्राय है– 'साधारण', जो सम्मिलित रूप से सभी का हो, क्योंकि पञ्चवायु रूप व्यापार में त्रिविधकरण समान रूप से सम्मिलित होते हैं, भागीदार रहते हैं। अतः यह पञ्चवायु रूप व्यापार त्रिविधकरण का सामान्य व्यापार कहा जाएगा।

'असामान्य' का अभिप्राय है– 'असाधारण', जिसमें दूसरे का कोई साझा ही न हो। जैसे– संकल्प करना मन का असाधारण व्यापार है, उसमें बुद्धि और अहंकार को कोई लेना देना नहीं होता। वे केवल अपने व्यापार क्रमशः 'निश्चय' और 'अभिमान' में व्यस्त रहते हैं। अतः अपना-अपना विशेष लक्षण ही इन तीनों का असाधारण व्यापार हुआ।

इस प्रसङ्ग में एक जिज्ञासा स्वाभाविक है कि जिन पाँच वायुओं का कथन यहाँ किया गया है, वे रहती कहाँ है? अर्थात् उनकी स्थिति शरीर के किन-किन अङ्गों में है, जिसका ग्रन्थकार ने उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः यह मानकर कि 'यह तो सर्व विदित है।' पुनरपि यहाँ इसका उल्लेख किया जा रहा है–

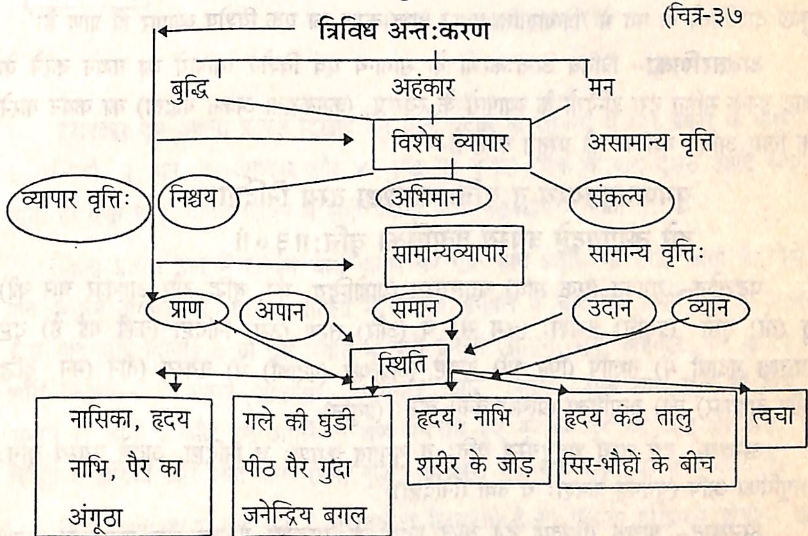
(क) '**प्राण**' नामक वायु 'नासिका' के अग्रभाग में हृदय, नाभि और पैर के अंगूठे में रहता है। (ख) **अपान** नामक वायु की स्थिति गले में स्थित घुण्डी, पीठ, पैर, गुदा, जननेन्द्रिय तथा बगलों में मानी गई है। (ग) **समान** नामक वायु हृदय, नाभि तथा शरीर के सभी जोड़ अर्थात् संधियों में रहता है। (घ) **उदान** नामक वायु हृदय, कण्ठ, तालु, सिर, भौहों के बीच में स्थित माना जाता है तथा (ङ) **व्यान** नामक वायु का संचार सम्पूर्ण शरीर में स्थित त्वचा में होता है।

'प्राण' से अभिप्राय' 'जीवन' से भी है अर्थात् 'जीवन धारण'। तीनों अन्तःकरणों द्वारा सम्मिलित रूप से किया जाने वाला साधारण (सामान्य) व्यापार है, क्योंकि अन्तःकरणों में जीने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इसलिए वे सम्मिलित रूप से यथाशक्ति 'जीवन' को धारण किए रहते हैं। प्राणादि के अभाव में अन्तःकरण की सत्ता नहीं होती, क्योंकि जहाँ प्राणादि होते हैं, वही अन्तःकरण होता है।

इस प्रसंग में यदि कोई कहे कि सूक्ष्मशरीर में प्राणादि के अभाव में भी मन, बुद्धि, अहंकार की सत्ता होती है। इसके उत्तर में तो यही कहा जाएगा कि उस स्थिति में तो व्यापार ही नहीं होता और न ही ये तीनों करण संज्ञक होते हैं।

इस कारिका के अभिप्राय को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं–

(चित्र-३७




**विशेष**– १. आचार्य माठर एवं गौडपाद ने 'स्वालक्षण्यम्' के स्थान पर 'स्वालक्षण्या' पाठ को स्वीकार करते हुए 'वृत्तिः' का विशेषण माना है।

२. पञ्चवायुओं की व्याख्या इसप्रकार भी की गई है– (क) प्राण– अन्न को पचाने तथा शरीर धारण करने के कारण इसे 'प्राण' कहा जाता है। (ख) अपान– मलमूत्र के विसर्जन में सहायक अपान वायु होता है। (ग) समान– नाड़ियों के समान रूप से रस का संचार करने

वाला 'समान' वायु है। (घ) उदान– रस आदि तत्त्वों को ऊपर ले जाने वाला 'उदान' (ङ) तथा व्यान– कठोर कार्य में सहायक होने से व्यान कहलाता है।

३. कारिका में प्रयुक्त 'करण' पद को अधिकांश विद्वान् 'त्रयोदश' (तेरह) प्रकार के करण का वाचक मानते हैं, किन्तु वाचस्पति मिश्र ने इसे त्रिविध करण का ही द्योतक माना है।

४. इस स्थान पर 'करण' में दस इन्द्रियों को भी सम्मिलित करना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि गहरी निद्रा में होने पर ये सभी इन्द्रियाँ शान्त रहती हैं, किन्तु पाँचों प्रकार के वायु का संचार होता रहता है। उस स्थिति में ये वायु वाह्य इन्द्रियों का सामान्य व्यापार नहीं बन सकेंगी।

५. छान्दोग्योपनिषद्, अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा 'प्राण' की ही प्रमुखता प्रतिपादित करता है, जो सम्भवतः क्रियाशक्ति की प्रधानता को लेकर की गई है।

**न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसि इत्याचक्षते।**
**प्राण इत्येव आचक्षते। प्राणो हैवैतानि सर्वाणि भवति॥** (५.१.१५)

६. अन्तःकरण में दो प्रकार की शक्तियों को माना जाता है (क) ज्ञान-शक्ति (ख) क्रियाशक्ति। बुद्धि मन और अहंकार ज्ञान-शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा प्राणादि क्रियाशक्ति का। यहाँ क्रिया और क्रियावान् का भेद वास्तविक न होकर औपचारिक ही होता है। इसी कारण कुछ दार्शनिकों के मत में 'क्रियाशक्ति प्रधान अन्तःकरण का एक विशेष व्यापार ही प्राण है।'

**अवतरणिका–** त्रिविध अन्तःकरणों के सामान्य एवं विशेष व्यापारों का कथन करने के बाद इनके सहित दस इन्द्रियों के व्यापारों के स्वरूप, (क्रमबद्धता अक्रम बद्धता) का कथन करने के लिए अग्रिम कारिका को प्रस्तुत करते हैं–

**युगपत्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।**
**दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः॥३०॥**

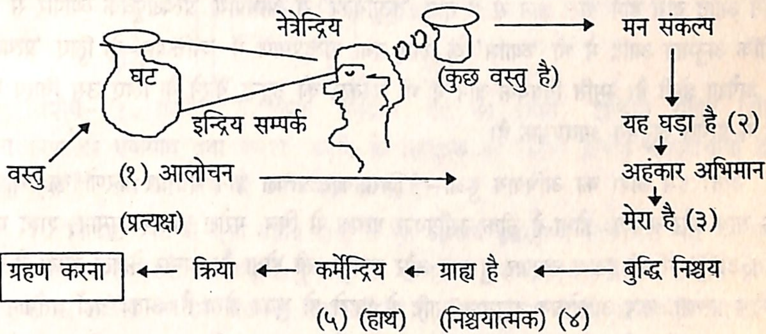
**पदच्छेद–** युगपत् (एक साथ) चतुष्टयस्य (बाह्येन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार चार की) तु (तो) वृत्तिः (प्रवृत्ति) क्रमशः (क्रम से) च (और) तस्य (उस) निर्दिष्टा (कही गई है) दृष्टे (प्रत्यक्ष पदार्थों में) तथापि (फिर भी) अदृष्टे (अप्रत्यक्ष (पदार्थो) में) त्रयस्य (तीन (मन, बुद्धि और अहंकार) की) तत्पूर्विका (प्रत्यक्षपूर्वक) वृत्तिः (प्रवृत्ति)

**अन्वय–** दृष्टे तस्य चतुष्टयस्य वृत्तिः तु युगपत् क्रमशः च निर्दिष्टा, अदृष्टे त्रयस्य वृत्तिः तत्पूर्विका अपि (युगपत् क्रमशः च तथा (निर्दिष्टा)।

**अनुवाद–** प्रत्यक्ष (दिखाई देने वाले पदार्थ के सम्बन्ध) में उन चार प्रकार के करणों (इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार) की प्रवृत्ति (सांख्याचार्यों द्वारा) कभी एक साथ और कभी क्रमशः कही गयी है। अप्रत्यक्ष (पदार्थों के सम्बन्ध) में तीन प्रकार के अन्तःकरणों (मन, बुद्धि और अहंकार) की प्रवृत्ति भी प्रत्यक्षपूर्वक (कभी एक साथ और कभी क्रमशः) उसीप्रकार मानी गयी है।

**व्याख्या–** जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करके उसे ग्रहण करने अथवा त्यागने का निश्चय करते हैं तो इस प्रक्रिया में 'नेत्र आदि इन्द्रिय' सर्वप्रथम तदाकार से आकारित होकर मन को 'यह कुछ है' इस रूप में प्रतीति कराती है। पुनः 'मन' उस वस्तु में नाम-जाति गुण आदि की योजनापूर्वक संकल्प विकल्प करता है।

तदनन्तर 'अहंकार' यह वस्तु 'मेरी है' अथवा 'मेरी नहीं' इस रूप में 'अभिमान' करके 'बुद्धि' को सम्प्रेषित करता है और बुद्धि उस वस्तु के विषय में त्यागने अथवा ग्रहण करने का 'अध्यवसाय' करती है, 'निश्चय' करती है।




(चित्र-३८)

इसप्रकार दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले पदार्थ के सम्बन्ध में चार प्रकार के करणों– १. इन्द्रियाँ, २. मन, ३. अहंकार और ४. बुद्धि का क्रमशः एक के बाद दूसरा आदि व्यापार होता है। ऐसा प्रायः दैनिक जीवन में सभी पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान में होता है।

किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान में ही इन चारों करणों की एक साथ प्रवृत्ति भी देखी जाती है। जैसे– रात के घने अंधकार में अचानक बादलों में बिजली चमकने के बाद हमें अपने पैरों के अत्यन्त पास यदि साँप दिखाई दे तो इस स्थिति में चारों करणों (इन्द्रिय, मन, अहंकार और बुद्धि) की चारों क्रियाएँ– 'आलोचन', 'संकल्प', 'अभिमान' और 'निश्चय', एक साथ एक ही क्षण में सम्पन्न हो जाती हैं और हम अगले ही क्षण भयभीत हुए कूदकर दूर हट जाते हैं। अतः इस स्थिति में इन्द्रियाँ और अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) एक साथ (युगपत्) काम करते हैं।

किन्तु यही घटना यदि रात में मन्दप्रकाश में घटती है तो प्रक्रिया इसप्रकार होगी– सांप के समान सामने पड़ी वस्तु को देखकर व्यक्ति सोचता है कि यह क्या है– साँप है अथवा रस्सी? और उसे निश्चय हो जाता है कि यह तो साँप ही है तो वह वहाँ से अलग हटने का निर्णय करता है। इस स्थिति में इन्द्रियों एवं अन्तःकरण की वृत्ति– आलोचन, संकल्प-विकल्प, अभिमान और निश्चय क्रमशः होती हैं।

इसप्रकार 'प्रत्यक्ष' विषय के सम्बन्ध में चारों करणों (इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार) की युगपत् (एक साथ) और क्रमशः (एक के बाद एक) वृत्ति (प्रवृत्ति) का कथन पूर्वार्द्ध में करके अप्रत्यक्ष अर्थात् विषय के परोक्ष होने पर (अनुमान आदि में) करणों की प्रवृत्ति का कथन कारिका के उत्तरार्द्ध में करते हैं–

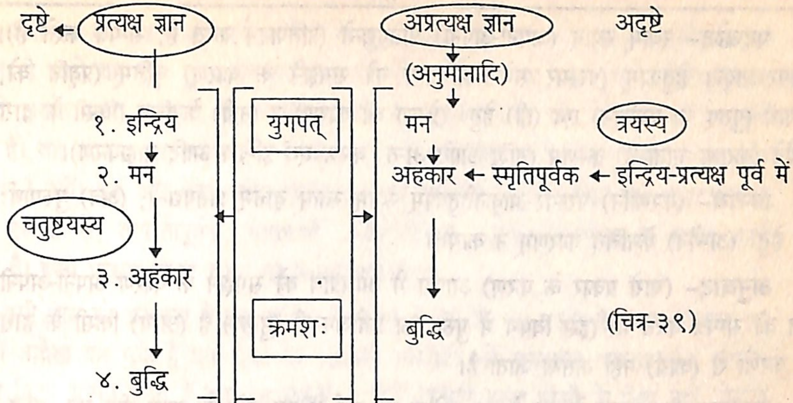
**अदृष्टे अपि त्रयस्य वृत्तिः तत्पूर्विका तथा (एव)**– परोक्ष पदार्थों के ज्ञान के सम्बन्ध में केवल तीन अन्तःकरणों (मन, बुद्धि, अहंकार) का व्यापार प्रत्यक्षपूर्वक (तत्पूर्विका) वैसे ही (तथा एव) अर्थात् एक साथ और क्रमपूर्वक होता है। यहाँ 'अदृष्ट' से अभिप्राय अनुमान, आगम और स्मृति आदि द्वारा होने वाले ज्ञान से है तथा 'तत्पूर्विका' से अभिप्राय 'प्रत्यक्षपूर्वक व्यापार से है, क्योंकि अनुमान आदि में भी 'व्याप्ति' के लिए तथा शब्दप्रमाण में 'शक्तिग्रह' के लिए 'प्रत्यक्ष' की अपेक्षा होती है। स्मृति विषयक ज्ञान में भी संस्कार को उद्बुद्ध करने के लिए उस विषय का पूर्व में प्रत्यक्ष अनुभव आवश्यक है।

अतः इस अंश का अभिप्राय हुआ– 'जिसप्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान में चार करणों का व्यापार एक साथ और क्रमशः होता है ठीक उसीप्रकार प्रत्यक्ष से भिन्न, परोक्ष ज्ञान (अनुमान, शब्द एवं स्मृति आदि) में भी इनका व्यापार युगपत् और क्रमशः ही होता है। अन्तर केवल इतना है कि 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' रूप आलोचन अनुमान आदि में पहले हो चुका होता है। अतः यहाँ वर्तमान में तीन (मन, बुद्धि और अहंकार-त्रयस्य) की युगपत् और क्रमशः वृत्ति का कथन किया गया है। क्योंकि अनुमान आदि के सम्बन्ध में व्याप्तिज्ञान के लिए रसोईघर आदि में धूम और अग्नि का, साहचर्य पहले देखा ही है, यदि नहीं देखा होता तो मात्र 'धूम' को पर्वत पर देखकर अग्नि का ज्ञान नहीं होता। इसीप्रकार शब्दप्रमाण से प्रतीत होने वाले विषय में 'शक्तिग्रह' के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा होती ही है, किन्तु यह प्रत्यक्ष यहाँ संस्काररूप में तत्काल केवल स्मृति रूप में ही होता है, वस्तुतः नहीं। इसलिए कारिका में त्रयस्य पद का प्रयोग किया, चतुष्टयस्य का नहीं।

इस प्रसंग में एक जिज्ञासा की जा सकती है कि सांख्य जहाँ तीन अथवा चार करणों की युगपत् वृत्ति को स्वीकार कर रहा है, वह तो सम्भव ही नहीं है, क्योंकि भले ही वह क्रम हमें 'उत्पलशतपत्र भेदन' (कमल के सौ पत्तों को छेदने) के समान प्रतीत न हो, दिखाई न दे, किन्तु क्रम तो वहाँ होता ही है। अतः यहाँ 'युगपत्' पद का प्रयोग उचित प्रतीत नहीं होता?

इस सम्बन्ध में सांख्य का इतना ही मानना है कि जिस क्रम की आप बात कर रहे हैं उसको अनुभव आदि प्रमाण के अभाव में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीलिए सांख्यसूत्रकार ने भी इन्द्रियों की क्रियाओं को क्रमशः और युगपत् दोनों प्रकार की स्वीकार किया है। (क्रमशोऽक्रमश्चेन्द्रियवृत्ति २.३२)

कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–



(चित्र-३९)

**विशेष–** १. कारिका में प्रयुक्त 'निर्दिष्टा' पद का प्रयोग, 'इन्द्रियों सहित त्रिविध अन्तःकरण की एकसाथ तथा क्रमशः प्रवृत्ति के सिद्धान्त का निर्देश प्राचीन सांख्याचार्यों द्वारा किया गया है', इस अभिप्राय को अभिव्यक्त करता है।

२. 'निर्दिष्टा' पद से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य ईश्वरकृष्ण स्वयं इस मत पर सुदृढ़ नहीं थे कि अन्तःकरणों की प्रवृत्ति युगपत् भी सम्भव है, सम्भवतः इसीलिए उन्होंने प्राचीन आचार्यों का उल्लेख कर इस मत को उद्धृत किया है, विनम्रतावश इससे असहमति व्यक्त नहीं की है।

३. कुछ विद्वानों के मत में कारिका में प्रयुक्त 'तथाप्यदृष्टे' का अर्थ, 'यथा' पद का अध्याहारपूर्वक इसप्रकार करना चाहिए– 'यथा दृष्टे तथा अदृष्टे अपि'।

४. वस्तुतः यदि हम सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो इन अन्तः करणों की 'युगपत् प्रवृत्ति' सम्भव ही नहीं है। यह बात दूसरी है कि उस क्रम को हम देख न पाएँ। ऐसी बहुत सी बातें हैं जो प्रत्यक्ष नहीं है फिर भी हम स्वीकार करते हैं। सांख्य की प्रकृति भी वैसी ही एक है। यह क्रम ठीक उसीप्रकार हमें दिखाई नहीं देता जैस कमल के सौ पत्तों को सूई से एक साथ छेदने पर क्रम की प्रतीति नहीं होती और हम समझते हैं कि ये सब एक साथ बींधे गए हैं।

५. कारिका में प्रयुक्त 'तु' के स्थान पर 'हि' पाठभेद भी माठर वृत्तिकार ने स्वीकार किया है।

**अवतरणिका–** त्रिविध (मन, बुद्धि और अहंकार) अथवा चतुर्विध (इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार) करणों की 'क्रमशः' अथवा 'युगपत्' प्रवृत्ति किस कारण होती है अर्थात् ये सब किससे प्रेरित होकर अपने-अपने कार्यों को सम्पन्न करते हैं, इसके उत्तर में ग्रन्थकार अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम्।**
**पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्॥ ३१॥**

**पदच्छेद–** स्वाम् स्वाम् (अपनी-अपनी) प्रतिपद्यन्ते (प्रतिपादन करते हैं, सम्पन्न करते हैं)। परस्पर-आकूत हेतुकाम् (परस्पर संकेत-अभिप्राय को समझने के कारण) वृत्तिम् (प्रवृत्ति को, पुरुषार्थ (पुरुष का प्रयोजन) एव (ही) हेतुः (प्रेरणा का कारण) न (नहीं) केनचित् (किसी के द्वारा कार्यते (कराया जाता है) करणम् (बुद्धि आदि अन्तः करण एवं इन्द्रिय आदि बाह्यकरण)।

**अन्वय–** (करणानि) परस्पर-आकूतहेतुकाम् स्वाम् स्वाम् वृत्तिम् प्रतिपद्यन्ते, (अत्र) पुरुषार्थः एव हेतुः (अन्येन) केनचित् कारणम् न कार्यते।

**अनुवाद–** (चारों प्रकार के करण) आपस में अभिप्राय को समझने के कारण अपनी-अपनी वृत्ति को सम्पन्न करते हैं। (इस विषय में पुरुष का प्रयोजन ही (मुख्य) है (अन्य) किसी के द्वारा इन करणों से (कार्य) नहीं कराया जाता है।

**व्याख्या–**चार प्रकार के करणों का उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं। इनमें तीन मन, बुद्धि, अहंकार अन्तःकरण हैं तथा दस इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ) बाह्यकरण हैं। इन सबके कार्य निश्चित अर्थात् निर्धारित हैं। न तो कोई दूसरे के कार्य में बाधा ही पहुँचाता है और न ही दूसरे का कार्य करता है। इन सभी में कार्य के सम्बन्ध में अद्भुत तालमेल है, जिसे टीकाकारों ने संग्रामभूमि में विभिन्न शस्त्रों को धारण करने वाले सैनिकों के आचरण द्वारा समझाया है।

जिसप्रकार युद्धस्थल पर कुछ सैनिक रथ पर सवार होते हैं तो कुछ हाथियों अथवा घोड़ों पर, तो कुछ पैदल ही युद्ध करते हैं। ये सभी सैनिक अलग-अलग शस्त्रों तलवार, भाला, धनुष आदि को धारण करते हैं। युद्ध का आदेश पाकर ये सभी एक दूसरे के अभिप्राय को समझते हुए अपने-अपने वाहन पर आरुढ़ होकर अपने-अपने शस्त्र द्वारा युद्धरूप कार्य सम्पन्न करते हैं। परस्पर सुन्दर तालमेल से ही ये अपने कार्य की सिद्धि करते हैं।

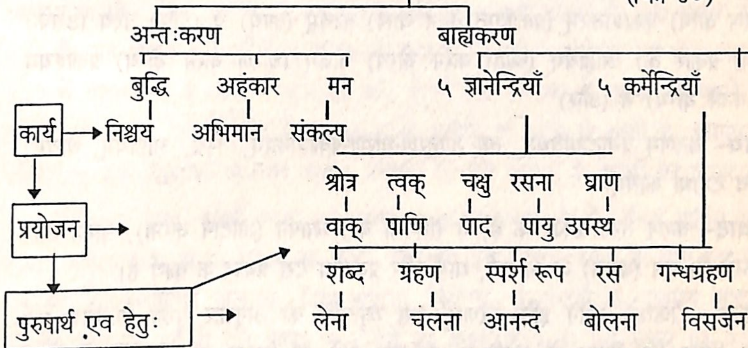
ठीक इसीप्रकार चारों प्रकार के करण भी एक दूसरे के अभिप्राय को समझकर इस समय कौन कार्य कर रहा है, मेरा अवसर कब आएगा इत्यादि भावना से सचेत होकर तत्परतापूर्वक संकेत मिलते ही अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। इस अभिप्राय की अभिव्यक्ति के लिए कारिकाकार ने 'आकूत' शब्द का प्रयोग किया। अर्थात् इन चतुर्विध करणों का व्यापार सावचेष्ट, तत्परता एवं परस्पर अत्यन्त तालमेल के सिद्धान्त पर आधारित होता है। जिसे हम एक उदाहरण द्वारा भलीप्रकार समझ सकते हैं–

कोई व्यक्ति जंगल में खड़ा है तथा उसकी श्रोत्रेन्द्रिय कुछ गिरने का शब्द सुनती है, तत्काल इसकी सूचना नेत्रेन्द्रिय को मिलती है जो शब्द की दिशा में देखती है। इस प्रसंग में एक बात उल्लेखनीय है कि प्रत्येक इन्द्रिय का व्यापार मन, अहंकार, बुद्धि के क्रम से निकलने के बाद ही होता है, बुद्धि ही तत्तत् इन्द्रिय को तत्तत् क्रिया के लिए प्रेरित करती है। यदि दूर से कुछ दिखाई नहीं देता तो पादेन्द्रिय को आदेश मिलता है और वह चलकर वहाँ जाती है।

वहाँ पहुँचकर नेत्रेन्द्रिय कुछ वस्तु देखती है, मन के संकल्प विकल्प द्वारा जिसके आम होने का निर्णय बुद्धि करती है। अहंकार 'मेरा है' ऐसा अभिमान जाग्रत्त करता है। पुनः बुद्धि

पाणि कर्मेन्द्रिय को उठाने का आदेश देती है। पुनः सूँघने की इच्छा से घ्राणेन्द्रिय को आदेश मिलता है जिसे वह पुनः बुद्धि को देती है, तत्पश्चात् रसनेन्द्रिय को चखने का आदेश मिलता है। जो उसके स्वाद से बुद्धि को अवगत कराती है, जिससे किसी को 'आनन्द' की अनुभूति होती है। वह आनन्द का अनुभव करने वाला कौन है? ज्ञानेन्द्रिय? कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार? नहीं। वह और कोई नहीं, अपितु एकमात्र पुरुष है। जिसके लिए यह त्रयोदशकरण बड़ी मुस्तैदी से, तत्परतापूर्वक, सेवाभावी, कर्तव्यपरायण, स्वामीभक्त सेवक के समान कार्य करता है। इनमें परस्पर किसी प्रकार का विरोध नहीं होता।

इसी भाव को ग्रन्थकार ने इस कारिका में किया है कि 'ये चार प्रकार के करण जिनका हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं एक दूसरे के अभिप्राय संकेतादि को समझकर तत्परतापूर्वक अपनी-अपनी क्रिया सम्पन्न करते हैं तथा इन सबकी ये सभी क्रियाएँ अन्य किसी के लिए नहीं, केवल पुरुष जिसे आत्मा अथवा 'ज्ञ' भी कहते हैं, के लिए होती हैं। इसलिए इन सभी करणों का मुख्य प्रेरक, लक्ष्य, प्रयोजन आदि एक मात्र पुरुष है, अन्य कोई नहीं।




**विशेष**– १. कारिका में प्रयुक्त 'आकूत' पद को आचार्य माठर 'अभिप्राय' अर्थ में, जयमंगलाकार, 'स्ववृत्ति भोग' अर्थ में, वाचस्पति मिश्र 'अपना कार्य करने में अभिमुख होना', अर्थ में, आचार्य गौडपाद 'आदर सम्भ्रम' अर्थ में, कॉलब्रुक इसे 'परस्पर के आमन्त्रण से उत्तेजित' अर्थ में तथा विल्सन इसे 'क्रिया के लिए होने वाली उत्तेजना अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं।

२. जयमंगलाकार ने कारिका में प्रयुक्त 'परस्पराकूतहेतुकाम्' के स्थान पर 'परस्पराकूतहेतुकीम्' पाठ को स्वीकार किया है।

३. सभी करण स्वयं में अचेतन होते हैं। अतः वे स्वयं किसी प्रकार की क्रिया में समर्थ नहीं हैं। अतः इनका कोई अधिष्ठाता, प्रेरक होना चाहिए, जो इनकी प्रवृत्ति का हेतु हो। उस प्रवृत्ति का हेतु सांख्य एकमात्र 'पुरुष' को स्वीकार करता है, जिसका कारिकाकार ने यहाँ प्रतिपादन किया है।

४. न्यायदर्शन इस प्रवृत्ति का हेतु 'ईश्वर' को तथा वेदान्त 'ईश्वर' अथवा 'जीव' को स्वीकार करता है, किन्तु जयमंगलाकार ने इसी कारिका की व्याख्या में मूल-प्रकृति अर्थात्

अव्यक्त को बुद्धि आदि करणों की प्रवृत्ति का हेतु माना है, उनके अनुसार पुरुष क्रियाओं का कर्ता नहीं, अपितु प्रकृति का अधिष्ठाता है।

५. जयमंगलाकार का मत सांख्य की दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रकृति के भी तो सभी कार्य अन्ततोगत्वा पुरुष को लक्ष्य करके ही किए जा रहे हैं। अतः पुरुष ही अप्रत्यक्षरूप से सभी करणों की क्रियाओं का एकमात्र हेतु सिद्ध होता है, क्योंकि प्रकृति तो स्वयं भी पुरुष की सेविका है।

**अवतरणिका–** जिन करणों की प्रवृत्ति एकमात्र पुरुष के लिए होती है, उनकी संख्या विषय-विभाग, प्रयोजन एवं इनके द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कार्यों का कथन करने के लिए ग्रन्थकार अग्रिम कारिका का उल्लेख करते हैं–

**करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।**
**कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च॥ ३ २॥**

**पदच्छेद–** करणम् (करण) त्रयोदशविधम् (तेरह प्रकार के) तत् (वे) आहरण (व्याप्त करने) धारण (धारण करने) प्रकाशकरम् (प्रकाशित करने वाले) कार्यम् (कार्य) च (और) तस्य (उसके) दशधा (दस प्रकार के) आहार्यम् (व्याप्त करने योग्य) धार्यम् (धारण करने योग्य) प्रकाश्यम् (प्रकाशित करने योग्य) च (और)

**अन्वय–** करणम् त्रयोदशविधम्, तत् आहरण-धारण-प्रकाशकरम्, तस्य, आहार्यम्, धार्यम्, प्रकाश्यम् च दशधा कार्यम्।

**अनुवाद–** करण तेरह प्रकार के हैं, वे (विषयों का) व्यापन (आदान करना), धारण और प्रकाशन करते हैं। उस (करण) के आहार्य, धार्य और प्रकाश्य दस प्रकार के कार्य हैं।

**व्याख्या–** 'क्रियते अनेन इति करणम्' इस व्युत्पत्ति को अनुसार पुरुष के भोग एवं अपवर्गरूपी क्रिया की सिद्धि में सर्वाधिक सहायक होने के कारण पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार को यहाँ 'करण' संज्ञा दी गई है। इनकी संख्या कुल मिलाकर तेरह होती है।

किसी भी वस्तु का कारक होना उसके कार्यवान् होने पर आधारित है। इसीलिए इन त्रयोदश करण की कार्यवत्ता का प्रतिपादन कारिका के द्वितीय चरण में करते हैं– इनमें पञ्चकर्मेन्द्रियों– वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ, का व्यापार है, अपने-अपने विषय का आहरण करना, ग्रहण करना अर्थात् ये अपने-अपने कार्य के द्वारा अपने-अपने विषयों को व्याप्त करती हैं।

इसीप्रकार बुद्धि, अहंकार और मन क्रमशः अपने-अपने अध्यवसाय (निश्चय), अभिमान और संकल्प व्यापार से प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान आदि पञ्च प्राणवायु द्वारा शरीर को धारण करते हैं। अतः यह त्रिविधकरण धारणरूप व्यापार करने वाला है।

**इसके अतिरिक्त पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ**– श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण, क्रमशः अपने-अपने विषयों– शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि के सम्पर्क में आने पर उनके आकार से आकारित होकर, उनके प्रकाशनरूप व्यापार को सम्पन्न करती हैं।

इसप्रकार कर्मेन्द्रियों में आहरणत्व, बुद्धि आदि त्रिविध करण में धारणत्व तथा ज्ञानेन्द्रियों में प्रकाशकत्व विद्यमान रहता है। पुनः कारिकाकार उत्तरार्द्ध में उनके कर्म तथा प्रकारों का कथन करते हुए कहते हैं कि– उन तेरह प्रकार के करणों के आहार्य, धार्य और प्रकाश्य रूप कार्य दस-दस प्रकार के हैं।

यहाँ आहार्य से अभिप्राय है– व्याप्त करने योग्य वाक् आदि पञ्चकर्मेन्द्रियाँ भाषण, ग्रहण, गमनागमन, मलत्याग और आनन्दरूप कार्यों में अपने-अपने व्यापारों के माध्यम से व्याप्त रहती हैं। इसीलिए इनके द्वारा आहार्यरूप कार्य सम्पन्न किया जाता है। ये कार्य दिव्य-देवताओं के तथा अदिव्य मनुष्यों के अलग-अलग होने के कारण कुल दस प्रकार के हो जाते हैं।

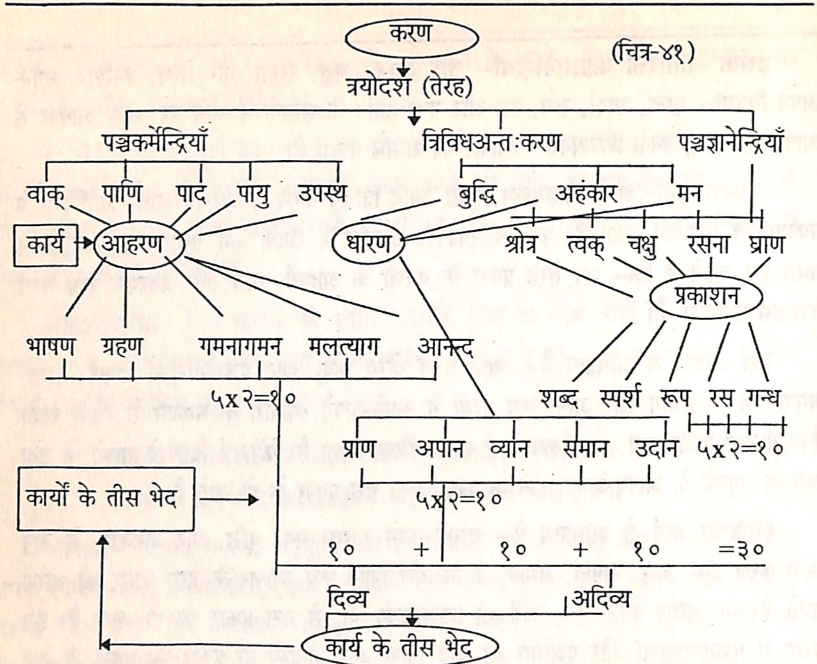
इसीप्रकार धार्य से अभिप्राय है– धारण करने योग्य। मन, बुद्धि और अहंकार, ये तीन अन्तःकरण ही– प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान रूप व्यापार के द्वारा शरीर को धारण करते हैं। यह धारण करना रूप कार्य भी दिव्यादिव्य भेद से दस प्रकार का हो जाता है। इस प्रसंग में पञ्चतन्मात्राओं और पञ्चवायु को यदि दिव्य और अदिव्य दो प्रकार का पहले ही मान लें तो हमें दिव्य, अदिव्य भेद से दस प्रकार के शरीरों की प्राप्ति हो जाती है। इसप्रकार दिव्य प्राणादि के द्वारा देवताओं के तथा अदिव्य प्राणादि के द्वारा मनुष्यों के शरीरों का धारण होता है।

इसीप्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक पञ्चतन्मात्राओं से निर्मित पार्थिव शरीर भी दिव्य, अदिव्य भेद से दो प्रकार का होगा। इसप्रकार इस त्रिविध करण के द्वारा दिव्य-अदिव्य गन्धमय, दिव्य-अदिव्य जलमय, दिव्य-अदिव्य तेजोमय, दिव्य-अदिव्य वायुमय तथा दिव्य-अदिव्य शब्दमय भेद से दस प्रकार के शरीरों को धारण करने का दस प्रकार का कार्य किया जाता है।

पञ्चज्ञानेन्द्रियों द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला प्रकाशन कर्म, उन-उनके विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के दिव्य-अदिव्य भेद से दस प्रकार के हो जाते हैं।

यहाँ दिव्य और अदिव्य से अभिप्राय अलौकिक एवं लौकिक से है, क्योंकि देवताओं के अलौकिक अर्थात् दिव्य कार्य मनुष्यों के लौकिक अर्थात् अदिव्य कार्यों से भिन्नता रखते हैं। यह विभिन्नता आहार्य, धार्य और प्रकाश्य रूप तीनों प्रकार के कार्यों में विराजमान रहती है। इसप्रकार इन तीनों प्रकारों में प्रत्येक के दस-दस भेद होकर तेरह प्रकार के करणों के द्वारा किए जाने वाले कार्यों के कुल तीस भेद हो जाते हैं–

इसप्रकार प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार ने करणों की संख्या, उनके द्वारा किए जाने वाले कार्य एवं उन कार्यों के भेद का विस्तार से उल्लेख किया। इस कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है।




**विशेष**– १. त्रयोदशकरण को वस्तुतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (क) आभ्यन्तरकरण– इसके अन्तर्गत बुद्धि, अहंकार और मन ये तीनों आते हैं (ख) बाह्यकरण– इसके अन्तर्गत पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ कुल मिलाकर दस इन्द्रियाँ आती हैं।

२. आचार्य गौडपाद के मत में– विषयों का आहरण अर्थात् व्याप्त करना एवं धारण ये दोनों कार्य कर्मेन्द्रियों द्वारा किए जाते हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ उनका प्रकाशन करती हैं। इसप्रकार कर्मेन्द्रियों द्वारा उन पदार्थों का आहरण एवं धारण किया जाता है जिनका प्रकाशन ज्ञानेन्द्रियाँ करती हैं। उनके मत में अन्तःकरण– मन, बुद्धि और अहंकार के कार्यों का यहाँ विवरण नहीं दिया गया है।

३. किन्तु आचार्य माठर, ''ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा मन इन ग्यारह इन्द्रियों को बाह्य विषयों का आहरण करने वाला, अहंकार को धारण करने वाला तथा बुद्धि को प्रकाशित करने वाला मानते हैं।'' उनकी व्याख्या अग्रिम कारिका की भावनाओं के अनुरूप प्रतीत होती है।

४. जयमंगलाकार के मत में, 'ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों का प्रकाशन, कर्मेन्द्रियाँ उनका आहरण तथा मन, बुद्धि और अहंकार तीन अन्तःकरण संयुक्त रूप से मिलकर उसे धारण करते हैं।

५. आचार्य माठर, गौडपाद तथा जयमंगलाकार ने ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों के विषयों को जोड़कर दस प्रकार का माना है, किन्तु वाचस्पति मिश्र इनमें से प्रत्येक को दिव्य-

अदिव्य भेद से दस प्रकार का मानते हैं। जो सब मिलाकर कुल तीस हो जाते हैं। जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है।

**अवतरणिका–** इसप्रकार अन्तः और बाह्य दोनों प्रकार के तरह करणों के द्वारा किए जाने वाले कार्यों का उल्लेख करने के पश्चात् इनका वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुए, वृत्ति की सार्वकालिकता वर्तमानकालिकता का प्रतिपादन करने के लिए ग्रन्थकार अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।**
**साम्प्रत्कालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्॥ ३ ३॥**

**पदच्छेद–** अन्तःकरणम् (अन्तःकरण) त्रिविधम् (तीन प्रकार के), दशधा (दस प्रकार का) बाह्यम् (बाह्यकरण) त्रयस्य (तीन अन्तःकरणों के) विषय-आख्यम् (विषयों को प्रस्तुत करने वाले) साम्प्रत् (वर्तमान) कालम् (काल) बाह्यम् (बाह्यकरण) त्रिकालम् (त्रिकाल (भूत भविष्य वर्तमान) विषयक) आभ्यन्तरम् (अन्तः) करणम् (करण)

**अन्वय–** अन्तःकरणम् त्रिविधम्, त्रयस्य विषयाख्यम् बाह्यम् दशधा, बाह्यम् साम्प्रत्कालम्, आभ्यन्तरम् करणम् त्रिकालम्।

**अनुवाद–** अन्तःकरण तीन प्रकार के (हैं), तीनों (अन्तःकरणों) के विषयों को प्रस्तुत (उपस्थित) करने वाले बाह्य (करण) दस प्रकार के (हैं)। बाह्य (करण) वर्तमान-विषयक (होते हैं) (तथा) आभ्यन्तरकरण (अन्तःकरण) त्रिकालविषयक (वर्तमान-भूत-भविष्य) (होते हैं)।

**व्याख्या–** जिसे शरीर के अन्दर स्थित होने के कारण 'अन्तःकरण' कहते हैं, 'मन', 'अहंकार' और 'बुद्धि' भेद से तीन प्रकार का होता है। बाह्यकरण के अन्तर्गत– 'श्रोत्र', 'त्वक्', 'चक्षु', 'रसना' और 'घ्राण' ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा 'वाक्', 'पाणि', 'पाद', 'पायु' और 'उपस्थ' ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ आती हैं। तीनों प्रकार के अन्तःकरणों के विषय– संकल्प, अभिमान और निश्चय को सम्पन्न कराने में दस प्रकार के बाह्यकरण सहायक होते हैं। इसका कथन करने के लिए कारिकाकार ने द्वितीय चरण के अन्त में कहा 'त्रयस्य विषयाख्यम्'।

ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर स्थित अपने-अपने विषयों के सम्पर्क में आकर उन्हें प्रकाशित करके, उनकी सूचना अन्तःकरण को प्रदान करती हैं। तत्पश्चात् वह ज्ञान अन्तःकरण में संकल्प, अभिमान आदि प्रक्रियाओं से निकलकर 'निश्चय' रूप में परिवर्तित होता है। जिसे कर्मेन्द्रियाँ कार्यरूप में परिणत करती हैं। इसप्रकार ये दस बाह्यकरण तीनों अन्तःकरणों के विषयों को प्रस्तुत करने वाले, उपस्थित करने वाले, कथन करने वाले हैं। अतः तीनों अन्तःकरण विषयी तथा बाह्यकरण उनके विषयों का प्रतिपादन करने वाले हैं।

पुनः अन्तःकरण और बाह्यकरणों की दूसरी भेदक विशेषता का कथन कारिका के उत्तरार्द्ध में करते हैं– इनमें बाह्यकरण केवल वर्तमानकाल के विषयों में प्रभावी होते हैं। अतः इन्हें वर्तमानकालिक (साम्प्रत्कालम्) कहा गया है। बाह्यकरणों का व्यापार इनके अपने-अपने विषयों के

सामने उपस्थित होने पर ही सम्भव है। भूतकाल में हुए अथवा भविष्यतकाल में होने वाले विषयों का इन इन्द्रियों द्वारा ग्रहण सम्भव नहीं हैं।

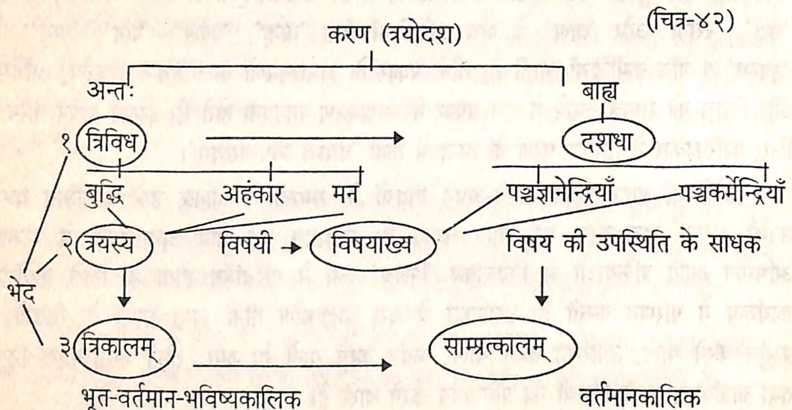
इसके विपरीत आभ्यन्तरकरण अर्थात् अन्तःकरण, भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में प्रभावी होते हैं। अतः त्रिकालिक हैं। जैसे— नदी के जल में मिट्टी की अधिकता देखकर पर्वत पर भूतकालिक वर्षा के होने का निश्चय, पर्वत पर धुआँ देखकर वहाँ वर्तमानकालिक अग्नि होने का निश्चय तथा चीटियों को कतार में अण्डे ले जाते देखकर भविष्य में वर्षा होने का निश्चय, अन्तःकरण की भूतकालिक वर्तमान कालिक और भविष्यतकालिक प्रवृत्ति का ही परिणाम है। इसलिए अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) का त्रिकालिक होना सिद्ध होता है।

इस प्रसंग में एक जिज्ञासा की जा सकती है कि सांख्य तो 'काल' के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि काल के सम्बन्ध में सांख्य का मत है कि— 'सूर्य आदि की क्रिया ही काल है। इसका परिगणन अन्य तत्त्वों में होने के कारण 'काल' रूप अन्य पदार्थ की कल्पना व्यर्थ है।' ऐसी स्थिति में कारिकाकार में 'त्रिकाल' 'साम्प्रत्काल' आदि पदों में 'काल' पद का प्रयोग क्यों किया?

इसके उत्तर में आचार्य वाचस्पतिमिश्र की योगभाष्य टीका के कथन को उद्धृत किया जा सकता है— 'तथाकथित 'काल' वस्तुतः कोई वस्तु या तत्त्व न होते हुए भी 'खपुष्प' या वन्ध्यापुत्र के समान लोकव्यवहार में प्रचलित एवं बौद्धिक प्रत्यय है।' अतः यहाँ भी लोकव्यवहार के प्रचलन के कारण यहाँ भी वस्तु की अतीत अनागत आदि उपाधियों से युक्त व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करके ही यहाँ 'साम्प्रतकाल' एवं 'त्रिकाल' पदों का प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं—

(चित्र-४२)




**विशेष**— १. प्रस्तुत कारिका में 'मन' की गणना बाह्य इन्द्रियों के साथ न करके अन्तःकरण 'बुद्धि' और 'अहंकार' के साथ की है।

२. यहाँ दस प्रकार की इन्द्रियों को विषयाख्य– 'विषयम् आख्याति इति, व्युत्पत्ति के अनुसार बाह्य विषयों को त्रिविध अन्तःकरण के समक्ष 'उपस्थित करने रूप' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कहा गया है, क्योंकि वे विषयों का आख्यान अर्थात् कथन करते हैं।

३. प्रस्तुत कारिका में प्रतिपादित सिद्धान्त केवल लौकिक प्रत्यक्ष पर लागू होता है, योगी के प्रत्यक्ष पर नहीं, क्योंकि योगी अपनी सामर्थ्य के द्वारा बाह्यकरणों के माध्यम से ही भूतकाल एवं भविष्यतकाल के विषयों का भी वर्तमानकाल के समान ही प्रत्यक्ष कर लेता है।

**अवतरणिका–** ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ रूप बाह्यकरण जो केवल वर्तमान काल में स्थित विषयों को ग्रहण करती हैं। इनके विषयों का कथन करने के लिए अग्रिम कारिका का उल्लेख करते हैं–

**बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि।**
**वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्च विषयाणि॥ ३४॥**

**पदच्छेद–** बुद्धि-इन्द्रियाणि (ज्ञानेन्द्रियाँ) तेषाम् (उन (दस बाह्यकरणों) में) पञ्च (पाँच) विशेष (स्थूल) अविशेष विषयाणि (सूक्ष्मतत्त्वों का विषय (करती हैं) वाक् (वाणी) भवति (होती है) शब्द विषया (शब्द विषयक) शेषाणि (अवशिष्ट (चारों)) तु (तो) पञ्चविषयाणि (पाँच को विषय बनाने वाली)।

**अन्वय–** तेषाम् पञ्च बुद्धि-इन्द्रियाणि विशेष-अविशेषविषयाणि, वाक् शब्दविषया भवति, शेषाणि तु पञ्चविषयाणि (भवन्ति)।

**अनुवाद–** उन (दस बाह्यकरणों) में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वों को विषय (बनाती हैं)। वाणी (कर्मेन्द्रिय) शब्द के विषय में (प्रवृत्त) होती है, अवशिष्ट (कर्मेन्द्रियाँ) तो (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन) पाँचों विषयों में (प्रवृत्त होसी हैं)।

**व्याख्या–** जिन बाह्यकरणों का पूर्व कारिका में उल्लेख किया गया उनमें से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण) पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश रूप स्थूल तत्त्वों में भी प्रवृत्ति होती है तथा जिन तन्मात्राओं से इन पञ्च स्थूलमहाभूतों का निर्माण होता है, उन तन्मात्ररूप सूक्ष्मतत्त्वों शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि को भी ग्रहण करने में सक्षम होती हैं।

कारिका में प्रयुक्त विशेष और अविशेष पद क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ स्थूल से अभिप्राय पञ्चमहाभूतों पृथिवी आदि से तथा सूक्ष्म से अभिप्राय शब्द, स्पर्श आदि पञ्चतन्मात्राओं से है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इन दोनों प्रकार के तत्त्वों को अपना विषय बनाती हैं।

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यह कथन सामान्य एवं योगी दोनों प्रकार के व्यक्तियों की दृष्टि से किया गया है अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचारियों एवं योगियों की श्रोत्र नामक ज्ञानेन्द्रिय स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार के शब्दों को ग्रहण करने में समर्थ होती है, किन्तु सामान्य व्यक्ति की श्रवणेन्द्रिय केवल स्थूल शब्द का ही ग्रहण करती है। इसीप्रकार त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण आदि ज्ञानेन्द्रियों के विषय में भी समझना चाहिए, क्योंकि तन्मात्ररूप

सूक्ष्मतत्त्वों का साक्षात्कार इन्द्रियों के माध्यम से केवल योगी ही कर सकते हैं, सामान्य व्यक्ति नहीं।

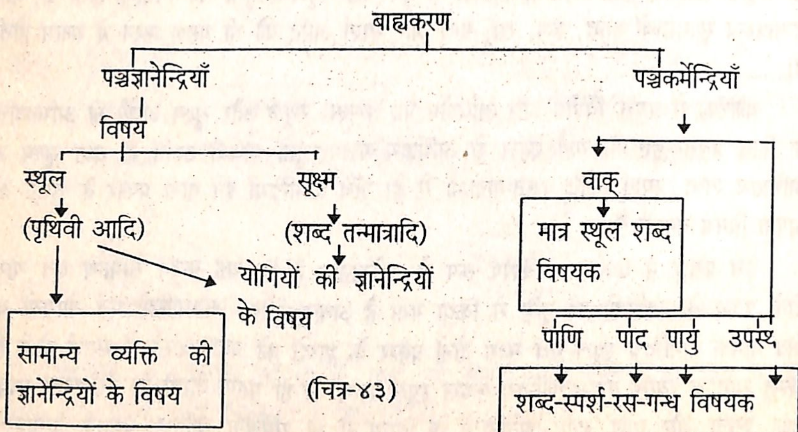
यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार के तत्त्वों को प्रत्यक्षरूप से ग्रहण करने की सामर्थ्य होती है, किन्तु चित्त के वासना से अवरुद्ध होने के कारण सामान्य व्यक्ति का चित्त सूक्ष्मतन्मात्राओं का प्रत्यक्ष करने में समर्थ नहीं होता है। यौगिक क्रियाओं द्वारा उस प्रतिबन्ध के हट जाने पर योगी सूक्ष्म विषयों को भी स्थूल तत्त्वों के समान ही इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष करने में समर्थ हो जाता है।

इसीप्रकार कर्मेन्द्रियों में 'वाक्' नामक इन्द्रिय स्थूल शब्द के विषय में प्रवृत्त होती है, क्योंकि यह शब्दतन्मात्ररूप सूक्ष्मशब्द को उत्पन्न नहीं करती है। इसलिए कारिका में प्रयुक्त 'शब्द' पद को तन्मात्ररूप अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि वाक् रूप कर्मेन्द्रिय के द्वारा जिस स्थूल शब्द को उत्पन्न किया जाता है, वही स्थूल शब्द उसका विषय हो सकता है, शब्दरूपतन्मात्र (सूक्ष्मरूप) नहीं।

कारिका में प्रयुक्त 'शेषाणि' पद से अभिप्राय– वाक् नामक कर्मेन्द्रिय को छोड़कर शेष– पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक कर्मेन्द्रियों से है, क्योंकि वाक् का तृतीयचरण में कथन कर दिया गया है। इन चारों कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँचों विषयों में होती है। जैसे–

हाथ द्वारा जिस भी वस्तु को हम ग्रहण करते हैं, उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँचों विषय विद्यमान रहते हैं। हमारे पैर, शब्द आदि पाँच तत्त्वों से युक्त पृथ्वी पर ही विहरण क्रिया सम्पन्न करते हैं। पायु नामक कर्मेन्द्रिय के द्वारा शब्द आदि पाँच तत्त्वों से युक्त मल एवं मूत्र का त्याग किया जाता है। ठीक इसीप्रकार उपस्थ नामक इन्द्रिय के द्वारा शब्दादि पञ्चतत्त्वों से युक्त वीर्य की निस्सरण क्रिया से आनन्द का उपभोग कराया जाता है। इसप्रकार पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक चारों कर्मेन्द्रियों की शब्दादि पाँचों विषयों में प्रवृत्ति होती है।

इस कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–



(चित्र-४३)

**विशेष–** १. कारिका में प्रयुक्त 'तु' पद के स्थान पर माठरवृत्तिकार एवं युक्तिदीपिकाकार ने 'अपि' पाठ स्वीकार किया है।

२. 'पञ्चविषयाणि' के स्थान पर 'पञ्चविषयीणि' पाठान्तर भी उपलब्ध होता है। जयमंगलाकार यही पाठ मानते हैं।

३. 'वाक्' नामक इन्द्रिय शब्दतन्मात्र को उत्पन्न करने वाला कारण नहीं हो सकता और न ही वह सूक्ष्म शब्दरूप तन्मात्रा को ग्रहण करने में ही समर्थ है, क्योंकि 'वाक्' इन्द्रिय और शब्दतन्मात्रा दोनों का उत्पत्तिस्थल एक अहंकार है और एक ही वस्तु से उत्पन्न दो वस्तुओं में आपस में कारण-कार्य सम्बन्ध सम्भव ही नहीं है। इसीलिए 'वाक्' इन्द्रिय शब्दतन्मात्रा का उत्पादक हेतु होना सम्भव नहीं है।

४. आचार्य माठर कारिका में प्रयुक्त 'विशेष-अविशेषयाणि' पद की व्याख्या भिन्न प्रकार से करते हैं। उनके अनुसार– 'शान्त, घोर और मूढभाव ही विशेष पदवाच्य है। उनसे युक्त होने पर स्थूलभूत को अविशेष तथा उनके अभाव में सूक्ष्मभूत तन्मात्राओं का अशेष या निर्विशेष पदों के द्वारा कथन किया जाता है। इनमें दुःख अथवा मोह की अनुभूति नहीं होती है। इसीलिए देवताओं की ज्ञानेन्द्रियों के विषय ये तन्मात्राएँ ही होती हैं। साधारण व्यक्ति शान्त, घोर और मूढात्मक स्थूल विषयों को ही ग्रहण कर पाता है।

**अवतरणिका–** पूर्व कारिकाओं में तेरह प्रकार के करणों का विस्तार से उल्लेख किया गया। इनमें प्रधान एवं गौणभाव का प्रतिपादन करते हुए इन्द्रियों की अपेक्षा त्रिविध अन्तःकरण की विशेषता का ग्रन्थकार अग्रिम कारिका का उल्लेख करते हैं–

**सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।**
**तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि॥३५॥**

**पदच्छेद–** सान्तःकरणा (अन्तःकरण (मन और अहंकार) सहित) बुद्धिः (बुद्धि) सर्वम् (सभी) विषयम् (विषयों को) अवगाहते (व्याप्त करती है) यस्मात् (क्योंकि) तस्मात् (इसलिए) त्रिविधम् (तीन प्रकार का) करणम् (अन्तःकरण (मन, अहंकार और बुद्धि) द्वारि (प्रधान है), द्वाराणि (अप्रधान-साधन) शेषाणि (अन्य शेष)।

**अन्वय–** यस्मात् सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वम् विषयम् अवगाहते, तस्मात् त्रिविधम् करणम् द्वारि, शेषाणि द्वाराणि (सन्ति)।

**अनुवाद–** क्योंकि (मन और अहंकार दोनों) अन्तःकरणों के साथ बुद्धि सभी विषयों को व्याप्त करती है, इसलिए तीन प्रकार का अन्तःकरण (मन, अहंकार और बुद्धि) प्रमुख (प्रधान) है (और) अन्य (इन्द्रियाँ आदि तो) द्वारभूत (गौण अप्रधान) (हैं)।

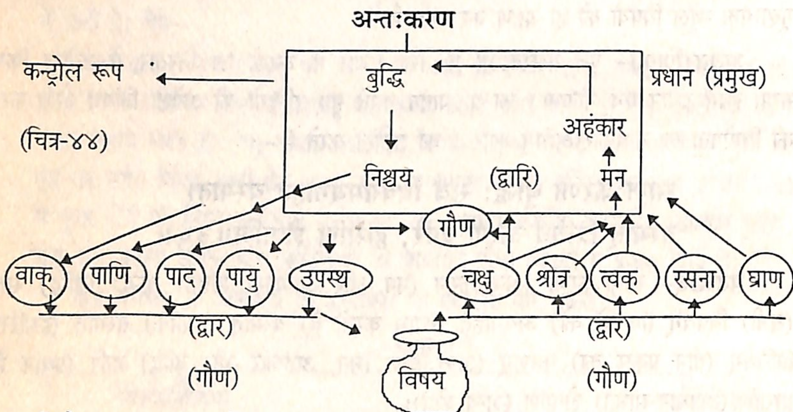
**व्याख्या–** सामान्यतया वस्तु का प्रत्यक्ष करने तथा उस विषय में निश्चय कर कार्य करने की प्रक्रिया इसप्रकार सम्पन्न होती है– 'चक्षु' आदि ज्ञानेन्द्रियाँ सर्वप्रथम विषय के सम्पर्क में आकर उसकी सूचना मन और अहंकार के माध्यम से बुद्धि तक पहुँचाती हैं। पुरुष के भोग एवं

अपवर्ग की सिद्धि के लिए बुद्धि प्राप्त सूचनाओं का उपयोग करती हुई कर्मेन्द्रियों को ग्रहण करने अथवा त्यागने का आदेश प्रदान करती है। अतः बुद्धि सहित अन्तःकरण की प्रमुखता इस प्रक्रिया में सिद्ध होती है।

इसप्रकार बाह्यकरण रूप इन्द्रियाँ किसी घर के द्वार के समान होती हैं, जिनके माध्यम से बाहर स्थित विषयों की सूचना अन्तःकरण (मन, अहंकार और बुद्धि) तक जाती है। अन्तःकरण घर के समान है, जिसमें सभी सूचनाएँ आकर इकट्ठा होती हैं। इसे दूसरे शब्दों में **कन्ट्रोल रूम** भी कहा जा सकता है।

जिसप्रकार घर और उसके द्वार में द्वार की अपेक्षा घर की प्रमुखता होती है। ठीक उसीप्रकार अन्तःकरण और बाह्यकरण रूप इन्द्रियों में अन्तःकरण की प्रमुखता होती है। अन्तःकरण के अन्तर्गत बुद्धि, अहंकार और मन ये तीन आते हैं। इसीलिए कारिकाकार ने इन तीनों को द्वारि अर्थात् प्रमुख कहा है। 'शेष' पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ रूप बाह्यकरण हैं, वे घर में द्वार के समान अपेक्षाकृत अप्रधान अर्थात् गौण होते हैं। अतः इन्द्रिय और अन्तःकरण में, इन्द्रियों का 'गौण' स्थान है तथा अन्तःकरण सहित बुद्धि का 'मुख्य' स्थान है।

कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं—



(चित्र-४४)

**विशेष–** १. कारिका में प्रयुक्त 'द्वारि' पद का भाष्यकारों ने अलग-अलग अर्थ किया है। जयमंगलाकार ने इसका 'कमरा' अर्थ किया है। परमार्थ ने इसे 'द्वार पर रहने वाले द्वारपाल' रूप अर्थ में प्रयुक्त माना है। हरदत्तशर्मा इसका प्रतिहारी अर्थ करते हैं। पं० सूर्यनारायण शास्त्री ने इसका अंग्रेजी अनुवाद में 'प्रिंसिपल' अर्थ किया है।

२. कारिका का उपमापरक अर्थ करने पर ही संगति बैठती है। अर्थात् अन्तःकरण द्वारि के समान तथा बाह्यकरण द्वार के समान हैं। अतः उपमालंकार का प्रयोग द्रष्टव्य है।

३. यों तो अन्तःकरण में भी बुद्धि की प्रमुखता आगे प्रतिपादित करेंगे, किन्तु यहाँ समग्ररूप से इन्द्रियों की तुलना में अन्तःकरण की प्रमुखता प्रतिपादित की गई है।

४. कारिका में 'सान्तःकरणा' के द्वारा, मन और अहंकार के सहयोग से ही बुद्धि किसी भी विषय के सम्बन्ध में 'अध्यवसाय' करती है, अकेले नहीं, इसका कथन किया गया है।

५. निर्णयात्मिका शक्ति अन्तःकरण की प्रधानता का प्रतिपादन अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है।

**अवतरणिका–** अन्तःकरण और बाह्यकरण में अन्तःकरण की प्रमुखता का प्रतिपादन करने के पश्चात् कारिकाकार त्रिविध अन्तःकरण-बुद्धि, अहंकार और मन में बुद्धि की प्रमुखता का प्रतिपादन करते हुए अगली कारिका का उल्लेख करते हैं–

**एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।**
**कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति॥ ३६॥**

**पदच्छेद–** एते (ये (मन, अहंकार और बाह्य इन्द्रियाँ) करण) प्रदीपकल्पाः (दीपक के समान हैं) परस्पर विलक्षणाः (एक दूसरे से विलक्षण) गुणविशेषाः (सत्त्व, रजस् और तमस्) गुणों के विकाररूप) कृत्स्नम् (सम्पूर्ण) पुरुषस्य (पुरुष के) अर्थम् (प्रयोजन को) प्रकाश्य (प्रकाशित करके) बुद्धौ (बुद्धि को) प्रयच्छन्ति (देते हैं)।

**अन्वय–** परस्पर विलक्षणाः गुणविशेषाः एते प्रदीपकल्पाः पुरुषस्य कृत्स्नम् अर्थम् प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति।

**अनुवाद–** एक दूसरे से विलक्षण, गुणों के विकार रूप, दीपक के समान ये करण पुरुष के सम्पूर्ण प्रयोजन को प्रकाशित करके बुद्धि को प्रदान करते हैं।

**व्याख्या–** प्रस्तुत कारिका में अन्तःकरण और बाह्यकरणों की दो विशेषताओं परस्पर विलक्षणाः और गुणविशेषाः का कथन करके उनके परस्पर सहयोग को दीपक के उदाहरण द्वारा समझाया गया है तथा कहा है कि इन करणों का प्रत्येक कार्य पुरुष के भोग एवं अपवर्ग को लक्ष्य करके बुद्धि के माध्यम से किया जाता है। अतः यहाँ बुद्धि की प्रधानता स्वतः सिद्ध होती है।

(क) **परस्परविलक्षणाः–** बुद्धि, मन और अहंकार यह त्रिविध अन्तःकरण एवं पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ यह बाह्यकरण ये सभी एक दूसरे से रूप, गुण एवं कार्य की दृष्टि से विलक्षणता लिए हुए हैं, क्योंकि ये सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों विरोधी स्वभाव वाले गुणों से निर्मित हैं। अतः ये करण भी स्वभाव से परस्पर विरोधी हैं, क्योंकि कारण में जो गुण विद्यमान रहते हैं वे गुण कार्य में होना अवश्यंभावी है। इनकी यह विलक्षणता त्रिविध गुणों की विलक्षणता के कारण उनके मात्रा में कम या अधिक होने से ही सम्पन्न होती है।

(ख) **गुण-विशेषाः–** यहाँ गुणों से तात्पर्य सत्त्व, रजस् और तमस् से है। ये करण गुणों के विशेष अर्थात् विकाररूप हैं। तीनों गुणों के परस्पर विरोधी स्वभाव वाले होने के कारण उनके विकार रूप करणों में भी यह वैशिष्ट्य आ जाता है। गुणों के विकार रूप ये सभी करण विरोधी

स्वभाव वाले होते हुए भी आपस में अत्यन्त सामञ्जस्य बनाकर अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। जिसे ग्रन्थकार ने दीपक के उदाहरण द्वारा प्रदर्शित किया है।

(ग) **प्रदीपकल्पा:–** जिसप्रकार तेल, बत्ती और अग्नि ये तीनों परस्पर विरोधी स्वभाव वाले हैं। अर्थात् आग, बत्ती को जला देती है, बत्ती, तेल को सोख लेती है और तेल अग्नि को बुझा देता है, किन्तु दीपक में ये तीनों मिलकर प्रकाश द्वारा अन्धकार को दूर करने का कार्य सम्पन्न करते हैं। ठीक उसीप्रकार परस्पर विरोधी तीनों गुणों से निर्मित ये करण पुरुष के भोग एवं अपवर्ग (मोक्ष) के लिए अपने-अपने विषयों को प्रकाशित करते हैं, अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते हैं।

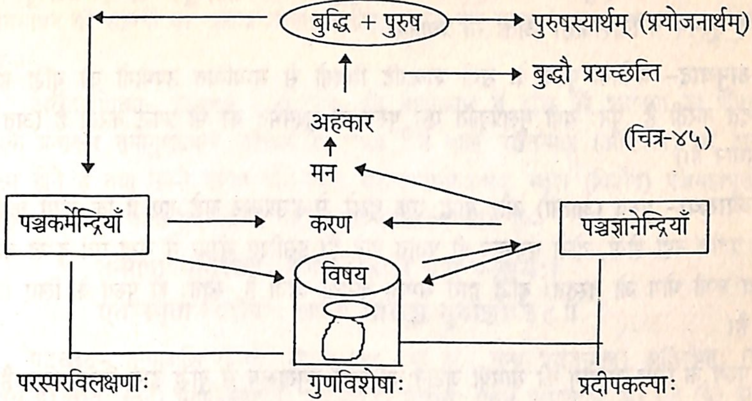
(घ) **कारिका के उत्तरार्द्ध** में दो बातों का कथन किया गया है (अ) सभी करणों का कार्य अपने-अपने विषय को प्रकाशित करके बुद्धि को अर्पित करना है (ब) बुद्धि सहित सभी करण एकमात्र पुरुष के भोग एवं मोक्ष के लिए ही कार्यरत रहते हैं।

इसप्रकार निश्चयात्मिका होने से बुद्धि अन्तःकरणों एवं बाह्यकरणों में सर्वोपरि है। सभी ज्ञान बुद्धि में आकर एकत्र हो जाते हैं तथा बुद्धि उनके विषय में निर्णयात्मक आदेश कर्मेन्द्रियों को प्रदान करती हैं। अतः अन्तःकरणों एवं बाह्यकरणों में बुद्धि का प्राधान्य सिद्ध होता है।

बुद्धि सहित सभी करणों के पुरुष के प्रयोजन के लिए किए जाने वाले आपसी तालमेल तथा कार्यपद्धति को एक अन्य उदाहरण द्वारा भी समझाया जा सकता है, जिसप्रकार एक पटवारी सामान्य जनता से कर (लगान) इक्ट्ठा करके तहसीलदार को जमा कराता है और तहसीलदार उस लगान की राशि को अपने अध्यक्ष कलेक्टर के पास ले जाता है तथा कलेक्टर उसे सरकारी खजाने में रखवा देता है। इसप्रकार पटवारी तहसीलदार, कलेक्टर आदि सभी सरकार के प्रयोजनार्थ अपने-अपने कार्यों को सम्पन्न करते हैं।

ठीक इसीप्रकार बाह्य इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) विषयों को पहले मन को सोंपती हैं। मन उनमें संकल्प विकल्प करके नाम-गुण-जाति आदि की योजना सहित, अहंकार को अर्पित करता है। अहंकार उस विषय के ज्ञान में अभिमानपूर्वक 'मेरा है', 'मेरा नहीं है' इस रूप में बुद्धि को अर्पित कर देता है। बुद्धि पुरुष के भोग-अपवर्ग आदि की दृष्टि से उसकी उपयोगिता अनुपयोगिता आदि का 'निश्चय' करके कर्मेन्द्रियों को कर्म का आदेश देती है। बुद्धि से अभिन्न होने के कारण पुरुष (जीवात्मा) उन्हें अपना मानता है।

इसप्रकार इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में पुरुष का प्रयोजन सर्वोपरि सिद्ध होता है तथा करणों में 'बुद्धि' की प्रधानता भी प्रतिपादित होती है, क्योंकि सभी ज्ञानेन्द्रियों, मन और अहंकार का लक्ष्य बुद्धि होता है अर्थात् बुद्धि उनकी अध्यक्षा है तथा कर्मेन्द्रियाँ भी बुद्धि के आदेश का पालन करने के कारण उसके अधीन हैं। इस सम्पूर्ण कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–




(चित्र-४५)

**विशेष–** १. करणों में 'बुद्धि' रूप अन्तःकरण का प्राधान्य (प्रमुखता) प्रतिपादित किया गया है।

२. सभी करणों के सम्पूर्ण कार्य पुरुष (आत्मा) को लक्ष्य करके उसके भोग एवं अपवर्ग की सिद्धि के लिए ही किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त उनका कोई प्रयोजन नहीं होता।

३. करणों का निर्माण सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीन विरोधी स्वभाव वाले गुणों के द्वारा होता है। अतः कारण के गुणों का कार्य में होना अत्यन्त स्वाभाविक है। इसी विरोधी स्वभाव एवं विलक्षणता का प्रतिपादन करने के लिए ही परस्पर विलक्षणाः एवं गुण विशेषाः विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

४. विरोधी स्वभाव वाले करणों के परस्पर तालमेल एवं सहयोग को दीपक का उदाहरण देकर अत्यन्त सरल एवं सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया गया है।

**अवतरणिका–** पुनः करणों की अपेक्षा 'बुद्धि' का प्राधान्य प्रतिपादित करते हुए ग्रन्थकार अग्रिम कारिका में दो तर्क प्रस्तुत करते हैं (क) बुद्धि अकेले ही पुरुष के सभी प्रकार के भोगों को सम्पादित करती है (ख) विवेक-ज्ञान की स्थिति में बुद्धि ही पुरुष एवं प्रकृति के भेद को, भिन्नता को प्रतिपादित करती है–

**सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।**
**सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्॥ ३७॥**

**पदच्छेद–** सर्वम् (सभी) प्रति (शब्द आदि विषयों के सम्बन्ध में) उपभोगम् (उपभोग को) यस्मात् (क्योंकि) पुरुषस्य (पुरुष के) साधयति (सम्पादित करती है) बुद्धिः (बुद्धि) सा (वह) एव (ही) च (और) विशिनष्टि (प्रकट करती है) पुनः (फिर से) प्रधानपुरुष-अन्तरम् (प्रधान (प्रकृति) एवं पुरुष के अन्तर (भेद) को) सूक्ष्मम् (सूक्ष्म को)

**अन्वय–** यस्मात् पुरुषस्य सर्वम् प्रति उपभोगम् बुद्धिः साधयति, पुनः सा एव प्रधानपुरुष-अन्तरम् सूक्ष्मम् च विशिनष्टि। (अतः सा प्रधानम्)

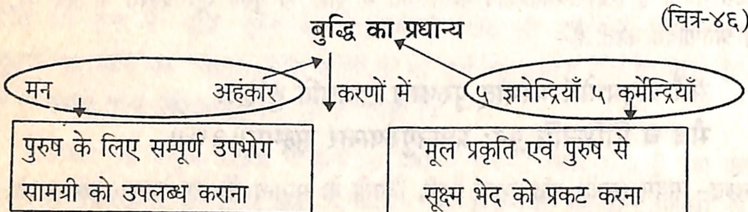
**अनुवाद–** क्योंकि पुरुष के सभी शब्दादि विषयों से सम्बन्धित उपभोगों को बुद्धि ही सम्पादित करती है, पुनः वही मूलप्रकृति एवं पुरुष के सूक्ष्मभेद को भी प्रकट करती है (अतः वही प्रधान है।)

**व्याख्या–** पुरुष (आत्मा) और बुद्धि एक दूसरे से इसप्रकार जुड़े हुए हैं कि उनमें कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, दोनों एकरूप ही प्रतीत होते हैं। इसलिए संसार में सुख एवं दुःख का अनुभव रूपी भोग जो वस्तुतः बुद्धि द्वारा सम्पन्न कराया जाता है, स्वतः ही पुरुष के लिए हो जाता है।

पुरुष के लिए उपभोग की सामग्री जुटाने का कार्य प्रमुखरूप से बुद्धि द्वारा किया जाता है। मन और अहंकाररूप अन्तःकरण तथा १० इन्द्रियाँ रूप बाह्यकरण इस विषय में बुद्धि को सहयोग प्रदान करते है। इसीलिए बुद्धि को करणरूपी राज्य की अध्यक्षा भी कहा गया है। दूसरे शब्दों में यदि करण आदि की स्थिति गाँव के पटवारी या तहसीलदार के समान मानी जाए तो बुद्धि को कलेक्टर के समकक्ष माना जा सकता है, जो पुरुषरूप सरकार के लिए सभी कार्यों का सम्पादन करता है। इस दृष्टि से मन, अहंकार आदि करणों में बुद्धि की प्रधानता सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त ज्ञान-प्राप्ति की स्थिति में यह बुद्धि ही मूलप्रकृति एवं पुरुष के भेद को, जो अत्यन्त सूक्ष्म होता है, प्रकट करती है, मन अथवा अहंकार आदि नहीं। अतः इस दृष्टि से भी बुद्धि बाह्य एवं अन्तःकरणों में प्रमुख है। सांख्य के अनुसार– दुःख की हमेशा के लिए निवृत्ति (आत्यन्तिक) ही मोक्ष अथवा कैवल्य है। जो व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) को जानने से होता है। अतः इस ज्ञान की प्रक्रिया में बुद्धि ही पुरुष में इस ज्ञान को उत्पन्न करती है कि वह स्वयं को मूलप्रकृति से अलग अनुभव करता है तथा सम्पूर्ण संसार को प्रकृति के विकाररूप में देखता है। इस सूक्ष्म अन्तर को बताने, अभिव्यक्त करने में सभी तेरह करणों में से बुद्धि ही प्रमुख भूमिका निर्वाह करने के कारण मुख्य है।

(चित्र-४६)




**विशेष–** १. माठर वृत्तिकार ने कारिका में प्रयुक्त 'पुनः' पद के स्थान पर 'ततः' पाठ माना है, जिससे पुरुष एवं प्रकृति के भेद के प्रकाशन से पूर्व बुद्धि द्वारा प्रतिपादित की जाने वाली उपभोग की अनिवार्यता का कथन होता है।

२. बुद्धि की प्रधानता के प्रतिपादन में दो तर्क दिये गए हैं– प्रथम, बुद्धि द्वारा पुरुष के भोगसाधन की सामग्री का जुटाया जाना। द्वितीय, प्रकृति एवं पुरुष के सूक्ष्म अन्तर का प्रतिपादन करना।

**अवतरणिका–** इसप्रकार अन्तःकरण और बाह्यकरण में बुद्धि की प्रधानता का प्रतिपादन करके ग्रन्थकार तमोगुणप्रधान अहंकार से उत्पन्न होने वाले पञ्चतन्मात्र (अविशेष) जो अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं तथा उनसे उत्पन्न होने वाले सुखदुःखमोहात्मक स्थूल (विशेष) पञ्चमहाभूतों के स्वरूप का कथन करते हुए अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**तन्मात्राण्यविशेषाः तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।**
**एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च॥३८॥**

**पदच्छेद–** तन्मात्राणि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पञ्चतन्मात्र) अविशेषाः (सूक्ष्म विषय हैं) तेभ्यः (उन) भूतानिमहाभूत) पञ्च (पाँच) पञ्चभ्यः (पाँच तन्मात्राओं से) एते (ये) स्मृताः (कहे गए हैं) विशेषाः (स्थूल) शान्ताः (सुखात्मक) घोराः (दुःखात्मक) च (और) मूढाः (मोहात्मक) च (और)

**अन्वय–** तन्मात्राणि अविशेषाः तेभ्यः पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि (जायन्ते) पञ्चमहाभूतपदवाच्या) एते विशेषाः शान्ताः घोराः च मूढाः च स्मृताः।

**अनुवाद–** पञ्चतन्मात्र (शब्द,स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) सूक्ष्म विषय हैं। उन पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी उत्पन्न होते हैं)। (पञ्चमहाभूत पद के द्वारा कहे जाने वाले) ये स्थूल (विशेष) तथा सुखात्मक, दुःखात्मक एवं मोहात्मक कहे गए हैं।

**व्याख्या–** कारिका में दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं– विशेष एवं अविशेष। विशेष का अभिप्राय है– स्थूल अर्थात् इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किए जाने योग्य। जैसे– पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये स्थूल होने से विशेष हैं। इनका हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं। अविशेष का अर्थ है– सूक्ष्म, अर्थात्, इन्द्रियों द्वारा इनका प्रत्यक्ष नहीं किया जाता। जैसे– शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पञ्चतन्मात्राएँ ही सूक्ष्म होने के कारण अविशेष हैं।

सांख्य के अनुसार तमोप्रधान अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म होने के कारण कारिकाकार ने इन्हें अविशेष (तन्मात्राणि अविशेषाः) पद से अभिहित किया है। अत्यधिक सूक्ष्म होने के कारण ही इन्हें 'तन्मात्र' कहा जाता है। इन पञ्चतन्मात्राओं से ही आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी इन पाँच स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति होती है। स्थूल होने के कारण इन्हें कारिकाकार ने 'विशेष' पद से अभिहित किया है।

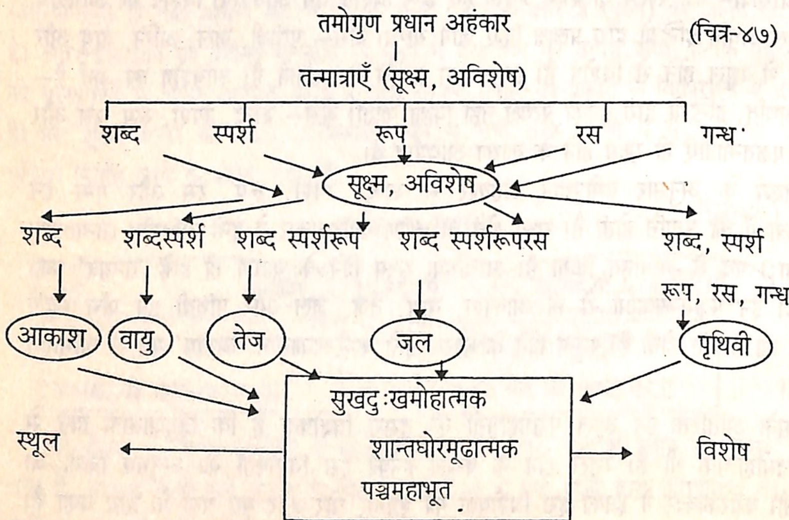
इसके अतिरिक्त इन स्थूल पञ्चमहाभूतों की दूसरी विशेषता है कि त्रिगुणात्मक होने से सुखदुःखमोहात्मक भी हैं। स्थूल होने के कारण इनकी इस विशेषता का अनुभव किया जा सकता है। कारिकाकार ने इनकी इस विशेषता को शान्त, घोर और मूढ पदों के द्वारा कहा है। जो क्रमशः सुख, दुःख और मोह के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

इस प्रसङ्ग में एक शङ्का की जा सकती है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार और अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ इस सृष्टिक्रम में, 'कारण के गुण कार्य में विद्यमान रहते हैं' इस सिद्धान्त के अनुसार महत् और अहंकार दोनों का त्रिगुणात्मक होना सिद्ध होता है। फिर त्रिगुणात्मक अहंकार से उत्पन्न पञ्चतन्मात्राएँ भी त्रिगुणात्मक होनी चाहिएँ, किन्तु कारिका में स्थूल (विशेष) महाभूतों को ही गुणधर्म से युक्त शान्त, घोर और मूढ बताया गया है। तन्मात्राओं में इनके अस्तित्व का कथन नहीं किया है, ऐसा क्यों?

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि यद्यपि पञ्चतन्मात्राएँ त्रिगुणात्मक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण तीनों गुणों सत्त्व, रजस् और तमस् से युक्त होती हैं। अतः उनमें सुख दुःख मोहात्मकता का होना भी स्वाभाविक है, क्योंकि ये तो गुणों के धर्म ही हैं, किन्तु तन्मात्राओं के अत्यधिक सूक्ष्म होने के कारण इनके ये सुख दुःखात्मक धर्म अनुभव के योग्य नहीं है। इसीलिए उनका तन्मात्राओं के साथ कथन नहीं किया गया है। इसीकारण कारिकाकार इसे ने 'अविशेष' पद से अभिहित किया है।

इन स्थूल महाभूतों में से जिनमें सत्त्व गुण की प्रधानता होती है, वे शान्त अर्थात् सुख प्रदान करने वाले, प्रसन्नता देने वाले तथा हल्के होते हैं। जैसे– आकाश आदि। इसके विपरीत रजोगुण की प्रधानता वाले महाभूत घोर अर्थात् दुःख, कष्ट प्रदान करने वाले, अस्थिर चंचल होते हैं। जैसे– वायु आदि एवम् तमोगुण की प्रधानता से युक्त महाभूत मूढ़ अर्थात् मोहात्मक और भारी होते हैं। आपस में एक दूसरे से अलग होने के कारण ही इन्हें विशेष एवं इनके भेद को अनुभव द्वारा ग्रहण कर पाने के कारण ये स्थूल भी हैं।

कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–



**विशेष–** १. कुछ विद्वानों के मत में तन्मात्राओं के उत्तरोत्तरयोग के द्वारा क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है जिसे चित्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

२. कारिकाकार ने सूक्ष्मतन्मात्राओं के लिए 'अविशेष' तथा स्थूल महाभूतों के लिए 'विशेष' पद का प्रयोग किया है। सुख दुःखात्मकता के अनुभव की प्रतीति ही इस भेद का प्रमुख आधार है।

३. आचार्य गौडपाद एवं माठर तन्मात्राओं को केवल सुखात्मक स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार– इनका अनुभव केवल देवताओं को होता है। जो सिद्धान्ततः उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सांख्य इनमें रजस् और तमस् की स्थिति को स्वीकार करता है। अतः इनकी उपस्थिति होने पर दुःख और मोह का अभाव किसप्रकार सम्भव है।

४. आचार्य वाचस्पति मिश्र के अनुसार, क्योंकि इनमें उपभोग के योग्य शान्त, घोर एवं मूढता धर्मों का अस्तित्व नहीं होता, इसीकारण इन्हें 'अविशेष' तथा 'मात्र' शब्द के द्वारा कहा जाता है।

५. पञ्चतन्मात्राओं के उत्तरोत्तरयोग से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति की पुष्टि उन-उनके इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार से भी होती है, क्योंकि आकाश का श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा, वायु का श्रोत्र एवं त्वक् द्वारा, अग्नि का श्रोत्र, त्वक् एवं चक्षु द्वारा, जल का श्रोत्र, त्वक्, चक्षु एवं रसना द्वारा पृथिवीरूप महाभूत का पाँचों ज्ञानेन्द्रियों श्रोत्र, त्वक् चक्षु रसना और घ्राण द्वारा साक्षात्कार किया जाता है।

**अवतरणिका–** इसप्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म विषयों के स्वरूप एवं संख्या का उल्लेख करने के बाद स्थूल विषयों के अवान्तर भेदों का निरूपण करने के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।**
**सूक्ष्मास्तेषां नियता, मातापितृजा निवर्तन्ते॥ ३९॥**

**पदच्छेद–** सूक्ष्माः (सूक्ष्मशरीर) माता पितृजाः (माता पिता से उत्पन्न) सह (साथ) प्रभूतैः (महाभूतों के) त्रिधा (तीन प्रकार के) विशेषाः (स्थूल) स्युः (होते हैं) सूक्ष्माः (सूक्ष्मशरीर) तेषाम् (उनमें) नियताः (नियत, मोक्ष पर्यन्त रहने वाले) मातापितृजाः (माता पिता से उत्पन्न) निवर्तन्ते (विनष्ट होते रहते हैं)।

**अन्वय–** सूक्ष्माः मातापितृजाः प्रभूतैः सह विशेषाः त्रिधा स्युः। तेषाम् सूक्ष्माः नियताः मातापितृजा निवर्तन्ते।

**अनुवाद–** सूक्ष्मशरीर, माता पिता से उत्पन्न (स्थूलशरीर), महाभूतों के साथ तीन प्रकार के स्थूल (विशेष) होते हैं। उनमें सूक्ष्मशरीर नियत (मोक्ष पर्यन्त रहने वाले होते हैं) माता पिता से उत्पन्न (स्थूलशरीर) विनष्ट होते रहते हैं।

**व्याख्या–** पञ्चतन्मात्राओं से सुखदुःखमोहात्मक स्थूल पञ्चमहाभूतों अर्थात् विशेष की उत्पत्ति का कथन पूर्व कारिका में करने के बाद ग्रन्थकार ने इस कारिका में उन विशेष (स्थूलशरीर) के तीन अवान्तर भेदों का उल्लेख किया है। इन तीन प्रकार की विशेष वस्तुओं के

माध्यम से ही पुरुष का भोग एवं मोक्ष सम्पादित होता है। इनमें से प्रथम– अट्ठारह तत्त्वों से निर्मित सूक्ष्मशरीर केवल तन्मात्ररूप में स्थित रहता है। इसका केवल अनुमानप्रमाण से प्रत्यक्ष किया जा सकता है। द्वितीय– विशेष माता-पिता से उत्पन्न होने वाला, नेत्रादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला, स्थूलशरीर होता है। तृतीय– विशेष, आकाश वायु, तेज, जल और पृथिवी ये पञ्चमहाभूत हैं। इनका भी इन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्ष होता है। कारिका के पूर्वार्द्ध में इन तीनों विशेषों का ही उल्लेख किया गया है। अब हम इनका क्रमशः विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं–

(क) **सूक्ष्मशरीर–** मूलप्रकृति से उत्पन्न महत् (बुद्धि), अहंकार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्राएँ इन सब अट्ठारह तत्त्वों के सूक्ष्म अंशों से इसका निर्माण होता है। इस 'लिङ्गशरीर' भी कहा गया है। सृष्टि के आरम्भ से लेकर प्रलयकाल तक इसकी स्थिति बनी रहती। प्रलयकाल में जब पुरुष और प्रकृति ये दो नित्यतत्त्व रहते हैं तब यह अपने कारण मूलप्रकृति में प्रविष्ट हो जाता है।

सूक्ष्मशरीर की सर्वत्र गति होती है। आकाश, वायु, जल, अग्नि, पृथिवी आदि सभी स्थानों पर सूक्ष्मशरीर प्रविष्ट हो सकता है। इसका आश्रय माता-पिता के रज और वीर्य से निर्मित स्थूलशरीर होता है। इसके माध्यन से ही यह सूक्ष्मशरीर सारे भोगों को भोगता है। यह सूक्ष्मशरीर मरने के बाद स्थूलशरीर का परित्याग करके नये स्थूलशरीर को धारण करता है। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति प्रत्येक पुरुष के लिए एक-एक सूक्ष्मशरीर का निर्माण कर देती है। इसी के सहारे पुरुष का अनेक प्रकार के लोकों में भ्रमण सम्भव होता है। विवेकज्ञान होने पर इसकी स्थिति भुने हुए बीज के समान होती है जो नये पौधे रूपी स्थूलशरीर को फिर से उत्पन्न करने में सक्षम नहीं होता है। इसकी विस्तृत व्याख्या अग्रिम कारिका में की गई है।

(ख) **स्थूलशरीर–** माता-पिता के रज एवं वीर्य के द्वारा निर्मित शरीर ही स्थूलशरीर कहलाता है। इसमें छः कोष होते हैं। इसीलिए इसे षाट्कौशिक भी कहा जाता है। इन छः कोषों में– त्वचा, रक्त और मांस ये तीन माता के रज द्वारा निर्मित होते हैं तथा– स्नायु, हड्डी और मज्जा ये तीन पिता के वीर्य द्वारा बनते हैं। इस शरीर का हम नेत्रेन्द्रिय आदि द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

इस प्रसङ्ग में एक शङ्का की जा सकती है कि रज और वीर्य के द्वारा इसप्रकार के स्थूलशरीर का किसप्रकार निर्माण होता है? इसका उत्तर है कि रज और वीर्य स्त्री तथा पुरुष के शरीर के सार रूप हैं तथा इनमें ये सूक्ष्मरूप से स्थित होते हैं। इसलिए इनमें स्थूलशरीर के सभी अवयवों को उत्पन्न करने की क्षमता होती है।

(ग) **पञ्चमहाभूत–** कारिका के द्वितीय चरण में प्रयुक्त 'प्रभूत' शब्द से अभिप्राय 'महाभूत' से है तथा बहुवचन में (प्रभूतैः) प्रयुक्त होने के कारण पञ्चमहाभूतों एवं इनसे निर्मित वृक्षादि सभी पदार्थों का भी यहाँ ग्रहण हो जाता है। प्रभूतैः की व्युत्पत्ति इसप्रकार की जा सकती है– 'प्रकृष्टानि महान्ति भूतानि इति प्रभूतानि, तैः प्रभूतैः महाभूतैः, इत्यर्थः'।

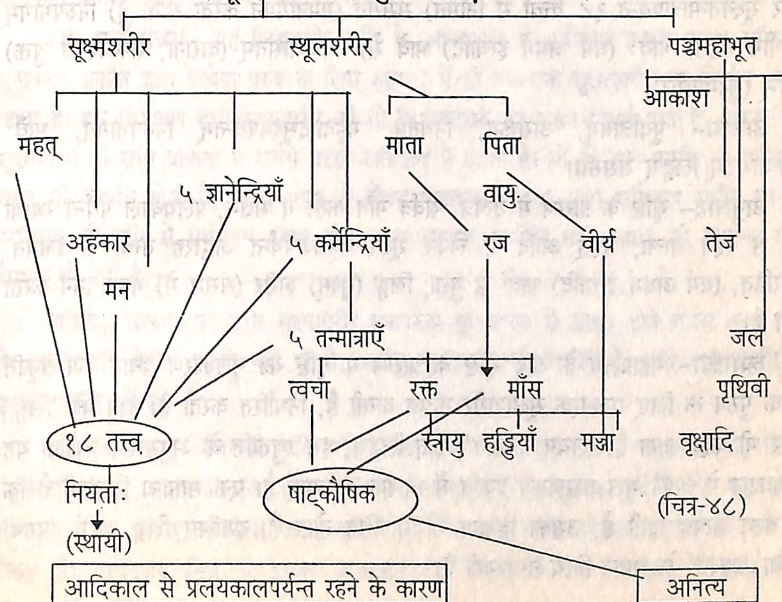
उक्त तीनों अनुभव किये जाने योग्य सुखदुःखमोह रूप धर्म से युक्त होते हैं। अतः इन्हें विशेष कहा गया है।

पुनः कारिका के उत्तरार्द्ध में इन तीनों की नित्यता अनित्यता का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार ने लिङ्गरूप सूक्ष्मशरीर को नित्य माना है— (सूक्ष्माः तेषां नियताः) क्योंकि सूक्ष्मशरीर सृष्टि के आरम्भ से लेकर प्रलयकाल नक स्थित रहता है। केवल ज्ञानप्राप्ति की स्थिति में वह अपने-अपने कारणों में प्रविष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से इसे नित्य माना गया है। अतः यह नित्यता काल सापेक्ष एवं स्थिति (ज्ञानमयस्थिति) सापेक्ष होती है। यह नित्यता पुरुष एवं प्रकृति की नित्यता से सर्वथा भिन्न होती है, क्योंकि प्रलयकाल में सूक्ष्मशरीर भी अपने कारण में समाहित हो जाता है, पुरुष और प्रकृति केवल दो तत्त्व ही बचते हैं। अतः पुरुष एवं प्रकृति के समान सूक्ष्मशरीर नित्य नहीं है, अपितु जन्म जन्मान्तर तक इनकी स्थिति बनी रहती है। इसीलिए इसे नित्य कहा गया है।

इसके ठीक विपरीत माता-पिता के रज एवं वीर्य से उत्पन्न स्थूलशरीर अनित्य होते हैं अर्थात् उत्पन्न होते रहते हैं और नष्ट होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में जन्म लेते रहते हैं, मरते रहते हैं। इनकी निवृत्ति अनेक प्रकार देखी जा सकती है। जैसे— व्यक्ति को मरने के बाद जमीन में गड्ढा खोदकर गाड़ दिया जाता है। जहाँ वह सड़गल कर पृथिवीभाव को प्राप्त कर लेता है।

अथवा मरने के बाद इस स्थूलशरीर को जला दिया जाता है जिससे वह राख रूप में परिणत होकर पञ्चतत्त्वों में विलीन हो जाता है अथवा इस शरीर को जंगल में यों ही खुले में डाल दिया जाता है या फिर पानी में बहा दिया जाता है। दोनों ही स्थितियों में पशु (गीदड़ आदि) पक्षी (चील, गिद्ध आदि) अथवा जल में विचरण करने वाले जीव (मगरमच्छ, मछली आदि) उसे खा लेते हैं और विष्ठा के रूप में परिवर्तित होकर यह स्थूल मृतशरीर अपने-अपने कारण पञ्चमहाभूतों में मिल जाता है। इसलिए इसकी अनित्यता सिद्ध है।

**(स्थूल) विशेष (अनुभव किए जाने योग्य)**



(चित्र-४८)

**विशेष–** १. १८ तत्त्वों से निर्मित 'सूक्ष्मशरीर' सांख्य का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। मरने के बाद पुरुषरूप आत्मा सूक्ष्मशरीर के साथ ही दूसरे शरीर को धारण करती है। प्रत्येक जन्म में किए गए कर्मों के संस्कार सूक्ष्मशरीर के साथ रहते हैं। जिन्हें व्यक्ति अग्रिम जन्म में किसी भी प्राणी के शरीर को धारण करके भोगता है। यही चक्र चलता रहता है।

२. सूक्ष्मशरीर की गणना 'विशेष' (स्थूल) पदार्थों में इस दृष्टि से की है कि मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ शान्तत्व, घोरत्व एवं मूढत्व विशेषताओं से युक्त होती हैं। इसका अनुमानप्रमाण के द्वारा हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इसी लिङ्गशरीर के माध्यम से स्थूलशरीर सांसारिक भोगों को भोगता है।

३. प्रस्तुत कारिका में विशेष (स्थूल) के तीन प्रकारों– सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर एवं पञ्चमहाभूत का विवेचन किया गया है।

४. सूक्ष्मशरीर को सृष्टि से लेकर प्रलयपर्यन्त रहने के कारण 'नित्य' बताया गया है।

**अवतरणिका–** विशेष के तीन प्रकारों (सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर, महाभूत) का उल्लेख करने के बाद प्रथम सूक्ष्मशरीर की विशेषताओं का विस्तार से उल्लेख करने के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।**
**संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥४०॥**

**पदच्छेद–** पूर्वोत्पन्नम् (पूर्व में (सृष्टि के प्रारम्भ में) उत्पन्न) असक्तम् (अव्याहत गति से युक्त) नियतम् (प्रलयकालपर्यन्त एक ही रहने वाला) महत्- आदि सूक्ष्म पर्यन्तम् (महत् आदि से लेकर सूक्ष्मतन्मात्रापर्यन्त १८ तत्त्वों से निर्मित) संसरति (गमनागमन करता रहता है) निरुपभोगम् (उपभोग रहित) भावैः (धर्म अधर्म इत्यादि) भावें से) अधिवासितम् (वासना, संस्कार से युक्त) लिङ्गम् (सूक्ष्मशरीर)।

**अन्वय–** पूर्वोत्पन्नम्, असक्तम्, नियतम्, महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् निरुपभोगम्, भावैः अधिवासितम् लिङ्गम् संसरति।

**अनुवाद–** सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न, सर्वत्र गति करने में सक्षम, प्रलयकाल पर्यन्त स्थायी रूप से रहने वाला, महत् आदि से लेकर सूक्ष्म तन्मात्रापर्यन्त अट्ठारह तत्त्वों से निर्मित, भोगरहित, (धर्म अधर्म इत्यादि) भावों से युक्त, लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर (संसार में) गमनागमन करता रहता है।

**व्याख्या–** महाप्रलय के बाद सृष्टि के प्रारम्भ में सृष्टि का मूलकारण प्रधान रूप प्रकृति प्रत्येक पुरुष के लिए एक-एक सूक्ष्मशरीर उत्पन्न करती है, निर्धारित करती है। इसी को 'लिङ्ग' शरीर भी कहा जाता है। 'लयम् गच्छति', इति लिङ्गम्, इस व्युत्पत्ति के अनुसार– क्योंकि यह प्रलयकाल में अपने मूल कारणरूप प्रकृति में विलीन हो जाता है। एक सामान्य सिद्धान्त है कि जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका विनाश भी सुनिश्चित होता है। इसलिए लिङ्ग शरीर 'पुरुष' अथवा 'प्रकृति' के समान नित्य तत्त्व नहीं है।

'लिङ्ग शरीर' में कुल मिलाकर अट्ठारह तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में विराजमान होते हैं। इसीलिए इसे सूक्ष्मशरीर भी कहा जाता है। वे १८ तत्त्व इसप्रकार हैं— १. महत् २. अहंकार ३. मन ४. पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ५. पाँच कर्मेन्द्रियाँ ६. पाँच तन्मात्राएँ। यह इतना सूक्ष्म होता है कि शिला में भी प्रवेश कर सकता है। कहीं भी जा सकता है। इसके लिए कोई भी स्थान अगम्य नहीं है।

सूक्ष्मशरीर का आश्रय, आधार षट् (छः) कोषों से निर्मित स्थूलशरीर होता है। विभिन्न सांसारिक उपभोगों का अनुभव सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर के माध्यम से ही करता है, क्योंकि यह, स्थूलशरीर के बिना उपभोग में सक्षम नहीं होता है। स्थूलशरीर पाप-पुण्य, धर्म-अधर्मादि जो भी कार्य सम्पन्न करता है, बुद्धि के माध्यम से सूक्ष्मशरीर उन संस्कारों से 'वासित' (युक्त) होता रहता है।

इन्हीं संस्कारों के कारण ही यह जन्ममरण के चक्कर में पड़ता है। सूक्ष्मशरीर अपने कारण प्रधानरूप प्रकृति की सत्ता का सूचक होने के साथ-साथ पुरुष (ज्ञ) की सत्ता का भी सूचक है, क्योंकि स्थूलशरीर के माध्यम से समस्त उपभोग इसके द्वारा पुरुष के लिए ही सम्पन्न किए जाते हैं। पुरुष के बिना इसमें चैतन्य सम्भव नहीं है। अतः इसके साथ पुरुष का अस्तित्व अनिवार्य है। पुरुष की सत्ता का सूचक (लिङ्ग) होने की दृष्टि से भी इसे 'लिङ्गशरीर' कहा जा सकता है। अतः एक शरीर से दूसरे शरीर में 'सूक्ष्मशरीर' पुरुष के साथ ही लोक-परलोक में संचरण करता है।

इसी सूक्ष्मशरीर की छः विशेषताओं का कथन ग्रन्थकार ने प्रस्तुत कारिका में किया है। अब हम उनका क्रमशः विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

(क) **पूर्वोत्पन्नम्**— यह लिङ्गशरीर सृष्टि के आदिकाल में सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। सृष्टि के मूलकरण प्रकृति द्वारा प्रत्येक पुरुष के लिए आरम्भ में ही एक-एक सूक्ष्मशरीर का निर्माण किया जाता है। इस विशेषण द्वारा सूक्ष्मशरीर की दो विशेषताओं का कथन किया गया है, प्रथम, यह सूक्ष्मशरीर ही सृष्टि प्रक्रिया में सबसे पहले अस्तित्व में आता है। यों तो मूल प्रकृति से सर्वप्रथम महत् की उत्पत्ति होती है, किन्तु महत् से लेकर पञ्चतन्मात्रापर्यन्त सूक्ष्म सृष्टिरूप शरीर स्वतन्त्र अस्तित्व की दृष्टि से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ माना जाएगा, क्योंकि महत् आदि की स्वतन्त्र सत्ता सम्भव ही नहीं है।

द्वितीय, 'उत्पन्न' पद द्वारा सूक्ष्मशरीर प्रधानरूप मूलकारण से उत्पन्न होने वाला कहा गया है। अर्थात् यह केवल प्रकृति नहीं ही है, अपितु मूलप्रकृति की विकृति है। अतः मूलप्रकृति से इसका अन्तर भी है।

(ख) **असक्तम्**— जिसकी गति बाधित हो, रुक जाए वह 'सक्त' कहलाता है, किन्तु 'सूक्ष्मशरीर' को अबाधगतिवाला होने से 'असक्त' कहा गया है। इसका अर्थ है कि यह सर्वत्र गति वाला है अर्थात् आकाश, जल, पृथिवी, अग्नि, वायु सर्वत्र लोक-लोकान्तर में जाने में समर्थ है। वाचसपति मिश्र से इसका अव्याहत अर्थ किया है तथा व्याख्या में कहा है—

''शिलायामप्यनुविशति'' अर्थात् यह सूक्ष्मशरीर शिला में भी प्रविष्ट हो सकता है। अतः अव्याहत गति वाला है।

(ग) **नियतम्–** सूक्ष्मशरीर की दूसरी विशेषता है कि इसका अस्तित्व सृष्टि के आरम्भ से लेकर महाप्रलयपर्यन्त बना रहता है, नियत है। इसका यहाँ नित्य अर्थ करना उचित नहीं है, क्योंकि सांख्य में 'पुरुष' और प्रकृति केवल दो तत्त्व ही नित्य माने गए हैं। यहाँ नियत पद का अभिप्राय अन्य सांसारिक तत्त्वों की अपेक्षा सर्वाधिक समय तक स्थायी रहने से है, क्योंकि सूक्ष्मशरीर एक बार उत्पन्न होने के बाद जन्मजन्मान्तर तक जब तक इसके कर्मों का भोग पूर्ण नहीं हो जाए, लोकलोकान्तर में अनेक योनियों में विचरण करता रहता है।

इसके अस्तित्वहीन होने की केवल दो ही स्थितियाँ हैं– पहली, महाप्रलय का होना, उस स्थिति में यह अपने कारण मूलप्रकृति में विलीन हो जाता है। दूसरी, तत्त्वज्ञान होने पर स्थूलशरीर द्वारा अपने पूर्व में किए गए कर्मों को भोगने पर तथा शरीरपात (मरना) के अनन्तर यह अपने मूलकारण प्रकृति में मिल जाता है तथा इसके साथ स्थित पुरुषरूप 'आत्मतत्त्व' का बृहत्पुरुष (विराट पुरुष) में विलय हो जाता है। यही मोक्ष की स्थिति अर्थात् दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति भी है।

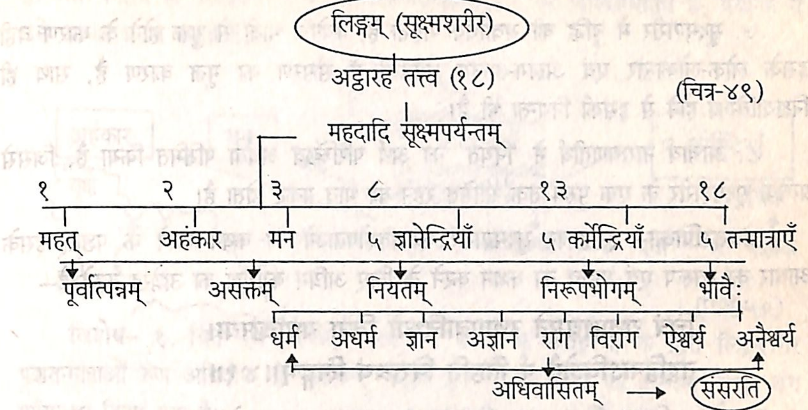
(घ) **निरुपभोगम्–** यह सांसारिक विषयों का भोग स्थूलशरीर के माध्यम से करता है, क्योंकि सूक्ष्मशरीर साक्षात् रूप से उनका भोग करने में समर्थ नहीं होता। इसीलिए इसे निरुपभोग अर्थात् भोगरहित कहा है। कहने का तात्पर्य है कि सूक्ष्मशरीर छः कोशों वाले स्थूलशरीर के द्वारा ही संसार के विषयों का उपभोग करता है। एक शरीर का परित्याग करने के बाद जब तक इसे दूसरा षाट्कौशिक स्थूलशरीर प्राप्त नहीं होता, तब तक यह बिना भोग किये ही तीनों लोकों में इधर उधर भटकता रहता है।

(ङ) **महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्–** इस पद के द्वारा सूक्ष्मशरीर में स्थित तत्त्वों का कथन किया गया है, अर्थात् इसमें महत् (बुद्धि) से लेकर सूक्ष्मपञ्चतन्मात्राओं तक कुल मिलाकर अट्ठारहतत्त्व रहते हैं– (महत्, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राएँ)। ये सभी अपने सूक्ष्मरूप में ही रहते हैं। इसी कारण स्थूल इन्द्रियों द्वारा इसका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

(च) **भावैः अधिवासितम्–** यहाँ भाव से अभिप्राय–धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, विराग-राग तथा ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, बुद्धि के आठ धर्मों से है, क्योंकि सूक्ष्मशरीर में बुद्धि भी एक तत्त्व के रूप में रहती है। इसलिए उसके धर्मों का सूक्ष्मशरीर में होना अत्यन्त स्वाभाविक है। अतः यह सूक्ष्मशरीर इन आठ भावों के द्वारा ठीक उसीप्रकार सुवासित, अधिवासित रहता है। जैसे– यदि सुगन्धित चम्पा के पुष्प को वस्त्र में लपेट दें तो वस्त्र भी उसकी गन्ध से सुवासित हो जाता है। यही सूक्ष्मशरीर का धर्म-अधर्म आदि भावों से अधिवासित होना कहा गया है।

वस्तुतः ये भाव ही सूक्ष्मशरीर के लोकपरलोक में विचरण करने जन्मादि ग्रहण करने के प्रमुख आधार हैं। यहाँ 'वास' भावों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप का कथन करने तथा उससे पूर्व 'अधि' उपसर्ग का प्रयोग आधाराभिव्यक्ति के लिए हुआ है। अतः उक्त विशेषणों से युक्त

सूक्ष्मशरीर का जन्म-जन्मान्तरणों तक संसरण का कारण एक मात्र ये भाव हैं, इसी को कहने के लिए कारिकाकार ने कहा— 'भावैरधिवासितम् लिङ्गम् संसरति'।




**विशेष–** १. सूक्ष्मशरीर को 'लिङ्ग' दो दृष्टियों से कहा गया है। प्रथम, लयम् गच्छति, इति, प्रलयकाल में अपने कारणरूप प्रकृति में विलीन होने के कारण लिङ्ग शरीर कहलाता है। द्वितीय— लिङ्ग शरीर की उत्पत्ति अचेतन प्रकृति से होने के कारण इसका भी अचेतन होना सिद्ध होता है, किन्तु सर्वत्र संचरण आदि के कारण इसमें चेतनता की स्थिति पुरुष की सत्ता को सिद्ध करती है। इसलिए पुरुष की सत्ता का द्योतक होने से 'लिङ्गम्' (लिङ्ग) कहा जाता है, 'लिंग्यते अनेन इति लिङ्गम्' अथवा 'लीनं गमयति इति लिङ्गम्'। इसीप्रकार यह प्रधान का ज्ञापक अथवा अनुमापक हेतु होने से भी 'लिङ्ग' कहलाता है।

२. 'लिङ्गम्' पद में एक वचन के प्रयोग के आधार पर कुछ टीकाकार सृष्टि के प्रारम्भ में समष्टिरूप में एक ही 'लिङ्ग शरीर' की सत्ता को स्वीकार करते हैं। (तच्च स्वर्गादौ समष्टिरूपमेकमेव भवति, इत्यर्थः (सां० सू० ३/९) बाद में व्यक्ति भेद एवं कर्मविशेष के आधार पर व्यष्टिरूप में अलग-अलग सूक्ष्मशरीरों की स्थिति बनती है।

३. विज्ञानभिक्षु सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ नामक एक ही सूक्ष्मशरीर की सत्ता को मानते हैं, जो बाद में व्यक्ति भेद से अनेक हो जाता है।

४. क्योंकि सांख्य पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार करता है, इसलिए व्यष्टिरूप में प्रत्येक पुरुष के लिए एक-एक सूक्ष्मशरीर का होना स्वाभाविक भी है।

५. कुछ स्थानों पर 'अशक्त' पाठभेद भी मिलता है, जो अर्थ की दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'नास्ति शक्तं समर्थम्' इस व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ प्रासंगिक नहीं है।

६. विवेकज्ञान होने की स्थिति में सूक्ष्मशरीर एवं स्थूलशरीर की प्रवृत्ति पर भी विद्वानों ने विचार किया है। उनके अनुसार— 'विवेकज्ञान होने पर सूक्ष्मशरीर की स्थिति तो बनी रहती है, किन्तु स्थूलशरीर के माध्यम से इसकी उपभोग की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है। जिसप्रकार भूना हुआ बीज पौधे को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। ठीक उसीप्रकार विवेक ज्ञान के पश्चात्

सूक्ष्मशरीर नये स्थूलशरीर के रूप में फिर से उत्पन्न होने योग्य नहीं रहता, विवेकज्ञानी का स्थूलशरीर केवल संस्कारों के प्रभाव से अपने दैनिक क्रियाकलाप करता है एवं अपने पूर्वभोगों की समाप्ति तक स्थित रहता है।

७. सूक्ष्मशरीर में बुद्धि की सर्वाधिक महत्ता है, क्योंकि भावों से युक्त होने के कारण वही इसके लोक-लोकान्तर एवं अलग-अलग योनियों में संसरण का मूल कारण है, साथ ही निश्चयात्मिका होने से इसकी नियन्ता भी है।

८. आचार्य नारायणतीर्थ ने 'नियत' का अर्थ परिच्छिन्न अथवा परिमित किया है, जिससे प्रत्येक सूक्ष्मशरीर के एक पुरुष तक सीमित रहने का भाव प्रकट होता है।

**अवतरणिका–** इसप्रकार सूक्ष्मशरीर की विशेषताओं का कथन करने के पश्चात् इसके आधार का स्वरूप एवं महत्त्व का कथन करने के लिए अग्रिम कारिका का उल्लेख करते हैं–

**चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया।**
**तद्वद्विनाऽविशेषै र्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥४१॥**

**पदच्छेद–** चित्रम् (चित्र) यथा (जिसप्रकार) आश्रयम् (आश्रय के) ऋते (अभाव में, बिना) स्थाणु-आदिभ्यः (स्तम्भ आदि के) विना (बिना) यथा (जिसप्रकार) छाया (छाया) तद्वत् (उसीप्रकार) विना (बिना) अविशेषैः (अविशेष के) न (नहीं) तिष्ठति (रहता है), निराश्रयम् (आश्रय रहित) लिङ्गम् (लिङ्ग शरीर)

**अन्वय–** यथा आश्रयम् ऋते चित्रम् (न तिष्ठति) यथा स्थाण्वादिभ्यः विना छाया (न तिष्ठति), तद्वत् अविशेषैः विना लिङ्गम् निराश्रयम् न तिष्ठति।

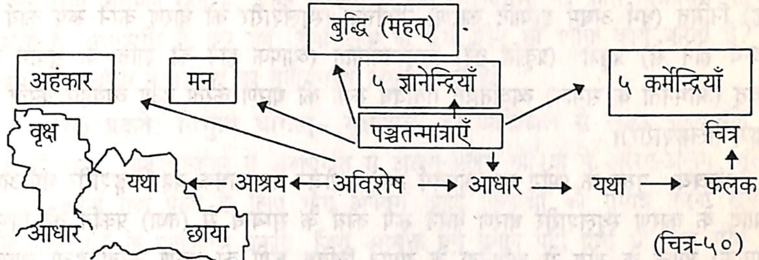
**अनुवाद–** जिसप्रकार आश्रय (आधार) के बिना चित्र (नहीं रह सकता) जिसप्रकार स्तम्भ आदि के बिना छाया (नहीं होती है)। उसीप्रकार अविशेषों के बिना लिङ्गशरीर (भी) निराश्रय (आधाररहित) नहीं रह सकता है।

**व्याख्या–** ग्रन्थकार ने ३८वीं कारिका में विषयों के दो प्रकारों– अविशेष तथा विशेष का उल्लेख किया था। पुनः विशेष के सूक्ष्मशरीर स्थूल (छः कोषों वाला) शरीर तथा पञ्चमहाभूत ये तीन अवान्तरभेद किए थे तथा सूक्ष्मपञ्चतन्मात्राओं को अविशेष बताया था (कारिका ३८)।

इसके पश्चात् सूक्ष्मशरीर के १८ तत्त्वों में पञ्चतन्मात्राओं को भी स्वीकार किया। प्रस्तुत कारिका में उन्हीं पञ्चतन्मात्राओं के लिङ्गशरीर का आधार रूप आश्रय बताया है। इसप्रकार यहाँ प्रयुक्त 'लिङ्गम्' पद बुद्धि, अहंकार, मन, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ आदि त्रयोदशकरण से ही अभिप्राय है, क्योंकि पञ्चतन्मात्राएँ तो इनका आधार हैं, जिनके अभाव में यह लिङ्गशरीर ठीक उसीप्रकार ठहरने में असमर्थ रहता है। जिसप्रकार फलकरूप आधार के अभाव में चित्र अथवा स्तम्भादि के अभाव में छाया का अस्तित्व ही असम्भव होता है।

कहने का तात्पर्य है कि जिसप्रकार फलकरूपी आधार के अभाव में किसी भी चित्र को नही बनाया जा सकता। किसी वृक्ष, स्तम्भ, खम्बे आदि के अभाव में छाया का होना पूर्णतया

असम्भव है। ठीक उसीप्रकार इस सूक्ष्मशरीर, लिङ्गशरीर का आधार पञ्चतन्मात्राएँ रूप आश्रय होती है। इनके अभाव में बुद्धि, अहंकार आदि त्रयोदश करणों की सत्ता का होना असम्भव होता है। अतः निश्चय ही 'लिङ्गशरीर' में अविशेषरूप तन्मात्राओं का विशिष्टमहत्त्व है, क्योंकि ये ही उसे आधार प्रदान करती हैं।




(चित्र-५०)

**विशेष-** १. चित्र एवं फलक, स्तम्भ एवं छाया के उदाहरणों के द्वारा लिङ्गशरीर में पञ्चतन्मात्राओं रूप अविशेष को 'आधार' बताते हुए उनकी महत्ता का अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

२. सूक्ष्मशरीर में यदि बुद्धि की स्थिति निश्चयात्मिका अथवा नियन्ता होने के कारण महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपरि है तो पञ्चतन्मात्राएँ भी इस सम्पूर्ण का आधाररूप आश्रय होने के कारण अत्यधिक महत्त्व रखती हैं।

३. कुछ टीकाकारों ने तृतीयचरण में 'तद्वद्विना विशेषैः' पाठ को मान्यता प्रदान की है, किन्तु दोनों स्थितियों में इसका अभिप्राय 'पञ्चतन्मात्राएँ ही होता है, किन्तु यदि यहाँ इसका अर्थ 'स्थूलशरीर' करें तो उचित नहीं होगा, क्योंकि मरने के पश्चात् जन्म ग्रहण करने के अन्तराल में सूक्ष्मशरीर की स्थिति नहीं बन सकेगी, जबकि उस समय सूक्ष्मशरीर का अस्तित्व, संचरण आदि होता है। अतः यहाँ विशेष अथवा अविशेष पदों से तन्मात्राओं से ही अभिप्राय लेना उचित है।

४. आचार्य गौडपाद एवं माठर ने 'विना अविशेषैः' पाठ को मान्यता प्रदान की है। गौडपाद के मत में 'अविशेष अर्थात् पञ्चतन्मात्राओं के बिना (त्रयोदश) करण नहीं रह सकते हैं।' (अविशेषैः तन्मात्रैः विना लिङ्गं (करणं) न तिष्ठति)।

५. स्थूलशरीर को ग्रहण करने से पूर्व की स्थिति में लिङ्गशरीर के लोक-लोकान्तर में विचरण करने का आधार कुछ नहीं पञ्चतन्मात्राएँ हैं। जो उसके अवयव होने के साथ-साथ उसे आश्रय भी प्रदान करती हैं।

**अवतरणिका-** पूर्व कारिकाओं में 'सूक्ष्मशरीर' का स्वरूप एवं आश्रय का कथन करते हुए इसे सृष्टि के आदिकाल से प्रलयपर्यन्त स्थित रहने वाला, एक शरीर से दूसरे शरीर में पञ्चतन्मात्राओं का आश्रय लेकर, भावों से अधिष्ठित बुद्धि के नियन्त्रण में संसरण करने वाला बताया गया। इस सबके पीछे क्या प्रयोजन है? अग्रिम कारिका में इसे उदाहरण द्वारा प्रतिपादित किया गया है-

**पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।**
**प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥४२॥**

**पदच्छेद–** पुरुषार्थहेतुकम् (पुरुष के (भोग एवं अपवर्ग रूप) प्रयोजन का साधक) इदम् (यह) निमित्त (धर्म अधर्म इत्यादि कारण) नैमित्तिक (स्थूलशरीर को धारण करने रूप कार्य से सम्बन्ध होने से) प्रकृतेः (प्रकृति की) विभुत्वयोगात् (व्यापक होने की शक्ति के संयोग से) नटवत् (अभिनेता के समान) व्यवतिष्ठते (विविध रूपों को धारण करता हुआ व्यवहार करता है) लिङ्गम् (लिङ्गशरीर)।

**अन्वय–** पुरुष के (भोग एवं अपवर्ग रूप) प्रयोजन का साधक यह लिङ्गशरीर धर्म-अधर्म इत्यादि के कारण स्थूलशरीर धारण करने रूप कार्य के सम्बन्ध से (तथा) प्रकृति की विभुत्व (व्यापक) शक्ति के योग से अभिनेता के समान विविध रूपों को धारण करता हुआ व्यवहार करता है।

**व्याख्या–** प्रस्तुत कारिका में सूक्ष्मशरीर (लिङ्गम्) को अभिनेता के समान व्यवहार करने वाला बताया गया है। जिसप्रकार अभिनेता निदेशक के आदेश एवं निर्देशों का पालन करते हुए नाट्य कथावस्तु की अपेक्षा से रामकथा में राम का, कृष्णकथा में कृष्ण का पाण्डवकथा में युधिष्ठिर आदि का वेष धारण करके दर्शकों के सामने आता है और इसप्रकार आचरण करता है, जैसे– वह साक्षात् वही हो, जिस पात्र का वह अभिनय कर रहा है। इस सम्पूर्ण अभिनय, वेषभूषा आदि का उद्देश्य दर्शकों को काव्यानन्द की प्राप्ति कराना होता है।

ठीक इसीप्रकार लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर) विश्व के कण-कण में व्याप्त, अद्भुत महिमा एवं सामर्थ्य से युक्त प्रकृति द्वारा निर्मित एवं आदेशित होकर, बुद्धि में स्थित धर्म, अधर्म आदि आठ भावों के कारण (अपेक्षा से) उनके अनुरूप कूकर, शूकर, कीट, पतंग, देव, मानव अथवा दानव आदि योनियों में छः कोष वाले स्थूलशरीर को धारण करके पुरुष के भोग एवं अपवर्गरूप कार्य को सम्पन्न करता है। पुनः प्रतिपद व्याख्या प्रस्तुत करते हैं–

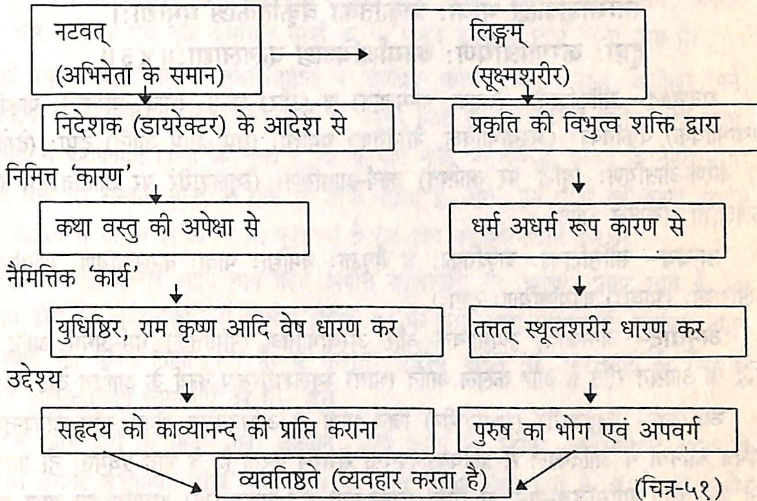
**(अ) पुरुषार्थ-हेतुकम्–** सूक्ष्मशरीर के द्वारा स्थूलशरीर के माध्यम से जो भी कार्य सम्पन्न किए जाते हैं, उन सबका मुख्य प्रयोजन पुरुष (ज्ञ, आत्मा) के भोग एवं अपवर्ग को सम्पादित करना है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति का सम्पूर्ण प्रपञ्च पुरुष के लिए होता है तथा सूक्ष्मशरीर त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण उसके उद्देश्यों को ही सम्पादित करता है। अतः सूक्ष्मशरीर की प्रवृत्ति भी पुरुष के दो प्रयोजनों को ध्यान में रखकर ही होती है। प्रथम– उसके लिए (स्थूलशरीर के माध्यम से) सांसारिक भोगों को उपस्थित करना। द्वितीय– पुरुष के मोक्ष, जिसे दूसरे शब्दों में अपवर्ग भी कहा जाता है, के लिए प्रयास करना। ये दोनों प्रयोजन स्थूलशरीर के माध्यम से ही पूर्णता को प्राप्त होते हैं। वह शरीर किसकारण प्राप्त होता है। इसके लिए कारिका के द्वितीय चरण में लिखते हैं।

**(ब) निमित्तनैमित्तिक प्रसङ्गेन–** यहाँ 'निमित्त' पद का प्रयोग बुद्धि के आठ प्रकार के भावों– धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, विराग, अविराग, ऐश्वर्य एवं अनैश्वर्य, के कथन के लिए

हुआ है तथा 'नैमित्तिक' पद से अभिप्राय स्थूलशरीर से है, अर्थात् सूक्ष्मशरीर को देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, दानव, आदि स्थूलशरीरों की प्राप्ति, उसमें स्थित बुद्धि के धर्म-अधर्म आदि भावों में सत्त्व, रजस्, तमस् आदि गुणों की भिन्नता के कारण होती है, जिसप्रकार के धर्म आदि भाव उसमें विद्यमान रहते हैं, उनके अनुरूप ही उसे स्थूलशरीरों की प्राप्ति भिन्न-भिन्न योनियों में होती है। सूक्ष्मशरीर के इस सब क्रियाकलाप के पीछे कौन सी शक्ति कार्य करती है? इसके उत्तर में ग्रन्थकार ने कारिका का तृतीयचरण प्रस्तुत किया है।

**(स) प्रकृतेः विभुत्व योगात्–** सूक्ष्मशरीर का आदिकाल से लेकर प्रलयकाल पर्यन्त स्थायी रहना, लोकलोकान्तर में अबाधगति से अलग-अलग योनियों में अलग-अलग स्थूलशरीर धारण करना तथा पुरुष के लिए भोग अपवर्ग आदि क्रियाओं को सम्पन्न करना रूप कार्य एकमात्र सृष्टि के मूलकारण प्रकृति, जिसे अव्यक्त एवं प्रधान पदों द्वारा भी कहा गया है, के विभुत्व, महिमा, संसार को उत्पन्न करने तथा सर्वत्र गतियुक्त, व्यापक होने की सामर्थ्य से ही सम्भव है, क्योंकि प्रकृति की महिमा ही सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है।

इसप्रकार यह लिङ्गशरीर अभिनेता के समान इस संसार में अनेक प्रकार के रूप धारण करता है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–



(चित्र-५१)

**विशेष–** १. जयमंगलाकार एवं आचार्य गौडपाद ने 'नैमित्तिक' का अर्थ 'उर्ध्वगमन' आदि किया है। आगे ४४वीं कारिका में ग्रन्थकार ने भी धर्म के प्रभाव से ऊर्ध्वगमन और बुद्धि के भाव 'अधर्म' के प्रभाव से अधोगमन का कथन किया है। यहाँ ऊर्ध्वगमन से अभिप्राय देवलोकों की प्राप्ति तथा अधोगमन से पाताललोक की प्राप्ति है।

२. इसप्रकार की विलक्षण क्रियाओं को करने के लिए सूक्ष्मशरीर की शक्ति का एकमात्र स्रोत 'प्रकृति' है, जिसे ग्रन्थकार ने 'प्रकृते र्विभुत्वयोगात्' द्वारा कहा है। देवी भागवत पुराण के

कथन से भी इसकी पुष्टि होती है– 'वैश्वरूप्यात् प्रधानस्य परिमाणोऽयमद्भुतः' अर्थात् प्रकृति की नानारूपता के कारण ही इस विविध प्रकार की अद्भुत् सृष्टि का निर्माण होता है।

३. जयमंगलाकार ने 'विभुत्व' का अर्थ 'नटवत् व्यवतिष्ठते' से अन्वित करते हुए 'जगत्कर्तृत्व' किया है। उनके अनुसार सूक्ष्मशरीर द्वारा अनेक प्रकार की योनियों में अलग-अलग शरीरों की प्राप्ति का एकमात्र कारण व्यक्ति के अपने ही धर्म अधर्म का परिणाम है।

४. सूक्ष्मशरीर का धर्मादि के प्रभाव से स्थूलशरीर को धारण करना, पुनः स्थूलशरीर द्वारा धर्म-अधर्मादि को सम्पन्न करना, जिनके कारण फिर से यह नया स्थूल शरीर धारण करता है, यही क्रिया, प्रक्रिया सूक्ष्मशरीर का संसरण कहलाती है। इसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज के उदाहरण द्वारा भी कहा जा सकता है। यह सब विवेकज्ञान होने तक अथवा प्रलयकाल तक चलता रहता है।

५. 'पुरुषार्थ हेतुकम्' में समासान्त 'क' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

**अवतरणिका–** जिन निमित्त एवं नैमित्तिक (कारण एवं कार्य) की चर्चा पूर्व कारिका में की गई उनके स्वरूप, भेद तथा आश्रय आदि का कथन करने के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः।**
**दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः॥४३॥**

**पदच्छेद–** सांसिद्धिकाः (सहज, जन्मजात) च (और) भावाः (भाव, परिणाम) प्राकृतिकाः (स्वाभाविक) वैकृतिकाः (अस्वाभाविक, नैमित्तिक) धर्माद्याः (धर्म-अधर्म आदि) दृष्टाः (देखे गए हैं) करण-आश्रयिणः (बुद्धि पर आश्रित) कार्य-आश्रयिणः (स्थूलशरीर पर आश्रित) च (और) कललाद्याः (कलल आदि)

**अन्वय–** सांसिद्धिकाः प्राकृतिकाः च वैकृताः धर्माद्याः भावाः करणाश्रयिणः (भवन्ति) च कललाद्याः (भावाः) कार्याश्रयिणः दृष्टाः।

**अनुवाद–** जन्मजात, स्वाभाविक और अस्वाभाविक (नैमित्तिक) धर्म-अधर्म आदि भाव बुद्धि के आश्रित रहते हैं और कलल आदि (भाव) स्थूलशरीररूप कार्य के आश्रित देखे गए हैं।

**व्याख्या–** लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर) जिन भावों से अधिवासित होकर लोक-लोकान्तर में, विभिन्न योनियों में आदिकाल से प्रलयकालपर्यन्त संसरण करता है। वे भाव प्रथमतः दो प्रकार के होते हैं– (क) सांसिद्धिक-जन्म से सिद्ध (जन्मजात) एवं सहज (ख) असांसिद्धिक-बाह्य उपाय, अनुष्ठान आदि के द्वारा सम्पादित।

इनमें भी सांसिद्धिक पुनः दो प्रकार के होते हैं १. जो जन्म से ही रहते हैं २. जो जन्म के कुछ समय बाद स्वतः प्रकृतिकरूप में उद्बुद्ध हो जाते हैं। प्रथम को सांसिद्धिक तथा दूसरे को प्राकृतिक कहा गया है। उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

ब्रह्मा के सनक, सनन्दन, सनातन आदि चार पुत्रों को पूर्व जन्म में किए गए कर्मों के परिणामस्वरूप सोलह वर्ष की अवस्था में ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य इन सात्त्विकभावों की

प्राप्ति हुई। यद्यपि इनमें पूर्वजन्म के कर्म प्रमुख कारण थे, किन्तु जन्म से सिद्ध न होने के कारण इन्हें प्राकृतिक कहा जाएगा, सांसिद्धिक नहीं, क्योंकि इनके उद्बुद्ध होने में प्राकृतिकरूप से कुछ काल की अपेक्षा रही।

इसके अतिरिक्त वैकृतिक भावों को नैमित्तिक या असांसिद्धिक भी कहा जा सकता है, क्योंकि ये जन्म से सिद्ध नहीं होते, अपितु बाह्य उपाय (निमित्त) अनुष्ठान आदि के द्वारा उत्पन्न होते हैं। जैसे वाल्मीकि इत्यादि महर्षियों के धर्म, ज्ञान भाव आचार्य की कृपा एवं मार्गदर्शन से, बाद में तपस्या आदि उपायों से उत्पन्न हुए थे। अतः यहाँ इन्हें 'वैकृताः' पद के द्वारा अभिहित किया गया है।

प्रथमप्रकार के सांसिद्धिक जो जन्म से ही सिद्ध होते हैं। उनके उदाहरण के रूप में महर्षि कपिल को उद्धृत किया जा सकता है, क्योंकि उनके विषय में कहा जाता है कि– 'आदिविद्वान्, महामुनि, पूज्यपाद कपिल सृष्टि के आरम्भ में ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए थे'।

ये तीनों प्रकार के धर्म आदि भाव करण अर्थात् बुद्धि का आश्रय लेकर स्थित रहते हैं। 'धर्माद्याः' पद में आदि शब्द का प्रयोग धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, विराग, राग, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य बुद्धि के चार सात्त्विक एवं चार तामसिक भावों का भी कथन करने के लिए किया गया है।

यहाँ प्रयुक्त 'करण' पद को कुछ विद्वानों ने 'त्रयोदश करण' (जिसमें बुद्धि, अहंकार, मन, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ५ कर्मेन्द्रियाँ आदि) रूप अर्थ में प्रयुक्त माना है। जो उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है कि ये भाव बुद्धि के धर्म हैं, अन्यों के नहीं। अतः धर्म और धर्मी का सम्बन्ध बुद्धि के साथ ही ठीक बैठता है। अतः इन भावों को करण अर्थात् बुद्धि के आश्रय में मानना ही उचित है। कहा भी है (बुद्धिरेव करणम् तदाश्रयिणः)।

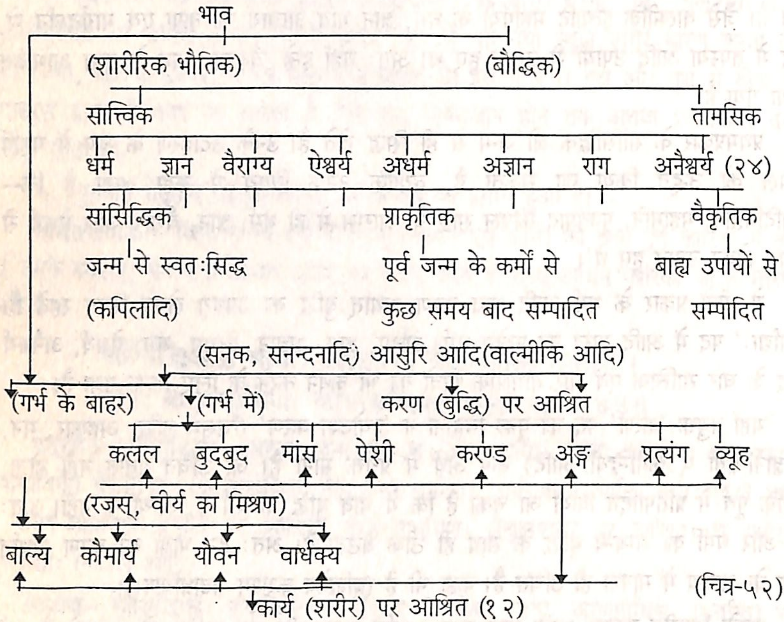
इसके विपरीत कलल आदि भाव कार्य अर्थात् स्थूलशरीर पर आश्रित होकर रहते हैं, जो इनसे भिन्न होते हैं। 'कललाद्याः' में प्रयुक्त 'आदि' पद के द्वारा बुद्बुद्, मांसपेशी, करण्ड, अङ्ग, प्रत्यंग आदि का कथन किया गया है। ये वस्तुतः गर्भस्थ शरीर की अवस्थाएँ हैं। जिसकी विद्वानों ने अलग-अलग व्याख्याएँ की हैं– जैसे,

रजस् और वीर्य के मिश्रण को '**कलल**' कहा जाता है। उसका 'वर्तुलाकार' होना ही 'बुद्बुद्' है। उसका घनीभाव '**मांस**' तथा मांस का कोष '**पेशी**' कहलाता है। उससे भी कठोर होना 'करण्ड' कहा जाता है। सिर, पैर, हाथ आदि 'अङ्ग' तथा अंगुली आदि को 'प्रत्यंग' संज्ञा दी गई है। इस सम्पूर्ण समूह को ही अङ्ग प्रत्यंगों का व्यूह कहते हैं।

गर्भ से बाहर आने के पश्चात् स्थूलशरीर की बाल्य, कौमार्य, यौवन और वार्धक्य चार अवस्थाएँ होती हैं। जिनका यहाँ विस्तार से उल्लेख किया जा रहा है। १. जब तक बालक स्पष्ट रूप से शब्दों के उच्चारण में समर्थ नहीं हो पाता, तब तक बाल्यावस्था कहलाती है, किन्तु कुछ विद्वानों के मत में १६ वर्ष तक की आयु बाल्यावस्था कहलाती है। (आषोडषाद् भवेद् बालः) २. दाढ़ी मूछ आने तक की अवस्था कौमार्य कहलाती है। ३. सत्तर वर्ष की अवस्था से पूर्व,

कौमार्य के बाद बीच के काल को 'यौवनावस्था' कहा जाता है। ४. सत्तर वर्ष के बाद की स्थूलशरीर की अवस्था वृद्धावस्था कहलाती है। (वृद्धस्तु सप्ततेरूर्ध्वम्)

इसप्रकार धर्म-अधर्मादि (सांसिद्धिक, प्राकृतिक तथा वैकृतिक) भाव 'करण' अर्थात् बुद्धि पर तथा 'कार्य' अर्थात् कललादि विभिन्न अवस्थाओं वाले स्थूलशरीर पर आश्रित होकर रहते हैं। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–



(चित्र-५२)

**विशेष–** १. कुछ भाष्यकारों ने इस कारिका की व्याख्या, भाव के दो प्रकार प्राकृतिक एवं वैकृतिक मानकर की है, किन्तु हमने तीन प्रकार गौडपादभाष्य एवं युक्तिदीपिका के आधार पर किए हैं।

२. कुछ विद्वानों ने करण से त्रयोदशकरण अर्थ लिया है, किन्तु यहाँ इससे केवल बुद्धि अभिप्रेत है। अन्य 'मन', अहंकार एवं दस इन्द्रियाँ आदि नहीं।

३. इस कारिका के आधार पर वस्तुतः भाव के प्रथम दो प्रकार बौद्धिक और शारीरिक होते हैं। इनमें बौद्धिकभाव जो सात्त्विक एवं तामासिक दृष्टि से कुल आठ होते हैं। उनमें प्रत्येक के पुनः तीन प्रकार सांसिद्धिक, प्राकृतिक एवं वैकृतिक दृष्टि से कुल मिला कर चौबीस हो जाते हैं। ये सभी बुद्धि पर आश्रित रहते हैं।

४. शारीरिक भाव जिन्हें गर्भ के अन्दर और गर्भ के बाहर की दृष्टि से प्रथम दो प्रकार के तथा उनमें गर्भ में आठ स्थितियों में तथा गर्भ के बाहर की चार अवस्थाएँ कुल मिला कर बारह होते हैं।

५. सूक्ष्मशरीर के साथ केवल बौद्धिकभाव रहते हैं।

**अवतरणिका–** इसप्रकार भावों के विस्तृत प्रकार एवं उनके आश्रय का कथन करने के पश्चात् किस निमित्तरूप कारण अर्थात् भाव द्वारा, क्या नैमित्तिक अर्थात् कार्य सम्पन्न किया जाता है? इसका कथन करने के लिए अग्रिम कारिका का उल्लेख करते हैं–

**धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।**
**ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः॥४४॥**

**पदच्छेद–** धर्मेण (धर्म के द्वारा) गमनम् (गति) ऊर्ध्वम् (ऊपर के लोकों में) गमनम् (गति) अधस्तात् (अधो लोकों में) भवति (होती है) अधर्मेण (अधर्म के द्वारा) ज्ञानेन (ज्ञान से) च (और) अपवर्गः (मोक्ष) विपर्ययात् (अज्ञान से) इष्यते (माना गया है) बन्धः (बन्धन)

**अन्वय–** धर्मेण ऊर्ध्वम् गमनम् (भवति), अधर्मेण अधस्तात् गमनम् भवति, ज्ञानेन च अपवर्गः (भवति), विपर्ययात् बन्धः इष्यते।

**अनुवाद–** धर्म से ऊर्ध्वलोकों में गति होती है, अधर्म से अधोलोकों में गमन होता है। ज्ञान से मोक्ष और उसके विपरीत (अज्ञान से बन्धन माना गया है।)

**व्याख्या–** बुद्धि के जिन धर्म अधर्म आदि भावों का पूर्व में कथन किया गया उनमें से चार भावों– धर्म, अधर्म, ज्ञान और अज्ञान के द्वारा किस फल की प्राप्ति होती है, इसका कथन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि धर्म के द्वारा व्यक्ति को स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकों की प्राप्ति होती है।

यहाँ धर्म से अभिप्राय, यम, नियम आदि अष्टांगयोग, अभ्युदय एवं निःश्रेयस् के साधक यज्ञ, दान आदि अनुष्ठान सभी श्रेष्ठकर्मों से है। इसप्रकार के कर्मों को व्यक्ति बुद्धि में स्थित धर्म नामक भाव के प्रभाव से ही करता है। जिसे उसे क्रमशः ऊर्ध्व अर्थात् उत्तमलोकों की प्राप्ति होती है।

लोक दो प्रकार के हैं– १. ऊर्ध्वलोक एवं अधोलोक। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यलोक (ब्रह्मलोक), ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने गए हैं। अतः ऊर्ध्व लोक हैं। कुछ विद्वानों ने लोकों की व्याख्या में ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, गान्धर्व, याक्ष, एवं पैत्र आदि का उल्लेख किया है। धर्म के प्रभाव से व्यक्ति का क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ लोकों में गमन होता है। जहाँ क्रमशः अधिक सुख एवं आनन्द की प्राप्ति होती है। इसी को कारिकाकार ने 'धर्मेण ऊर्ध्व गमनम्' कहा है।

बुद्धि में स्थित अधर्म के प्रभाव के कारण व्यक्ति ऐसे कार्य करता है, जिनसे उसे अधोलोक प्राप्त होते हैं। जिनकी संख्या भी सात मानी गई है– अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल। अधर्म बुद्धि का तामासिकभाव होने के कारण अधोगति देने वाला है। (अधर्मेण अधस्तात् गमनं भवति) कुछ व्याख्याकारों ने इसे रौरव नरकादि की प्राप्ति भी माना है।

यहाँ प्रयुक्त 'ऊर्ध्व' एवं 'अधः' पद क्रमशः उत्तम, श्रेष्ठ तथा 'अधम' निकृष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुए हैं, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में कोई भी लोक न ऊपर है और न

ही नीचे, अपितु ये शब्द उनकी क्रमशः श्रेष्ठता और निकृष्टता का कथन करते हैं। धर्म, अधर्म दोनों की समस्थिति मनुष्यत्व का कारण है। इसकी अभिव्यक्ति भी यहाँ व्यञ्जना से हो रही है।

बुद्धि में स्थित ज्ञानरूप भाव द्वारा व्यक्ति को अपवर्ग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ इन्हें भलीप्रकार अलग-अलग रूप में समझना (प्रकृति पुरुष एवं सृष्टि आदि की भिन्नता) ही ज्ञान है। सांख्यशास्त्र द्वारा ही विवेकख्याति सम्भव है। मोक्ष की तीन स्थितियाँ मानी गई हैं, जो ज्ञान के परिणाम स्वरूप होती हैं– (क) **ज्ञान की अवस्था**– इसमें व्यक्ति शास्त्र के अध्ययन एवं गुरु के उपदेश द्वारा व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ को भलीप्रकार जान लेता है। (ख) **विषयों के प्रति विराग**– तत्त्वज्ञान से इसमें उसकी सांसारिक विषयों के प्रति राग की निवृत्ति हो जाती है, किन्तु शरीर तब तक कार्य करता रहता है, जब तक उसके पूर्वकृत कर्मों के फल का क्षय नहीं होता है। (ग) **मोक्ष की अवस्था**– पूर्वकृत कर्मों के क्षय के अनन्तर शरीरपात होने पर ज्ञानी का सूक्ष्मशरीर पुनः नूतनशरीर को धारण नहीं करता दूसरे शब्दों में संसरण नहीं करता, अपितु अपने मूलकारण प्रकृति में लय को प्राप्त हो जाता है तथा पुरुष अपने मूल विराट्पुरुष के साथ मिल जाता है। यही कैवल्य है। इनमें पहली दो अवस्थाएँ 'जीवनमुक्त' तथा तीसरी 'विदेह' कही गई है।

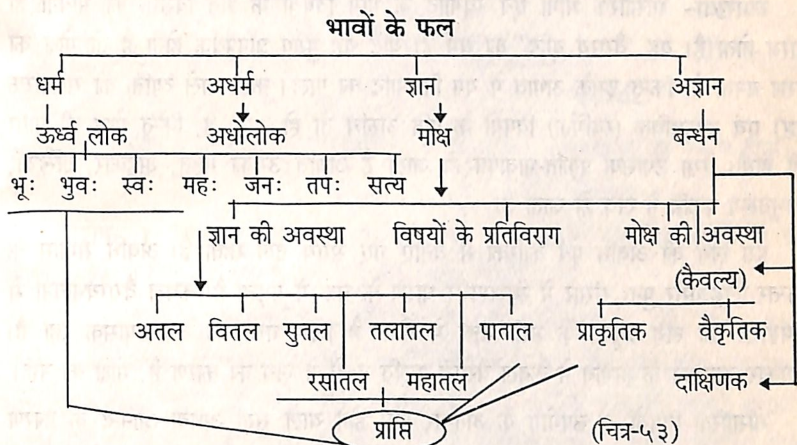
विपर्यय अर्थात् ज्ञान के विपरीत– अज्ञानरूप भाव के द्वारा सांसारिक बन्धनों की प्राप्ति होती है। अज्ञान से होने वाला बन्धन-प्राकृतिक, वैकृतिक एवं दाक्षिणक भेद से तीन प्रकार का माना गया है। जब व्यक्ति अज्ञानवश प्रकृति को ही आत्मा मानकर उपासना करता है, तो उसका सूक्ष्मशरीर प्रकृति में ही लय हो जाता है। जहाँ वह सहस्रों वर्षों तक रहता है। यही 'प्राकृतिक बन्धन' कहा गया है।

इस स्थिति में तथा ज्ञान की 'मोक्षावस्था' वाली स्थिति में यही अन्तर है कि इस अवस्था में सूक्ष्मशरीर पूर्णतया निवृत्त नहीं होता अर्थात् नूतनशरीर को धारण करने के चक्र से मुक्त नहीं होता, अपितु उसका अस्तित्व बना रहता है और प्रकृति की उपासना के फल से प्राप्त होने वाली उस स्थिति, अवधि की समाप्ति पर वह पुनः नूतन शरीर धारण करने की प्रक्रिया को प्रारम्भ कर देता है।

पञ्चमहाभूत, इन्द्रिय, अहंकार अथवा बुद्धि को अथवा मूलप्रकृति के विकारों को ही अज्ञानवश पुरुष मानकर उपासना करने वाले व्यक्तियों का 'वैकृतिक बन्धन' होता है। इनमें इन्द्रियों को पुरुष मानकर उपासना करने वाले उपासक 'दस मन्वन्तर' तक इन्द्रियों में ही लीन रहते हैं। भौतिकतत्त्वों को पुरुष मानकर उपासना करने वाले सौ मन्वन्तरों तक तत्तत् 'भूत' विशेष में लीन रहते हैं, जिसकी वे उपासना करते हैं।

इसके अतिरिक्त 'अहंकार' को अज्ञानवश पुरुष मानने वाले उपासक एक सहस्र मन्वन्तर तक अहंकार में लीन रहते हैं। इसीप्रकार बुद्धि को ही पुरुष मानकर उपासना करने वाले अज्ञानी उपासक दस हजार मन्वन्तर तक 'महत्' तत्त्व में लीन रहते हैं। इन सभी अवस्थाओं में दुःख की अनुभूति न होना, इनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

यज्ञ एवं शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट आतिथ्य आदि कर्मों के करने से दक्षिण मार्ग द्वारा चन्द्रलोक आदि की प्राप्ति करना ही 'दाक्षिणक बन्धन' होता है। ये तीनों प्रकार के उपासक पुरुष के वास्तविकस्वरूप का ज्ञान न कर पाने के कारण, अन्यान्य तत्त्वों में अज्ञानवश मोह रखने से बन्धन में पड़ते हैं। इसी अभिप्राय को कारिका के अन्तिम चरण 'विपर्ययात् बन्धः इष्यते' द्वारा कहा गया है।



(चित्र-५३)

**विशेष–** १. जयमंगलाकार ने 'धर्म' का अर्थ 'यमनियम' किया है, जबकि वाचस्पति मिश्र ने इसे अष्टांगयोग, यज्ञ, दान तथा अनुष्ठान आदि के रूप में विवेचित किया है, किन्तु मीमांसकों ने इसका अभिप्राय, 'वैदिक कृत्य-अकृत्य के विधान' से लिया है।

२. गीता में भी कहा गया है कि ज्ञानाग्नि मनुष्य के सभी कर्मों को भस्मसात् कर देती है– 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुनः' (४/३७)

३. अज्ञान के कारण होने वाले बन्धन की व्याख्या आचार्य वाचस्पति ने किरणावली नामक ग्रन्थ के आधार पर की है।

**अवतरणिका–** बुद्धि के आठ भावों में से चार के कार्यों का विस्तार से उल्लेख करने के बाद अग्रिम कारिका में ग्रन्थकार ने शेष चार भावों के कार्यों का उल्लेख किया है–

**वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्।**
**ऐश्वर्यादविघातो, विपर्ययात् तद्विपर्यासः॥४५॥**

**पदच्छेद–** वैराग्यात् (वैराग्य से) प्रकृतिलयः (प्रकृति में लय होना) संसारः (संसरण) भवति (होता है) राजसात् (रजोमय) रागात् (राग से) ऐश्वर्यात् (ऐश्वर्य से) अविघातः (इच्छा का पूर्ण होना) विपर्ययात् (विपरीत अर्थात् ऐश्वर्य के अभाव से) तत् (उसका) विपर्यासः (विपरीत अर्थात् इच्छा का पूर्ण न होना)

**अन्वय–** वैराग्यात् प्रकृतिलयः (भवति), राजसात् रागात् संसारः भवति, ऐश्वर्यात् अविघातः (भवति), विपर्ययात् तत् विपर्यासः (च) (भवति)।

**अनुवाद–** वैराग्य से प्रकृति में लय (होता है), रजोमय राग से संसरण होता है, ऐश्वर्य से इच्छा की सफलता (होती है) (और) विपर्यय से (ऐश्वर्य के अभाव से) उसका विपरीत (इच्छा का पूर्ण न होना होता है)।

**व्याख्या–** सांसारिक भोगों एवं स्वर्गादि के भोग विषयों के प्रति विरक्ति की भावना ही वैराग्य होता है। यह 'वैराग्य बुद्धि' का धर्म है। यदि यह पुरुष ज्ञानपूर्वक होता है तो मोक्ष का कारण बनता है, किन्तु उसके अभाव में यम नियमादि का पालन करने वाले व्यक्ति की सांसारिक (दृष्ट) एवं आनुश्रविक (स्वर्गिक) विषयों के प्रति अरुचि तो हो जाती है, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा उपासक प्रकृति-भावापन्न हो जाता है अर्थात् उसका महत्, अहंकार, इन्द्रियाँ, महाभूतरूप प्रकृति में लय हो जाता है।

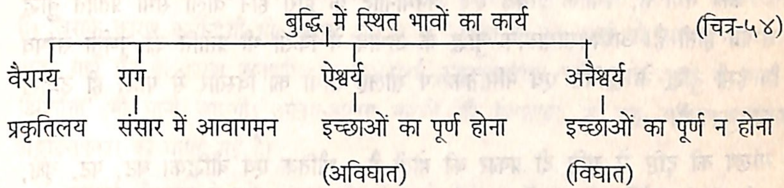
इस लय की अवधि पूर्व कारिका में बताए गए समय तक रहती है। अवधि समाप्ति के अनन्तर लिङ्गशरीर पुनः संसार में स्थूलशरीर धारण के चक्र में पड़ता है। केवल वैराग्यभावना से सूक्ष्मशरीर का लय प्रकृति के उसी तत्त्व में होता है जिस तत्त्व का वह उपासक रहा है। इसप्रकार तत्त्वज्ञान के अभाव में केवल वैराग्य प्रकृति तत्त्वों में लय का कारण है, मोक्ष का नहीं।

सांसारिक विषयों के उपभोग के अनन्तर प्राप्त होने वाले सुख अथवा आनन्द के कारण उन-उन उपभोग विषयों के प्रति तृष्णा का भाव अर्थात् लगाव की भावना ही 'राग' है। रजोगुण की प्रधानता के कारण ही ऐसा होता है, इसलिए कारिकाकार ने 'राजसात्' पद का प्रयोग किया है। जब व्यक्ति की आसक्ति सांसारिक विषयों के प्रति होती है तो उसमें रजोगुण प्रभावी होता है, सत्त्व अथवा तमोगुण नहीं।

राग व्यक्ति के संसार में आवागमन (संसरण) का कारण होता है, क्योंकि विषयों के भोग के परिणामस्वरूप उससे होने वाले कर्मफल को भोगने के लिए 'सूक्ष्मशरीर' बार-बार स्थूलशरीर को धारण करता है। अतः अनेक प्रकार की योनियों तथा लोक लोकान्तर में संसरण का कारण मुख्यरूप से राग होता है।

अणिमा, लघिमा आदि शक्तियों को प्राप्त करना ही 'ऐश्वर्य' है। यह भी बुद्धि का धर्म है। इसके प्रभाव से व्यक्ति जब भी जो कुछ भी चाहता है, उसकी उसे तत्काल प्राप्ति हो जाती है। 'ऐश्वर्य' व्यक्ति में ईश्वरत्व का कारण है, क्योंकि व्यक्ति के पास ये शक्तियाँ जितनी मात्रा में होती है, उतनी ही मात्रा में वह ईश्वर होता है। ऐश्वर्य, सम्पन्न व्यक्ति की वाणी का अनुकरण संसार के सभी विषय करते हैं, काव्यों में जिसे 'वाचमर्थोऽनुधावति' के द्वारा कहा गया है। यहाँ उसे 'अविघात' पद के द्वारा प्रस्तुत किया है। जिसका अर्थ है– इच्छा का विघात (हनन) न होना, सोची हुई वस्तु का प्राप्त होना, कार्य का सम्पन्न होना। यह 'ऐश्वर्य' नामक भाव के द्वारा ही सम्भव है।

ऐश्वर्य का विपरीत भाव ही 'अनैश्वर्य' है जिसका कार्य भी ऐश्वर्य के कार्य से ठीक विपरीत होता है। अर्थात् व्यक्ति जो कुछ भी प्राप्त करना चाहता है उसे प्राप्त नहीं कर पाता। उसकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती, वे हमेशा भंग होती रहती हैं। यह सब उसमें ऐश्वर्य के अभाव अर्थात् अनैश्वर्य के कारण होता है। इसके कारण व्यक्ति अपने को विवश और निरीह अनुभव करता है। इसप्रकार बुद्धि के शेष चार भावों– वैराग्य, राग, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य से होने वाले कार्यों का यहाँ कथन किया गया, जिसे हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–




**विशेष–** १. योगशास्त्र में 'दृष्ट' (लौकिक) एवं आनुश्रविक (स्वर्गिक) विषयों के प्रति तृष्णा न होने से चित्त का वश में होना ही वैराग्य कहा गया है–

**'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'।।** (यो० सू० १/१५)

२. कारिका के द्वितीयचरण में प्रयुक्त 'राजसाद् रागात्' का प्रयोग 'उष्णोऽग्निः' के समान प्रथमदृष्ट्या उचित प्रतीत नहीं होता, किन्तु रजोगुण के दुःख का हेतु होने तथा उसकी संसार में स्थिति होने से संसार का दुःखमय होना स्वाभाविक है। इसी भाव की अभिव्यक्ति के लिए राजस् विशेषण पद का प्रयोग किया गया है, जिसका अभिप्राय है 'राग ही दुःखमय संसार में आवागमन का कारण है।'

३. कुछ भाष्यकारों ने राग का अर्थ– 'काम', 'क्रोध' आदि किया है। जो दो प्रकार से प्राप्त होते हैं– यज्ञादि द्वारा एवं लौकिक वस्तुओं के संग्रह द्वारा। जिनमें यज्ञादि से स्वर्ग के भोग तथा संसार में स्त्री आदि से लौकिक भोगों की प्राप्ति मानी गई है।

४. बुद्धि के धर्मों से होने वाले कार्यों के कथन का प्रयोजन केवल यही प्रतीत होता है कि इस संसार में व्यक्ति की सामर्थ्य आदि में जो वैषम्य, न्यूनभाव अथवा अधिकता प्रतीत होती है, उस सबका कारण बुद्धि के आठ भावों का विभिन्न अनुपात में होना है।

**अवतरणिका–** बुद्धि के आठ भावों एवं उनके कार्यों का उल्लेख करने के पश्चात् उन सभी का भिन्नप्रकार से चार भागों में वर्गीकरण करके, विशेष विवेचन प्रस्तुत करने के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः।**
**गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्।।४६।।**

**पदच्छेद–** एषः (यह) प्रत्ययसर्गः (बुद्धि की सृष्टि) विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि-सिद्धि-आख्यः (विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नामक) गुणवैषम्य विमर्दात् (गुणों के न्यूनाधिक्य होने एवं परस्पर अभिभव के कारण) तस्य (उसके) च (और) भेदाः (भेद) तु (तो) पञ्चाशत् (पचास)।

**अन्वय–** विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि-सिद्धि-आख्यः एषः प्रत्ययसर्गः (अस्ति), तस्य च गुणवैषम्यविमर्दात् तु पञ्चाशत् भेदाः (भवन्ति)।

**अनुवाद–** विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि नामक यह बौद्धिक सर्ग (सृष्टि है) गुणों की विषमता के कारण एक दूसरे के अभिभव (दबना) से उसके पचास भेद (होते हैं)।

**व्याख्या–** प्रतीयते अनेन इति, 'प्रत्ययः', इस व्युत्पत्ति के अनुसार बुद्धि को ही यहाँ 'प्रत्यय' कहा गया है, क्योंकि प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि के द्वारा होने वाली सभी प्रतीति बुद्धि द्वारा सम्पन्न होती हैं। अध्यवसायात्मक बुद्धि के अभाव में किसी भी प्रतीति की पूर्णता सम्भव नहीं है। इसी बुद्धि के निमित्त एवं नैमित्तिकरूप सोलह तत्त्वों का विस्तार से पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

सांख्य की दृष्टि से सृष्टि दो प्रकार की होती है— भौतिक एवं बौद्धिक। घट, पट, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि 'भौतिक सृष्टि' के अन्तर्गत आते हैं। धर्म अधर्म आदि भाव, सूक्ष्मशरीर एवं स्थूलशरीर 'बौद्धिकसृष्टि' में माने जाते हैं, क्योंकि बुद्धि ही प्रमुख रूप से इनकी उत्पत्ति एवं स्थिति का कारण है।

इनमें बौद्धिकसृष्टि के अन्तर्गत परिगणित सभी तत्त्वों को विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धि नामक चार भागों में विभाजित करके उसे प्रत्ययसर्ग (बुद्धि की सृष्टि) कहा है। सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीन गुणों की विषमस्थिति एवं एक दूसरे को दबाने के स्वभाव के कारण चार प्रकार के इस प्रत्ययसर्ग के कुल मिलाकर पचास भेद माने गए हैं। जिनकी विस्तार से अग्रिम कारिका में गणना की गई है। यहाँ हम चार प्रकार के प्रत्यय सर्ग का उल्लेख कर रहे हैं—

(क) **विपर्यय–** महर्षि पतञ्जलि ने 'ज्ञान से भिन्नरूप में प्रतिष्ठित मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहा है' (विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् (यो० सू० १/८) इसप्रकार यहाँ विपर्यय से अभिप्राय मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान से लिया गया है। जो ज्ञान से भिन्न, किन्तु उसी के समान एक भावात्मक तत्त्व है। यहाँ ज्ञान के अभाव को 'अज्ञान' मानना उचित नहीं है। अज्ञान पद में नञ्समास का प्रयोग 'तद्भिन्न एवं तत्सदृश' अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। यह वस्तुतः बुद्धि का धर्म है, जो तमोगुण के प्रभाव का परिणाम है। जिसे पूर्व कारिकाओं से 'अज्ञान' कहा गया है।

आचार्य गौडपाद ने संशयात्मक ज्ञान को ही विपर्यय माना है। उनके मत में— किसी ठूँठ (स्तम्भ) को देखकर यदि कोई व्यक्ति यह निश्चय नहीं कर पाता है कि यह कोई आदमी खड़ा है अथवा ठूँठ बुद्धि की यह संशयात्मक स्थिति ही 'विपर्यय' कही जाएगी।'

ठीक इसीप्रकार रस्सी को देखकर उसमें सर्प अथवा रस्सी की संशयात्मक स्थिति जो वस्तुतः बुद्धि का धर्म है, विपर्यय मानी जाएगी।

(ख) **अशक्ति–** मन, बुद्धि एवं अहंकाररूप त्रिविध अन्तःकरण एवं १० इन्द्रियाँ रूप बाह्यकरणों में से किसी एक अथवा अनेक की विकलता के कारण उत्पन्न असामर्थ्य से उसके

द्वारा अपने विषय को ग्रहण न कर पाना ही 'अशक्ति' है। इसप्रकार संक्षेप में ज्ञानप्राप्ति के सामर्थ्य के अभाव को 'अशक्ति' कहा जा सकता है। ज्ञान बुद्धि का धर्म है, किन्तु वह ज्ञानेन्द्रियों, मन, अहंकार के माध्यम से बुद्धि तक पहुँचता है, जिसका विस्तृत विवरण हम पहले कर चुके हैं (द्रष्टव्य पृ० १०८-११०) इनमें से किसी एक करण के भी विकल होने पर बुद्धि निश्चयात्मकरूप कार्य को करने में समर्थ नहीं होती है।

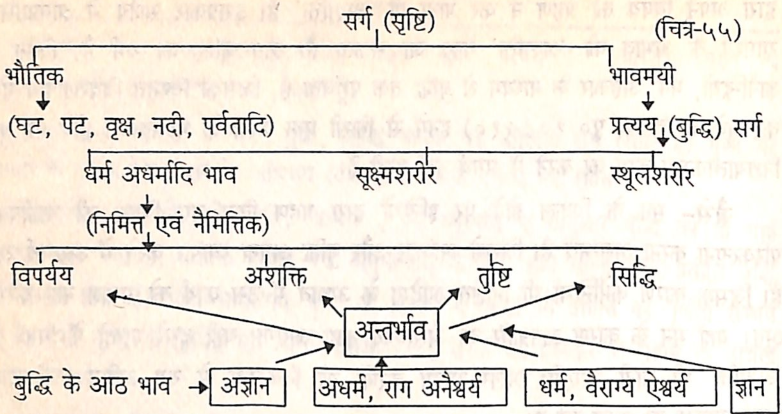
**जैसे–** मन के विकल होने पर इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए गए विषय की भलीप्रकार परिकल्पना करना असम्भव है। जिससे अहंकार और बुद्धि अपना व्यापार करने में असमर्थ रहते हैं। जिसके कारण कर्मेन्द्रियाँ भी निश्चित आदेश के अभाव में उस कार्य को सम्पन्न नहीं करेंगी। अतः यहाँ मन के कारण ज्ञानप्राप्ति का असामर्थ्य कहा जाएगा। यही दूसरे शब्दों में 'मन' की 'अशक्ति' भी मानी जाएगी। अलग-अलग करणों की विकलता से यह अग्रिम कारिका में अट्ठाइसप्रकार की बताई गई है।

आचार्य गौडपाद ने इसे 'किसी ठूँठ पेड़ को देखकर किसी भी इन्द्रिय की विकलता से यह कोई व्यक्ति है या ठूँठ पेड़, इसप्रकार के संशय को दूर न कर सकना ही अशक्ति के उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है। भाष्यकारों ने अधर्म, राग और अनैश्वर्य रूप बुद्धि के भावों का इसी 'अशक्ति' में अन्तर्भाव माना है।

(ग) **तुष्टि–** प्रकृति एवं पुरुष की भिन्नता को जानने के बाद भी अयथार्थ उपदेश से संतुष्ट होकर श्रवण, मनन आदि के द्वारा विवेकज्ञान के लिए प्रयत्न न करना ही तुष्टि है (तुष्टिर्मोक्षोपायेषु वैमुख्यम्-जयमंगला) ऐसा व्यक्ति पुरुषरूप मुख्य ज्ञेयतत्त्व से हटकर किसी अतत्त्व से संतुष्ट होकर, आत्मज्ञान के लिए प्रवृत्त नहीं होता है। यह नौ प्रकार की मानी गई है, जिसका विस्तार से उल्लेख आगे किया जाएगा। भाष्यकारों ने धर्म, वैराग्य एवं ऐश्वर्यरूप बुद्धि के भावों को तुष्टि में अन्तर्भाव माना है।

आचार्य गौडपाद ने 'ठूँठ पेड़ को देखकर उसके विषय में होने वाले व्यक्ति या ठूँढ विषयक संशयात्मकस्थिति को यह विचार कर कि मुझे इससे क्या मतलब, जानने की चेष्टा ही न करना ही तुष्टि है' को उदाहरण रूप में समझाने का प्रयास किया है।

(घ) **सिद्धि–** जयमंगलाकार ने ज्ञानप्राप्ति को ही सिद्धि माना है (सिद्धि र्ज्ञानप्राप्तिः) दुःख की निवृत्ति ही ज्ञान का मुख्य उद्देश्य है। अतः सिद्धि की प्राप्ति दुःखनिवृत्ति का कारण है। स्थाणु को स्थाणु समझना ही ज्ञान है। ठीक इसीप्रकार पुरुष और प्रकृति को अलग-अलग देखना ही ज्ञानरूप सिद्धि है, क्योंकि सिद्धि का अन्तर्भाव ज्ञान में ही होता है। इससे पूर्व बताए गए विपर्यय, अशक्ति और तुष्टिरूप प्रत्ययसर्ग सिद्धि में बाधक हैं। इसी कारण विद्वानों ने इन्हें अंकुश संज्ञा प्रदान की है। सिद्धि की संख्या आठ मानी गई है, जिनका ५१वीं कारिका में विस्तार से उल्लेख किया गया है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है—




**विशेष–** १. सांख्य ने जिसे अज्ञानरूप में बुद्धि का भाव माना है तथा जिसे विपर्यय भी कहा है, उसे ही वेदान्त 'अविद्या' कहता है। विष्णु पुराण में इसी को 'पञ्चपर्वा अविद्या' माना है, क्योंकि यह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश भेद से पाँच प्रकार की होती है। सांख्य ने भी इसके पाँच भेद स्वीकार किए हैं, किन्तु वे इनसे भिन्न नाम वाले हैं– तम, मोह, महामोह तामिस्र अन्धतामिस्र।

२. प्रत्ययसर्ग के चार प्रकारों के पचास उपभेदों में दो प्रमुख कारण हैं– प्रथम, सत्त्व, रजस् और तमस् की न्यूनाधिक मात्रा का होना। द्वितीय, इन तीनों गुणों की आपस में एक दूसरे को दबाकर अपने प्रभुत्व की स्थापना की प्रवृत्ति।

३. प्रस्तुत कारिका में प्रत्ययसर्ग का नामोल्लेख एवं उनके ५० भेदों के कारण का कथन किया गया है। इनकी विस्तृत चर्चा आगे ५१वीं कारिका तक की गई है।

**अवतरणिका–** इसप्रकार प्रत्ययसर्ग का नाम संकीर्तन करने के बाद क्रमशः उनकी विस्तृत व्याख्या का उपक्रम करते हुए सर्वप्रथम विपर्यय आदि के उपभेदों की संख्या का उल्लेख करने के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**पञ्चविपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।**
**अष्टाविंशतिभेदा, तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः॥४७॥**

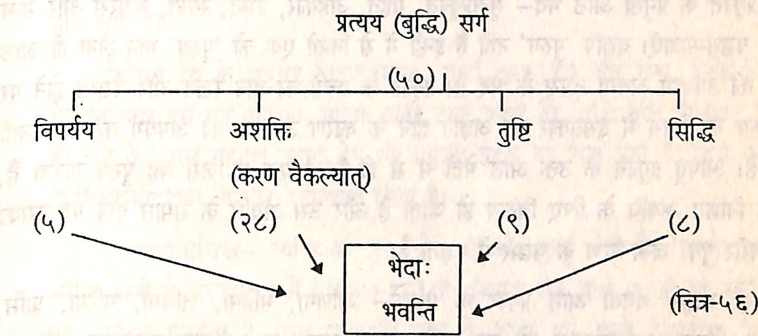
**पदच्छेद–** पञ्च (पाँच) विपर्यय भेदाः (विपर्यय के भेद) भवन्ति (होते हैं) अशक्तिः (अशक्ति) च (और) करण वैकल्यात् (करणों की विकलता से) अष्टाविंशति भेदाः (अट्ठाइस भेद वाली), तुष्टिः (तुष्टि) नवधा (नौ प्रकार की (होती है)) अष्टधा (आठ प्रकार की) सिद्धिः (सिद्धि (होती है))

**अन्वय–** विपर्ययभेदाः पञ्च भवन्ति, करणवैकल्यात् च अशक्तिः अष्टाविंशति भेदाः (भवति), तुष्टिः नवधा (भवति), सिद्धिः अष्टधा (भवति)।

**अनुवाद–** विपर्यय (अज्ञान) के पाँच भेद होते हैं, करणों की विकलता के कारण होने वाली (असमर्थता रूप) अशक्ति अट्ठाइसप्रकार की (होती है), तुष्टि नौ प्रकार की (होती है), सिद्धि आठ प्रकार की (होती है)।

**व्याख्या–** अज्ञानरूप विपर्यय के– तम, मोह, महामोह, तामिस्र एवं अन्धतामिस्र नामक पाँच भेद होते हैं। अशक्ति के भेदों की संख्या कुल मिलाकर अट्ठाइस मानी गई है, जिसमें १७ प्रकार बुद्धि के दोषों के तथा ११ इन्द्रियों के वध से सम्बन्धित माने गए हैं। तुष्टियों की संख्या नौ है– जिनमें प्रकृति, उपादान, काल और भाग नामक चार आध्यात्मिक तथा पाँच शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक विषयों के प्रति उपरतिरूप में मानी गई हैं। सिद्धियों की संख्या आठ कही गई है, इनमें तीन आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक तीन दुःखों की विनाशक तथा शेष पाँच अध्ययन, ऊह, शब्द, सुहृत्प्राप्ति एवं दान नाम वाली हैं।

इन सभी का विस्तृत विवेचन आगे की कारिकाओं में किया जाएगा, इसलिए यहाँ केवल भेदों की गणना संकेत रूप में की गई है। कारिका के अभिप्राय की इसप्रकार भी प्रस्तुति की जा सकती है–



(चित्र-५६)

**विशेष–** १. प्रस्तुत कारिका में चार प्रकार के प्रत्ययसर्ग के उपभेदों की संख्या का कथन किया गया है, विस्तृत विवेचन आगे की कारिकाओं में प्रस्तुत किया जाएगा।

**अवतरणिका–** प्रत्ययसर्ग के उपभेदों की संख्या का कथन करने के पश्चात् सर्वप्रथम 'विपर्यय' नामक भेद के उपभेदों की नामोल्लेख, पूर्वक विस्तृत चर्चा करते हुए कारिका का अवतरण करते हैं–

**भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।**
**तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः॥४८॥**

**पदच्छेद–** भेदः (भेद) तमसः (तमस् के) अष्टविधः (आठ प्रकार) मोहस्य (मोह के) च (और) दशविधः (दस प्रकार) महामोहः (महामोह) तामिस्रः (तामिस्र) अष्टादशधा (अट्ठारह प्रकार का) तथा (वैसे ही (अट्ठारह प्रकार)) भवति (होता है) अन्धतामिस्रः (अन्धतामिस्र)

**अन्वय–** तमसः मोहस्य च अष्टविधः भेदः, महामोहः दशविधः, तामिस्रः अष्टादशधा, अन्धतामिस्रः तथा (अष्टादशधा) भवति।

**अनुवाद–** (विपर्यय के भेदों में) तमस् और मोह के आठ (आठ) प्रकार, महामोह के दस प्रकार, तामिस्र के अट्ठारह प्रकार और अन्धतामिस्र, वैसे ही (अट्ठारह प्रकार का) होता है।

**व्याख्या–** प्रत्ययसर्ग के विपर्यय नामक भेद के पाँच भेदों का पूर्व कारिका में उल्लेख किया। यहाँ उनके भेदोपभेदों का परिगणन करते हुए उनका नामोल्लेख करते हैं– यह विपर्यय, तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र एवं अन्धतामिस्र भेद से प्रथम पाँच प्रकार का होता है। जिनका यहाँ विस्तार से उल्लेख किया जा रहा है।

१. **तमस्–** आत्मा से भिन्न प्रकृति, महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राओं को ही आत्मा मान लेना पहला तमस् नामक भेद है, जिसे 'अविद्या' भी कहते हैं। योगसूत्र में (२/५) इसे ही अन्य चार भेदों का मूल माना है। वहाँ इसकी परिभाषा करते हुए– 'अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा को क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मा मान लेना ही अविद्या कहा गया है।

प्रकृति के प्रमुख आठ भेद– मूलप्रकृति, महत्, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूपरस और गन्ध नामक पञ्चतन्मात्राएँ। यद्यपि 'पुरुष' नहीं हैं इन्हीं में से किसी एक को 'पुरुष' मान लेना ही आठ प्रकार की अविद्या अथवा तमस् के भेद हैं। प्रकृति के तत्त्वों का ज्ञान रखने और वैराग्य होने पर भी पुरुष के विषय में इसप्रकार का अज्ञान होने के कारण उपासक को अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होती है। अपितु प्रकृति के उक्त आठ भेदों में से ही किसी एक में जिसे वह पुरुष मानता है, उसका निश्चित अवधि के लिए विलय हो जाता है और उस अवधि के समाप्त होने पर उसका सूक्ष्मशरीर पुनः जन्म-मरण के चक्कर में पड़ता है।

२. **मोह–** देवता आठ प्रकार के ऐश्वर्यों– अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व एवं वशित्व, को प्राप्त करके अपने अमरत्व का अभिमान करते हुए भ्रान्ति के कारण इन्हें ही (ऐश्वर्यों को ये) नित्य मान लेते हैं। यही मोह अथवा 'अस्मिता' के रूप में माना गया है। यह भी ऐश्वर्यों की संख्या के अनुसार आठ प्रकार का होता है। अविद्या ही इसका मुख्य कारण है।

योगशास्त्र में दृक्शक्ति, चेतनपुरुष और दर्शनशक्ति, जडात्मिकाबुद्धि दोनों में भिन्नता होते हुए भी एकात्मकता की प्रतीति को ही अस्मिता कहा गया है। वस्तुतः यह एकात्मकता वास्तविक नहीं है। 'अस्मिता' में पुरुष स्वयं को 'मैं ही सुखी, दुःखी कर्ता और भोक्ता हूँ', इस रूप में मानता है।

३. **महामोह–** सांसारिक विषयों के सुख को प्राप्त करने के बाद उन्हें फिर से प्राप्त करने की अभिलाषा, इच्छा ही राग है, जिसे विपर्यय के भेद महामोह के रूप में कहा गया है, क्योंकि इसकी समाप्ति अत्यन्त कठिन होती है। इसमें विषय-सुखों को बार-बार प्राप्त करने की इच्छा रहती है, जो व्यक्ति के लिए कष्टदायिनी भी होती है।

क्योंकि यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक विषयों के सम्बन्ध में होता है। इसलिए प्रथम पाँच प्रकार का, पुनः दिव्य-अदिव्य भेद से प्रत्येक के दो प्रकार होने पर कुल दस प्रकार का हो जाता है। इसीलिए कारिकाकार ने रागात्मक महामोह को दस प्रकार का कहा है।

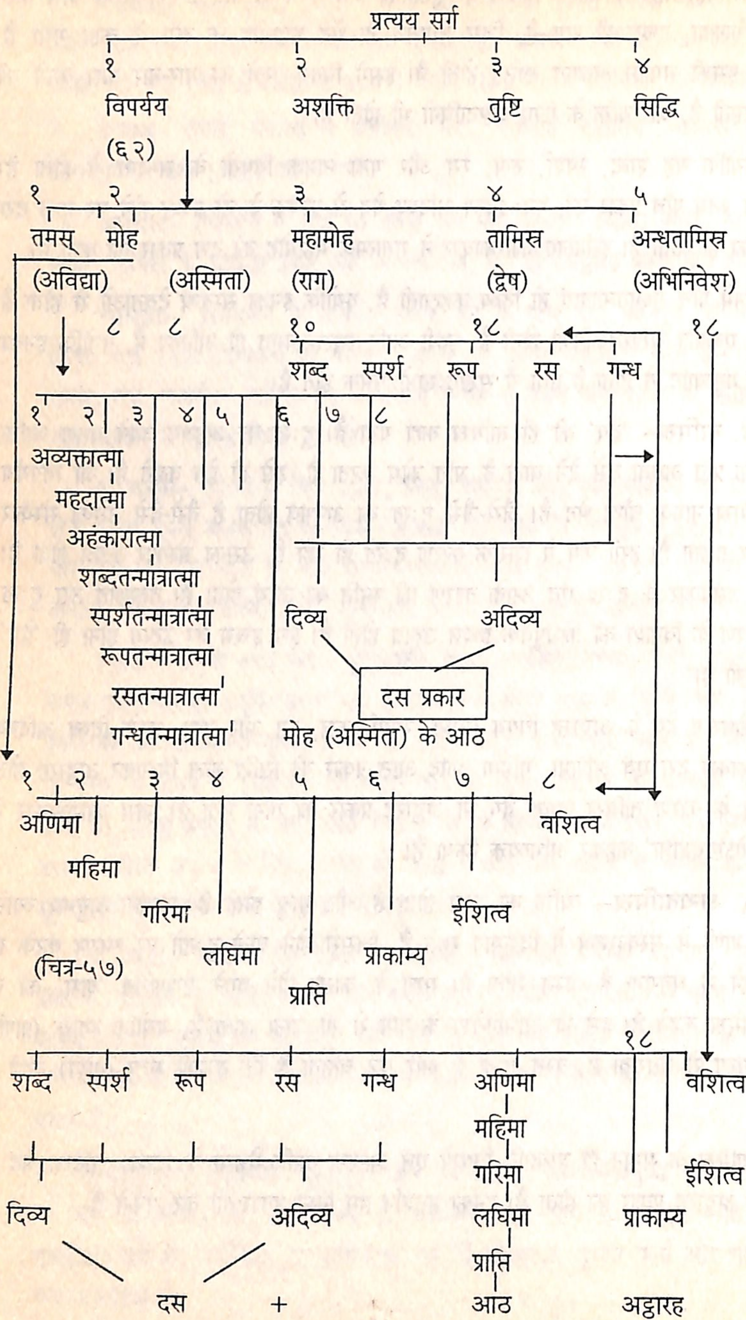
इनमें पाँच सूक्ष्मतन्मात्राएँ ही दिव्य कहलाती हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध देवताओं से होता है तथा ये एकमात्र सुखस्वरूपिणी होती हैं। पृथ्वी आदि स्थूलमहाभूत ही अदिव्य हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध मनुष्यादि से होता है तथा ये सुखदुःखमोहात्मक होते हैं।

४. **तामिस्र–** 'द्वेष' को ही तामिस्र कहा गया है। दुःख का अनुभव करने वाला व्यक्ति दुःख के प्रति अथवा उसे देने वाले के प्रति क्रोध करता है, इसे ही द्वेष कहते हैं। जो विपर्यय का तामिस्र नामक चौथा भेद है। जैसे-जैसे दुःख का अनुभव होता है वैसे-वैसे उसका संस्कार चित्त पर पड़ता है। इसी क्रम में जिसके कारण दुःख हो रहा है, उसका संस्कार उत्पन्न होता है। जिससे उसप्रकार के दुःख एवं उसके कारण की स्मृति का उदय होता है। तत्पश्चात् उस दुःख एवं कारण के विनाश की क्रोधपूर्वक इच्छा उत्पन्न होती है। इस इच्छा का उत्पन्न होना ही 'द्वेष' माना गया है।

क्रोधरूप द्वेष के अट्ठारह विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इनके दिव्य अदिव्य भेद मिलकर दस एवं अणिमा, महिमा आदि आठ प्रकार की सिद्धि कुल मिलाकर अट्ठारह होते हैं) होने के कारण तामिस्र नामक द्वेष भी अट्ठारह प्रकार का माना गया है। जिसे कारिकाकार ने 'तामिस्रोऽष्टादशधा' कहकर अभिव्यक्त किया है।

५. **अन्धतामिस्र–** व्यक्ति का जन्म होता है और मृत्यु होती है. जिसके अनुभव व्यक्ति अथवा प्राणी में संस्काररूप में विद्यमान रहते हैं, जिससे होने वाले दुःखों को स्मरण करके ही वह मरने से घबराता है, त्रस्त रहता है। मृत्यु के कारण होने वाले सम्भावित 'त्रास' को ही अन्धतामिस्र कहते हैं। इसे ही अभिनिवेश के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि व्यक्ति (प्राणी) सदैव मृत्यु से घबराता है, त्रस्त रहता है और वह चाहता है कि उसकी मृत्यु (नाश) कभी न हो।

तामिस्र के समान ही शब्दादि विषयों एवं अणिमा आदि ऐश्वर्यों के दिव्य, अदिव्य भेद से यह भी अट्ठारह प्रकार का होता है। इनका प्रदर्शन हम निम्न प्रकार भी कर सकते हैं–


प्रत्यय सर्ग
१
विपर्यय
(६२)
२
अशक्ति
३
तुष्टि
४
सिद्धि
१ तमस्
२ मोह
३ महामोह
४ तामिस्र
५ अन्धतामिस्र
(अविद्या)
(अस्मिता)
(राग)
(द्वेष)
(अभिनिवेश)
८
८
१०
१८
१८
शब्द
स्पर्श
रूप
रस
गन्ध
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
अव्यक्तात्मा
महदात्मा
अहंकारात्मा
शब्दतन्मात्रात्मा
स्पर्शतन्मात्रात्मा
रूपतन्मात्रात्मा
रसतन्मात्रात्मा
गन्धतन्मात्रात्मा
दिव्य
अदिव्य
दस प्रकार
मोह (अस्मिता) के आठ
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
अणिमा
महिमा
गरिमा
लघिमा
प्राप्ति
प्राकाम्य
ईशित्व
वशित्व
१८
शब्द
स्पर्श
रूप
रस
गन्ध
अणिमा
महिमा
गरिमा
लघिमा
प्राप्ति
वशित्व
ईशित्व
प्राकाम्य
दिव्य
अदिव्य
दस
+
आठ
अट्ठारह

(चित्र-५७)

**विशेष–** १. सूत्रात्मकशैली के कारण कारिकाकार ने यहाँ विपर्यय के पाँच भेदों का नामोल्लेख करके उनके उपभेदों की मात्रसंख्या का उल्लेख किया है। सम्पूर्ण सांख्य कारिका में इसी शैली को अपनाया गया है। इसप्रकार के स्थलों की व्याख्या का आधार सांख्य एवं योग-सूत्र आदि हैं, जहाँ इनकी विस्तार से चर्चा की गई है। अतः वे सांख्यकारिका के सहायकग्रन्थ के रूप में देखे जा सकते हैं।

२. कारिका में प्रयुक्त 'मोहस्य च' में समुच्चयार्थक 'च' पद के द्वारा तमस् के आठ भेदों के साथ भी अन्वय होने से 'मोह के भी आठ भेद होते हैं' इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

**अवतरणिका–** प्रत्ययसर्ग में 'विपर्यय' के कुल बासठ भेदोपभेदों का परिगणन करने के बाद द्वितीय भेद 'अशक्ति' के अट्ठाईस उपभेदों की गणना के लिए ग्रन्थकार अगली कारिका का अवतरण करते हैं–

**एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।**
**सप्तदश बधा बुद्धे र्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धिनाम्॥ ४९॥**

**पदच्छेद–** एकादश (ग्यारह) इन्द्रियवधाः (इन्द्रियों के उपघात) सह (साथ) बुद्धिवधैः (बुद्धि वधों के द्वारा) अशक्तिः (अशक्ति) उद्दिष्टा (कही गई है) सप्तदश (सत्रह) वधाः (वध, विकलता उपघात) बुद्धेः (बुद्धि के) विपर्ययात् (विपरीतभाव से) तुष्टिसिद्धीनाम् (नौ) तुष्टि और (आठ) सिद्धियों के)।

**अन्वय–** बुद्धिवधैः सह एकादश-इन्द्रियवधाः अशक्तिः उद्दिष्टा, तुष्टिसिद्धीनाम् विपर्ययात् बुद्धेः सप्तदश वधाः (भवन्ति)।

**अनुवाद–** बुद्धि के (स्वरूपगत) उपघातों के साथ ग्यारह इन्द्रियों की विकलता अशक्ति कही गई है। (नौ) तुष्टि और (आठ) सिद्धियों के विपर्ययभाव (अर्थात् अभाव) से बुद्धि के सत्रह उपघात (होते हैं)।

**व्याख्या–** कारिका में प्रयुक्त 'वध' का, उपघात, विनाश, विकलता, असमर्थता रूप अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग हुआ है। बुद्धि इन्द्रियों के माध्यम से विषयों को प्राप्त करती है। इनमें से किसी भी इन्द्रिय की असमर्थता अथवा विकलता आदि के कारण विषय के ज्ञान में बाधा ही 'अशक्ति' कहलाती है। जैसे यदि नेत्र किसी रोगादि से काम करना बन्द कर दे अथवा विनष्ट हो जाए तो इसे नेत्र का वध या उपघात कहेंगे और यह 'अशक्ति' का 'अन्धत्व' नामक एक भेद होगा।

मन सहित इन्द्रियों की संख्या ग्यारह मानी गई है। इनमें से किसी भी एक या अनेक के विनाश से होने वाली असमर्थता 'अशक्ति' के ग्यारह भेद हुए। नौ प्रकार की तुष्टि और आठ प्रकार की सिद्धि जो वस्तुतः बुद्धि से ही सम्बद्ध (प्रपञ्च) हैं। इनकी असफलता भी 'अशक्ति' के अन्तर्गत ही परिगणित होने के कारण सत्रह बुद्धिवध माने गए हैं, जिनमें ग्यारह इन्द्रियवध मिलकर कुल अट्ठाईस 'अशक्ति' के भेद हो जाते हैं। जिनका यहाँ संक्षेप में क्रमशः उल्लेख किया जा रहा है–

इन्द्रियविषयक अशक्ति (असमर्थता) के ग्यारह प्रकार–

**(क) ज्ञानेन्द्रियविषयक**

१. **बाधिर्य**– श्रोत्रेन्द्रिय के दोष के कारण शब्द को ठीकप्रकार से ग्रहण न कर पाना, असमर्थता ही बाधिर्य होता है।

२. **कुष्ठिता**– त्वगेन्द्रिय 'स्पर्शरूप' ज्ञान को ग्रहण करती है, किन्तु किसी दोष आदि के कारण स्पर्श ज्ञान को ठीकप्रकार से ग्रहण न कर पाना ही कुष्ठिता नामक अशक्ति है।

३. **अन्धत्व**– नेत्रेन्द्रिय में दोष के कारण उसके विषय 'रूप' को ग्रहण न कर पाना ही अन्धत्व नामक अशक्ति है।

४. **जडता**– रसनेन्द्रिय जिह्वा जब किन्ही कारणों से रस का ग्रहण नहीं कर पाती, वस्तु के स्वाद का अनुभव करने में असमर्थ होती है। वह जडता नामक 'अशक्ति' कहलाएगी।

५. **अजिघ्रता**– घ्राणेन्द्रिय का कार्य गन्ध को ग्रहण करना है, किन्तु यदि किसी कारण यह इसे ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती है तो 'अजिघ्रता' नामक 'अशक्ति' का भेद कहा जाएगा।

**(ख) कर्मेन्द्रिय विषयक**

६. **मूकता**– वाणी के दोष के कारण व्यक्ति का बोल न पाना ही 'मूकता' नाम अशक्ति का भेद है।

७. **कौण्ड्य**– यदि व्यक्ति किसी दोष के कारण हाथ से कोई वस्तु न पकड़ सके तो यह कौण्ड्य नामक अशक्ति का भेद होगा।

८. **पंगुत्व**– पैरों के द्वारा कहीं जाने आने में असमर्थता 'पंगुत्व' अशक्ति है।

९. **उदावर्त**– किसी कारण मल-मूत्र के विसर्जन में उत्पन्न असमर्थता 'उदावर्त' नामक अशक्ति का भेद होता है।

१०. **क्लैव्य**– इसके कारण व्यक्ति मैथुन क्रिया में समर्थ नहीं हो पाता। यह उपस्थ नामक इन्द्रिय में दोष के कारण होता है।

११. **मन्दता**– इसके कारण व्यक्ति विषय को ग्रहण करने में असमर्थ होता है। मन में दोष के कारण यह उत्पन्न होता है, क्योंकि मन उभयात्मक इन्द्रिय है। अतः इसका सम्बन्ध दोनों से होता है।

ये ग्यारह प्रकार की 'अशक्ति' करण अर्थात् इन्द्रियों से सम्बद्ध होने के कारण करणगत भी मानी गई हैं। तुष्टियों की संख्या नौ तथा सिद्धियों की संख्या आठ मानी गई है। इनके अभाव से जो अशक्ति उत्पन्न होती है, उनकी संख्या इन दोनों के योग के बराबर सत्रह मानी गई है। अतः अब हम बुद्धि के स्वरूपगत सत्रह प्रकार की अशक्तियों का उल्लेख करेंगे।

(ग) **अतुष्टि विषयक** अशक्ति के नौ प्रकार–

१. **असुवर्णा**– मूलप्रकृति की सत्ता को स्वीकार न करना 'असुवर्णा' नामक अतुष्टि कही गई है।

२. **अनिला–** महत् तत्त्व की सत्ता को स्वीकार न करने वाली अतुष्टि 'अनिला' माना गई है, इसी को 'अज्ञानमलिना' भी कहा गया है।

३. **मनोज्ञा–** अहंकार के अभाव की प्रतीति ही 'मनोज्ञा' नामक अतुष्टि है।

४. **अदृष्टि–** आकाशादि महाभूत एवं तन्मात्राओं का कोई अस्तित्व नहीं है, ऐसा मानना 'अदृष्टि' नामक अतुष्टि है।

५. **अपरा–** धन कमाने में प्रवृत्त होना 'अपरा' नामक अतुष्टि कही गई है।

६. **सुपरा–** कमाए हुए धन की रक्षा में प्रवृत्त होना 'सुपरा' नामक अतुष्टि मानी गई है।

७. **असुनेत्रा–** कमाए हुए धन के विनाश में किसी प्रकार का दोष न मानना असुनेत्रा नामक अतुष्टि है।

८. **वसुनाडिका–** भोगों में आसक्ति का होना ही वसुनाडिका अतुष्टि है।

९. **अनुत्तमाम्भसिका–** हिंसा आदि दोषों की उपेक्षापूर्वक भोगों में प्रवृत्ति ही 'अनुत्तमाम्भसिका' अतुष्टि मानी गई है।

(छ) **असिद्धि विषयक** अशक्ति के आठ प्रकार–

१. **अप्रतार–** बिना अध्ययन के ही किसी भी तत्त्व का आविर्भाव, प्रकट होना अप्रतार नामक अशक्ति है।

२. **असुतार–** शास्त्रों के विधिवत् अध्ययन न करने पर अन्य अर्थ का कथन करने वाले शब्द का अन्य ही अर्थ करना, 'असुतार' नामक असिद्धि, अशक्ति का भेद है।

३. **अतारतार–** शास्त्रों के ठीक प्रकार से ऊहापोह के बिना उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही 'अतारतार' नामक असिद्धि होता है, जो अशक्ति का भेद है।

४. **असदामुदित–** दक्षिणा न देने के कारण असन्तुष्ट गुरु से उत्पन्न वासना आदि का उच्छेदन होना ही 'असदामुदित' नामक असिद्धि है।

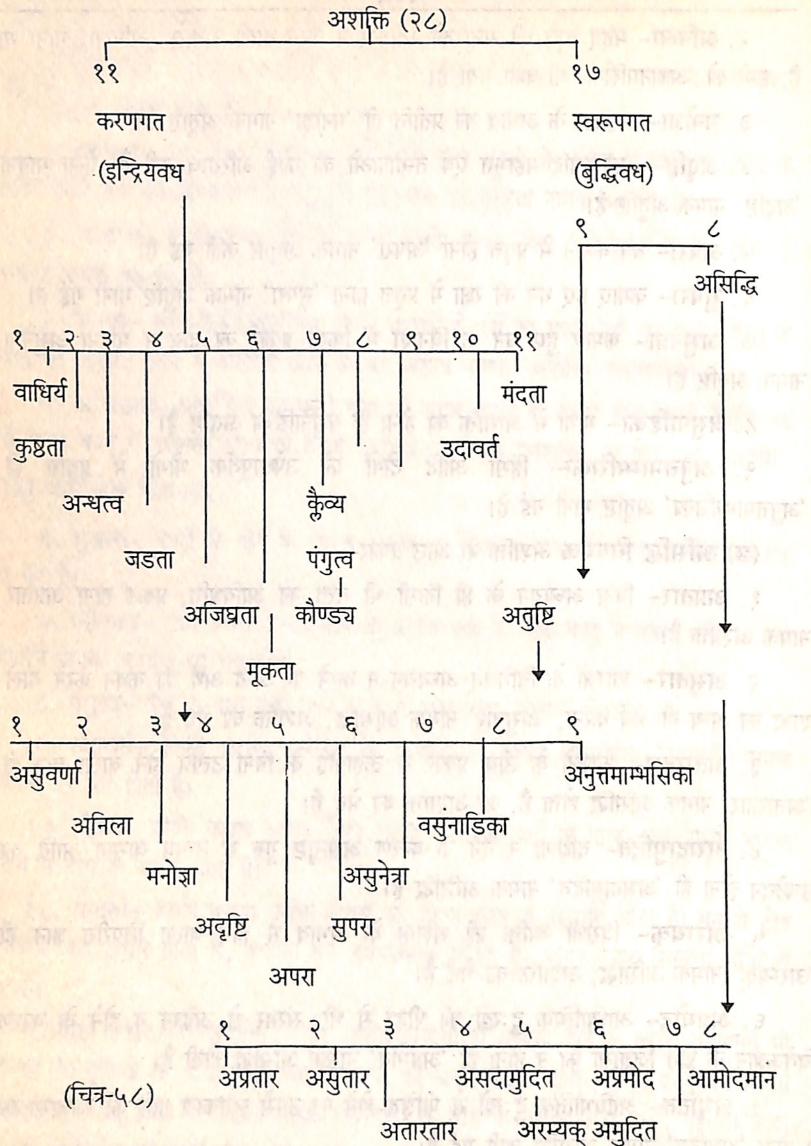
५. **अरम्यक्–** विरोधी व्यक्ति की सलाह के अभाव में होने वाला विपरीत ज्ञान ही 'अरम्यक्' नामक असिद्धि, अशक्ति का भेद है।

६. **अप्रमोद–** आध्यात्मिक दुःखों की पीड़ा से भी, संसार से उद्विग्न न होने के कारण विवेकज्ञान के प्रति जिज्ञासा का न होना ही 'अप्रमोद' नामक असिद्धि होती है।

७. **अमुदित–** आधिभौतिक दुःखों से पीड़ित होने पर उनसे छुटकारा पाने की जिज्ञासा का न होना 'अमुदित' नामक असिद्धि कही गई है।

८. **आमोदमान–** आधिदैविक दुःखों से बुरी तरह परेशान होने पर भी कामिनी आदि में आसक्ति के कारण उसके निवारणार्थ इच्छा का न होना 'आमोदमान' असिद्धि मानी गई है।

इसप्रकार ग्यारह इन्द्रियवध, नौ अतुष्टियाँ एवं उपरोक्त आठ असिद्धि इन सबको मिलाकर कुल अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति कही गई हैं। जिन्हें इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–




(चित्र-५८)

**अवतरणिका–** इसप्रकार प्रत्यय सर्ग के चार प्रमुख भेदों में से 'विपर्यय' एवं 'अशक्ति' का निरूपण करने के बाद तृतीय भेद 'तुष्टि' के भेदोपभेदों का परिगण करने हेतु अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभागाख्याः।**
**बाह्या विषयोपरमात् पञ्च च नव तुष्टयोऽभिमताः॥ ५०॥**

**पदच्छेद–** आध्यात्मिक्यः (आध्यात्मिक, आभ्यन्तर) चतस्रः (चार) प्रकृति-उपादान-काल-भाग आख्यः (प्रकृति, उपादान, काल एवं भाग नामक) बाह्याः (बाह्य तुष्टियाँ) विषय-उपरमात् (विषयों के प्रति वैराग्य से) पञ्च (पाँच) च (और) नव (नौ) तुष्टयः (तुष्टियाँ) अभिमताः (मानी गयी हैं)

**अन्वय–** प्रकृति-उपादान-काल-भागाख्यः चतस्रः आध्यात्मिक्यः, विषयोपरमात् पञ्च बाह्याः (भवन्ति) (एवम्) नवतुष्टयः अभिमताः।

**अनुवाद–** प्रकृति, उपादान, काल, भाग नामक चार आध्यात्मिक (आन्तरिक) तुष्टियाँ (हैं) विषयों के प्रति वैराग्य के कारण पाँच बाह्य (तुष्टियाँ होती हैं), (इसप्रकार कुल) नौ तुष्टियाँ मानी गई हैं।

**व्याख्या–** किसी भी वस्तु, व्यक्ति, विचार आदि के सम्बन्ध में परेशान, बेचैन न होना, संतोष कर लेना ही तुष्टि का स्वरूप होता है। ये आन्तरिक और बाह्यरूप में प्रथमतः दो प्रकार की होती हैं। पुनः आन्तरिक के चार प्रभेद (प्रकृति, उपादान, काल और भाग) होते हैं। बाह्य तुष्टियों के पाँच प्रभेद (पार, सुपार, पारापार, अनुत्तमाम्भस् और उत्तमाम्भस्) गिनाए गए हैं। इनका हम यहाँ क्रमशः विवेचन प्रस्तुत करते हैं–

(क) **आभ्यन्तर (आध्यात्मिक) चार तुष्टियाँ–** आत्मतत्त्व से भिन्न प्रकृति आदि को ही आत्मा अथवा विवेकज्ञान मानकर संतुष्ट हो जाना तथा विवेकज्ञान के लिए श्रवण, मनन आदि प्रयत्नों का न करना ही आध्यात्मिक तुष्टि कहलाती है, क्योंकि ये प्रकृति से भिन्न आत्मा के सम्बन्ध में होती हैं। ये चार प्रकार की हैं–

१. **प्रकृति–** 'विवेक-ज्ञान' वस्तुतः प्रकृति का ही एक परिणाम है, जिसे प्रकृति स्वयं उत्पन्न करती है। इसलिए विवेकज्ञान हेतु ध्यान आदि का अभ्यास करना व्यर्थ अपने शरीर को कष्ट देना है। अतः कुछ भी प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। इसप्रकार उपदिष्ट शिष्य को प्रकृति के सम्बन्ध में जो तुष्टि होती है, उसे ही 'प्रकृति' नामक तुष्टि कहा गया है। इसी का दूसरा नाम 'अम्भस्' भी है, क्योंकि यह जल के समान निर्मल शाब्दिक उपदेश के समान होती है।

२. **उपादान–** 'विवेकज्ञान' वस्तुतः संन्यास से होता है। अतः संन्यास धारण करना चाहिए। इसके लिए ध्यान आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। इसप्रकार के उपदेश से होने वाली तुष्टि को 'उपादान' कहा जाता है। इसका दूसरा नाम 'सलिल' भी है, क्योंकि जिसप्रकार बीज से अंकुर की उत्पत्ति में जल सहायक होता है। ठीक उसीप्रकार तत्त्वज्ञान के प्रति संन्यास सहायक होता है।

३. **काल–** विवेक-ख्याति, संन्यास ग्रहण कर लेने मात्र से नहीं होगी, इसके लिए तुम्हें उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करनी होगी, क्योंकि समय आने पर सिद्धि अपने आप ही प्राप्त हो

जाएगी। इसलिए तुम्हें व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं है। इसप्रकार के उपदेश से होने वाली तुष्टि को 'काल' संज्ञा दी गई है। इसी का दूसरा नाम 'औघ' भी है।

४. **भाग–** यहाँ भाग से अभिप्राय 'भाग्य' से है। विवेक-ज्ञान न तो प्रकृति से होता है, न संन्यास ग्रहण करने से और न ही समय की प्रतीक्षा से, अपितु यह तो एकमात्र भाग्य से होता है। मदालसा के पुत्रों को ही देखिए, भाग्य की प्रबलता से बाल्यावस्था में ही माता के उपदेश के द्वारा विवेकख्याति होने से मुक्त हो गए। इसलिए विवेक-ज्ञान में भाग्य ही एक मात्र कारण है, अन्य कोई नहीं, अतः इसके लिए प्रयास करना व्यर्थ है। इसप्रकार के उपदेश के द्वारा होने वाली तुष्टि 'भाग' नामक तुष्टि कही गई है। इसी को 'वृष्टि' भी कहा जाता है।

इन चार प्रकार की आध्यात्मिक तुष्टियों का उल्लेख कारिका के पूर्वार्द्ध में किया गया। 'आत्मानम् अधिकृत्य जायमाना' व्युत्पत्ति की दृष्टि से ही इन्हें आध्यात्मिक कहा गया है। इन्हीं को आभ्यन्तर भी कहते हैं। अब हम पाँच प्रकार की बाह्य तुष्टियों का उल्लेख करेंगे।

**(ख) बाह्य पाँच तुष्टियाँ–** महत्, अहंकार आदि को ही आत्मा मानकर संसार से उपरक्त होना बाह्य तुष्टि है। जिसे कारिका में 'विषयोपरमात्' के द्वारा कहा गया है। उपरम का अभिप्राय है– 'वैराग्य' तथा 'विषय' पद यहाँ शब्द आदि भोग्य पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि इन तुष्टियों का सम्बन्ध बाह्य विषयों से है, इसी कारण इन्हें बाह्य तुष्टि के नाम से कहा जाता है। ये तुष्टि आत्मज्ञान के अभाव में अनात्मा के बाह्य विषयों में प्रवृत्त होने एवम् उनके सम्बन्ध में वैराग्य होने पर होती हैं। शब्द आदि भोग्य विषयों की संख्या पाँच है। अतः उनसे सम्बन्धित वैराग्य भी पाँच प्रकार का होता है, जो विषयों के अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग और हिंसा आदि के कारण उत्पन्न होता है। अब हम इनसे होने वाली पाँच तुष्टियों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

१. **पार–** सेवा आदि सभी प्रकार के उपाय अत्यन्त दुःख प्रदान करने वाले हैं यह विचार कर सांसारिक विषयों के प्रति उत्पन्न होने वाली वैराग्यभावना से उत्पन्न होने वाली तुष्टि 'पार' कहलाती है।

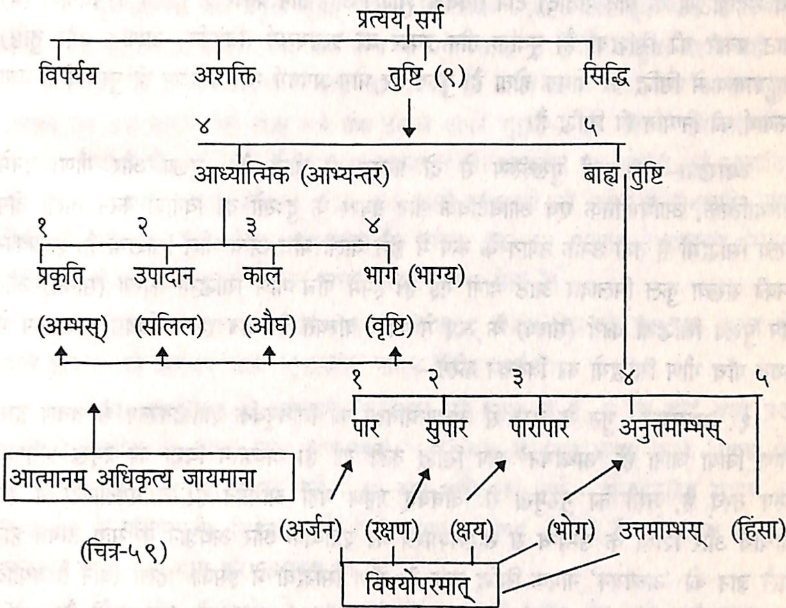
२. **सुपार–** उपार्जित धन के राजा, चोर, अग्नि, बाढ़ आदि के द्वारा नष्ट होने की सम्भावना एवं उसकी रक्षा में होने वाले अत्यधिक कष्ट को सोचकर विषयों के प्रति होने वाले वैराग्य से होने वाली तुष्टि को 'सुपार' कहा गया है।

३. **पारापार–** अत्यधिक परिश्रम से अर्जित किया गया भी धन भोग द्वारा नष्ट हो जाएगा, इसप्रकार उसके विनाश का चिन्तन करने वाले व्यक्ति को विषयों से वैराग्य होने पर होने वाली तुष्टि 'पारापार' कही जाती है।

४. **अनुत्तमाम्भस्–** शब्द आदि सांसारिक भोगों को भोगने से कामनाएँ बढ़ती हैं। पुनः उनके न मिलने पर दुःख (कष्ट) होता है। इसप्रकार भोगों में दोषों का चिन्तन करते हुए उनके प्रति वैराग्य होने के परिणामस्वरूप होने वाली तुष्टि 'अनुत्तमाम्भस्' कहलाती है।

५. **उत्तमाम्भस्**– प्राणियों को बिना कष्ट दिए उनकी हिंसा आदि के अभाव में किसी भी सांसारिक विषय का उपभोग सम्भव नहीं है। इसप्रकार सोचकर भोगों में हिंसा का दोष देखने के कारण विषयों के प्रति होने वाले वैराग्य से होने वाली तुष्टि ही 'उत्तमाम्भस्' नामक तुष्टि मानी गई है।

इसप्रकार पहले कही गई चार प्रकार की आध्यात्मिक और उक्त पाँच प्रकार की बाह्य तुष्टियों को मिलाकर तुष्टियों के कुल नौ भेद हो जाते हैं। जिन्हें इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है।



(चित्र-५९)

**विशेष**– १. कारिका में प्रयुक्त आध्यात्मिक्यः के स्थान पर कुछ भाष्यकारों ने 'आध्यात्मिकाः' पाठभेद स्वीकार किया है। इसीप्रकार 'भाग' पाठ उचित माना है।

२. जन्मजन्मान्तर में किए गए कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट ही वर्तमान जन्म में फलवान् होता है, जिसे भाग्य कहते हैं। (पूर्वजन्म कृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते)।

**अवतरणिका**– प्रत्ययसर्ग में विपर्यय, अशक्ति एवं तुष्टि की विस्तृत व्याख्या के बाद चतुर्थ भेद सिद्धि का गौण और मुख्य भेदों के साथ विस्तृत परिचय प्रदान करने के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।**
**दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥५१॥**

**पदच्छेद–** ऊहः (तर्क), शब्दः (उससे उत्पन्न अर्थ ज्ञान) अध्ययनम् (अध्ययन) दुःख विघाताः (दुःखों का विनाश), त्रयः (तीन प्रकार के) सुहृत्प्राप्तिः (गुरु, शिष्य और सहपाठियों के साथ संवाद) दानम् (दान) च (और) सिद्धयः (सिद्धियाँ) अष्टौ (आठ) सिद्धेः (सिद्धि के) पूर्वः पूर्वोक्त अङ्कुशः (अंकुश रूप में बाधक, विरोधी) त्रिविधः तीन प्रकार के)

**अन्वय–** अध्ययनम्, शब्दः ऊहः सुहृत्प्राप्तिः, दानम्, त्रयः दुःखविधाताः च अष्टौ सिद्धयः (सन्ति), पूर्वः त्रिविधः सिद्धेः अङ्कुशः (भवति)

**अनुवाद–** अध्ययन, शब्द (उससे उत्पन्न अर्थ ज्ञान) तर्क (मनन) सुहृत्प्राप्ति (गुरु, शिष्य एवं सहपाठियों के साथ संवाद) दान (विवेक शुद्धि) और तीन प्रकार के दुःखों का विनाश (ये) आठ प्रकार की सिद्धियाँ हैं। पूर्वोक्त तीन प्रकार का प्रत्ययसर्ग (विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि) अङ्कुशरूप में सिद्धि का बाधक होता है। पुरुष का भोग-अपवर्ग रूप प्रयोजन ही पुरुषार्थ है तथा पुरुषार्थ की निष्पत्ति ही सिद्धि है।

**व्याख्या–** सिद्धियाँ मुख्यरूप से दो प्रकार की होती हैं– मुख्य और गौण। इनमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों का विनाश करने वाली तीन मुख्य सिद्धियाँ हैं तथा उनके उपाय के रूप में होने वाली पाँच अन्य गौण सिद्धियाँ हैं। इसप्रकार इनकी संख्या कुल मिलाकर आठ मानी गई है। इनमें पाँच गौण सिद्धियाँ कारण (साधन) और तीन मुख्य सिद्धियाँ कार्य (साध्य) के रूप में भी अवस्थित है। अब हम सर्वप्रथम कारणरूप में स्थित पाँच गौण सिद्धियों का विवेचन करेंगे–

१. **अध्ययन–** गुरु के मुख से अध्यात्मविद्या का विधिपूर्वक शाब्दिकरूप से श्रवण द्वारा ग्रहण किया जाना ही 'अध्ययन' रूप सिद्धि कही गई है। अध्यात्म विद्या का प्रमुख प्रतिपाद्य पुरुष तत्त्व है, उसी का गुरुमुख से विधिवत् ग्रहण यहाँ अभिप्रेत है। जयमंगलाकार ने इसे आचार्य और शिष्य के सम्बन्ध से सांख्यशास्त्र का शाब्दिक और अर्थज्ञान के साथ उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'अध्ययन' नामक सिद्धि कहा है। गौण सिद्धियों में इसका पहला स्थान है क्योंकि शेष चार गौण सिद्धियों का यही एक मात्र हेतु है। इसी का दूसरा नाम 'तारम्' भी है। क्योंकि संसार रूपी भव सागर से पार उतारने वाला यह प्रथम सेतु है।

२. **शब्द–** अध्ययन का कार्यरूप 'शब्द' दूसरी गौण सिद्धि है। 'शब्द' पद के द्वारा यहाँ उससे होने वाले अर्थज्ञान की भी प्रतीति हो रही है, क्योंकि अर्थज्ञान ही अज्ञान का विनाश करते हुए विवेकज्ञान कराने में सक्षम होता है, केवल उच्चारण किया गया शब्द नहीं। इसप्रकार इसे शब्दपाठ (उच्चारण) एवं अर्थज्ञान की दृष्टि से दो प्रकार का कहा जा सकता है। इसी का दूसरा नाम 'सुतारम्' भी है, क्योंकि शब्द से उत्पन्न होने वाले अर्थज्ञान द्वारा संसाररूपी समुद्र का पार किया जाना (तारण) लगभग निश्चित ही है। जयमंगलाकार ने दूसरे के द्वारा किए गए सांख्यशास्त्र के पाठ अर्थात् पारायण को सुनकर उत्पन्न होने वाले तत्त्वज्ञान को 'शब्द नामक सिद्धि कहा है।

३. **ऊह**– 'ऊह वितर्के' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अभिप्राय है तर्क। तर्कों के द्वारा सांख्यशास्त्र के अर्थ का परीक्षण ही तर्क है। इसे ही 'ऊह' नामक सिद्धि कहा गया है। यह परीक्षण पूर्वपक्ष के निराकरण द्वारा उत्तरपक्ष अथवा सिद्धान्तपक्ष को स्थापित करने के द्वारा सम्पन्न होता है। इसी को विद्वानों ने 'मनन' संज्ञा भी दी है। इसी का दूसरा नाम 'तारतार' भी है, क्योंकि यह सिद्धि पहले कही गई तारम् और सुतारम् सिद्धियों से बढ़कर होती है।

जयमंगलाकार ने पूर्व जन्मों के अभ्यास के कारण उपदेश के बिना ही स्वयं तत्त्वज्ञान होना ही 'ऊह' नामक सिद्धि कहा है।

४. **सुहृत्प्राप्ति**– यहाँ प्रयुक्त सुहृत् पद से अभिप्राय– गुरु, शिष्य एवं साथ में अध्ययन करने वाले सहपाठियों से है। उनका प्राप्त होना भी एक सिद्धि ही है जो वस्तुतः पहले कही गई अध्ययन नाम सिद्धि के फलरूप में कही जा सकती है। अपने आप किया गया अध्येयन एवं चिन्तन तब तक सार्थक नहीं होता जब तक उसकी अपने सुहृदों– गुरु, शिष्य एवं सहपाठियों के साथ चर्चा न हो, उन सभी के द्वारा वह सम्मत न हो। इसप्रकार गुरु, शिष्य एवं सहपाठियों के रूप में सहमति अथवा मान्यता प्रदान करने वाले संवादकों की प्राप्ति ही सुहृत्प्राप्ति नामक सिद्धि है। इसी को 'रम्यक' पद कहा जाता है। 'रमन्त अत्र' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'रम्यक' अधिकरण में यत् तथा स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।

जयमंगलाकार ने तत्त्व को जान चुकने वाले सुहृद् अर्तात् मित्र को प्रास कर उत्पन्न होने वाले ज्ञान को ही ज्ञानरूप वाली 'सुहृत्प्राप्ति' नामक सिद्धि कहा है।

५. **दान**– यहाँ दान से अभिप्राय विवेकज्ञान की शुद्धि से है, न कि कोई वस्तु प्रदान करने से, क्योंकि यह 'दान' शब्द शोधनार्थक '√ दै' धातु से ल्युट् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है, 'डुदाञ् दाने' धातु से निष्पन्न नहीं होता। यहाँ शुद्धि का अर्थ– वासनासहित संशय और मिथ्याज्ञान के परिहारपूर्वक विवेकज्ञान के निर्मलप्रवाह में स्थित होने से है। जो लम्बे समय के लगातार अभ्यास के द्वारा परिपक्व होता है।

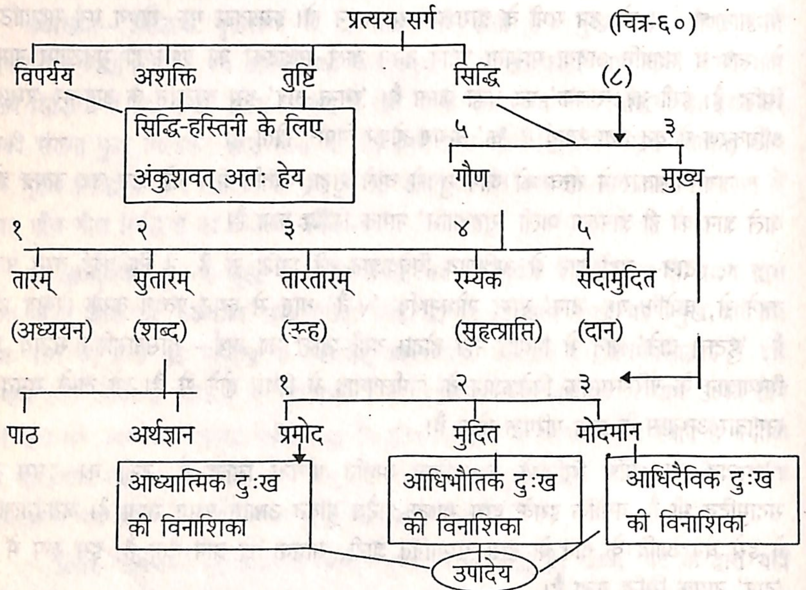
यह गौण पाँच सिद्धियों में अन्तिम अर्थात् पाँचवीं सिद्धि है। इसी का दूसरा नाम सदामुदित भी है, क्योंकि इसके द्वारा साधक सदैव मुदित अर्थात् प्रसन्न रहता है। जयमंगलाकार ने इसे धन आदि के दान के द्वारा सम्मानित ज्ञानी, साधक को ज्ञान देता है, इस रूप में इसे 'दान' नामक सिद्धि कहा है।

इसप्रकार पाँच गौण सिद्धियों की व्याख्या के बाद मुख्य सिद्धियों का कथन करते हैं, जो तीन प्रकार के दुःखों, जिनका विनाश (आत्यन्तिक निवृत्ति) व्यक्ति का मूल उद्देश्य है, की विनाशक होने के तीन प्रकार की कही गई हैं। इन्हें क्रमशः मोद, मुदित और मोदमान कहा गया है।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक जिन त्रिविध दुःखों का विवेचन ग्रन्थ के आरम्भ में किया गया है, जिसे त्रिविधताप भी कहा जाता है। उसका आत्यन्तिक विनाश ही परम पुरुषार्थ है। इनमें प्रत्येक प्रकार के दुःख का उच्छेद एक-एक सिद्धि मानी गई है। अर्थात् १.

आध्यात्मिक दुःखों की विनाशिका 'मोद' नामक सिद्धि, २. आधिभौतिक दुःखों का विनाश करने वाली 'मुदित' नामक सिद्धि दूसरी एवं ३. आधिदैविक दुःखों की उच्छेदिका 'मोदमान' नामक सिद्धि होती है। इसप्रकार पाँच गौण एवं तीन मुख्य कुल मिलाकर आठ सिद्धियाँ होती हैं। (अष्टौ सिद्धयः)।

कारिका के अन्तिमचरण में ग्रन्थकार ने प्रत्ययसर्ग में इसकी महत्ता प्रतिपादित करते हुए उन्हें अंकुश के समान बताया है, अर्थात् ५६वीं कारिका में कहे गए बुद्धि की सृष्टि विपर्यय, तुष्टि एवं सिद्धि, के चार प्रकारों में से पूर्व के तीन (विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि) सिद्धिस्वरूपा हस्तिनी के लिए अंकुश के समान हैं। अतः सिद्धि के विरोधी होने से मुमुक्षुओं के लिए त्याज्य है, क्योंकि सिद्धियों के द्वारा ही तत्त्वज्ञान होता है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। इसप्रकार बुद्धि-सर्ग में प्रथम तीन हेय तथा चतुर्थ 'सिद्धि' उपादेय है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं—




**विशेष–** १. सामान्यतया अणिमा, महिमा आदि आठ सिद्धियों के रूप में प्रसिद्ध हैं, किन्तु सांख्यशास्त्र की दृष्टि से वे सिद्धियाँ न होकर आठ प्रकार के ऐश्वर्य होते हैं। इन सिद्धियों का सीधा सम्बन्ध तत्त्वज्ञान से है।

२. 'तारम्' एवं 'सुतारम्' का, जिन्हें यहाँ 'अध्ययन' और 'शब्द' द्वारा कहा गया है, उपनिषदों में केवल 'श्रवण' नामक तत्त्व में अन्तर्भाव किया है।

३. दुःखनिवृत्ति पुरुष का मुख्य प्रयोजन है, जिसमें शब्दादि सिद्धि सहायक होती हैं, अतः दुःखनिवृत्तिरूप कार्य में कारण होने से उन्हें गौण कहा गया है। प्रयोजन सदैव मुख्य होता है, इसीलिए प्रमोदादि को मुख्यसिद्धि कहा है।

४. आचार्य गौडपाद ने त्रिविध अंकुश की भिन्नप्रकार से व्याख्या की है। उनके अनुसार– जिसप्रकार हाथी अंकुश धारण करने वाले के वश में होता है। ठीक उसीप्रकार विपर्यय, अशक्ति एवं तुष्टि के द्वारा वशीभूत व्यक्ति अज्ञान प्राप्त करता है। अतः साधक को उनके वश से निकलकर सिद्धियों का सेवन उचित है, क्योंकि सिद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान और उससे मोक्ष (कैवल्य) की प्राप्ति होती है।

५. आचार्य गौडपाद ने– बुद्धि, अहंकारादि पुरुषतत्त्व से भिन्न है, ऐसी ज्ञानात्मक सिद्धि को 'ऊह'। शब्द ज्ञान से महदहंकारादि पच्चीस तत्त्वों के ज्ञानपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति को 'शब्द' नामक सिद्धि। वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से तत्त्वज्ञान पूर्वक होने वाली मोक्ष प्राप्ति को 'अध्ययन' नामक सिद्धि। तीन प्रकार के दुःखों के नाश के लिए सद्गुरु के उपदेश से प्राप्त होने वाले मोक्ष को चौथी सिद्धि, जो दुःख भेद से तीन प्रकार की होती है तथा मित्र के ज्ञान से मुक्त होने को 'सुहृत्प्राप्ति' नामक सातवीं सिद्धि एवं सन्त महात्माओं को भोजन-वस्त्रादि का दान करके उनकी कृपा से होने वाले विवेकज्ञान को आठवीं 'दान' नामक सिद्धि माना है।

६. इस कारिका तक ग्रन्थकार ने बुद्धिसर्ग के ५० भेदों की विस्तृत-व्याख्या प्रस्तुत की है।

**अवतरणिका–** इसप्रकार ग्रन्थकार धर्म अधर्म आदि भावों से युक्त अथवा विपर्यय, अशक्ति आदि भेदों से युक्त 'बौद्धिक सृष्टि' (बुद्धि सर्ग) का तथा तन्मात्राओं से उत्पन्न होने वाली 'भौतिक-सृष्टि' का विस्तृत वर्णन करने के बाद इन दोनों की उपयोगिता बताते हुए अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।**
**लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः॥५२॥**

**पदच्छेद–** न (नहीं) विना भावैः (बौद्धिक सृष्टि के बिना) लिङ्गम् (तन्मात्राओं से उत्पन्न भौतिक सृष्टि) न (नहीं) विना लिङ्गेन (भौतिक सृष्टि के बिना) भावनिर्वृत्तिः (बुद्धि सृष्टि की निष्पत्ति) लिङ्गाख्यः (लिङ्गनामक तन्मात्रिक सृष्टि) भावाख्यः (भाव नामक प्रत्यय सर्ग) तस्मात् (इसलिए) द्विविधः (दो प्रकार की) प्रवर्तते (प्रवृत्त होती है) सर्गः (सृष्टि)।

**अन्वय–** भावैः विना लिङ्गम् न, न लिङ्गेन विना भावनिर्वृत्तिः (भवति) तस्मात् लिङ्गाख्यः भावाख्यः द्विविधः सर्गः प्रवर्तते।

**अनुवाद–** भावों (प्रत्ययसर्ग) के बिना लिङ् (तन्मात्रसर्ग उत्पन्न) नहीं (होता) न ही लिङ्गसर्ग के बिना बुद्धिसृष्टि की निष्पत्ति (सम्भव है)। अतः लिङ्ग और भाव नामक दो प्रकार की सृष्टि (एक ही बुद्धि से) प्रवृत्त होती हैं।

**व्याख्या–** यह सम्पूर्ण सूक्ष्म एवं स्थूलप्रपञ्चरूप सृष्टि पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए है, किसी एक के द्वारा इस प्रयोजन की सिद्धि असम्भव है। इसी कारण पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए भावरूप सूक्ष्म एवं लिङ्गरूप तन्मात्राओं से निर्मित दो प्रकार की सृष्टियाँ प्रवृत्त होती हैं।

यद्यपि सांख्यशास्त्र में लिङ्ग पद का प्रयोग सूक्ष्मशरीर के लिए हुआ है, किन्तु यहाँ इसका प्रयोग शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध नामक पञ्चतन्मात्राओं से निर्मित स्थूलसृष्टि के लिए हुआ है, दूसरे शब्दों में इसे स्थूलशरीर भी कहा जा सकता है।

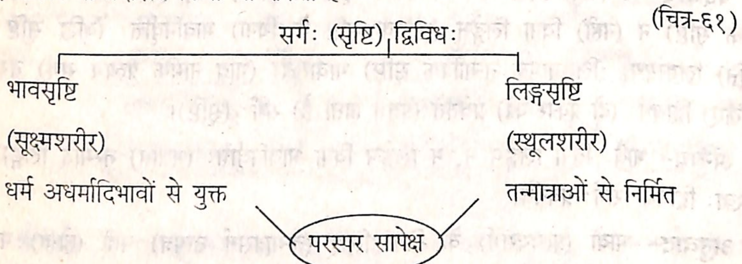
इसीप्रकार कारिका में प्रयुक्त 'भाव' पद के द्वारा धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, राग, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य नामक आठ बुद्धि धर्मों के साथ-साथ विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि नामक प्रत्यय सर्ग के चार भेदों एवं पचास उपभेदों का भी ग्रहण होता है।

ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। एक के बिना दूसरे की स्थिति सम्भव नहीं है, जिसे बीजांकुर न्याय द्वारा समझा जा सकता है, क्योंकि भाव के अभाव में तन्मात्रा द्वारा निर्मित सृष्टि की पुरुष के लिए कोई उपयोगिता नहीं होती तथा तन्मात्रसृष्टि (स्थूलशरीर) के अभाव में केवल भावसृष्टि (सूक्ष्मशरीर) पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ नहीं होता। इसप्रकार दोनों के लिए एक दूसरे की अपेक्षा स्वतः सिद्ध है। ये दोनों प्रकार की सृष्टियाँ आपस में उपकार्य-उपकारकभाव से पुरुष के भोग एवं अपवर्गरूप प्रयोजन की सिद्धि में सहायक होती हैं।

जैसे, सांसारिक भोगों को भोगने के लिए इसके साधन भूत स्थूलशरीर के साथ-साथ इन्द्रियों एवं अन्तःकरणों की भी आवश्यकता होती है, जो भावसृष्टि है। इसीप्रकार अपवर्ग का साधनरूप विवेकज्ञान भी सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों प्रकार की सृष्टि के द्वारा ही सम्भव है।

इन दोनों में कारणकार्यरूप सम्बन्ध भी होता है। सूक्ष्मशरीर में स्थित धर्म अधर्म आदि भावों के कारण उसे मनुष्य, बिल्ली आदि का स्थूलशरीर धारण करना पड़ता है तथा उस शरीर द्वारा किए कर्मों से भावों का निर्माण होता है, जो सूक्ष्मशरीर का आधारभूत तत्त्व है। इसप्रकार प्रथम स्थिति में सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर का कारण हुआ, किन्तु दूसरी स्थिति में स्थूलशरीर भावशरीर का कारण होता है। यह क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है—

(चित्र-६१)




**विशेष**– १. प्रत्ययसर्ग का विस्तार से कथन करने के बाद ग्रन्थकार ने प्रस्तुत कारिका में प्रमुखता की दृष्टि से सृष्टि के दो भेद किए तथा उनकी परस्पर उपयोगिता का प्रतिपादन अत्यन्त सुन्दर ढंग से एवं संक्षेप में किया है।

२. प्रस्तुत कारिका की भाषा अत्यन्त सरल एवं भावबोधगम्य प्रयुक्त हुई है।

३. प्रस्तुत कारिका में प्रयुक्त 'भावनिवृत्तिः' के स्थान पर 'भावसंसिद्धि' एवं 'भावनिष्पत्ति' पाठ भी भाष्यकारों ने स्वीकार किया है।

४. इसीप्रकार 'द्विविधः प्रवर्तते सर्गः' के स्थान पर 'भवति द्विधा सर्गः' पाठ भेद आचार्य माठर ने माना है।

५. विना के योग में भावैः एवं लिङ्गेन पदों में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

**अवतरणिका–** इसप्रकार बुद्धिसर्ग का विस्तार एवं संक्षेप में निरूपण करने के बाद तन्मात्र कृतसर्ग– भौतिक सर्ग के विस्तृत विवेचन के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।**
**मानुषश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥५३॥**

**पदच्छेद–** अष्टविकल्पः (आठ भेद) दैवः (देव सृष्टि) तैर्यग्योनः (तिर्यक् सृष्टि) च (और) पञ्चधा (पाँच प्रकार की) भवति (होती है) मानुषः (मनुष्य सम्बन्धी (सृष्टि)) च (और) एकविधः (एकप्रकार की) समासतः (संक्षेप में) भौतिकः सर्गः (भौतिक सृष्टि)।

**अन्वय–** दैवः अष्टविकल्पः, तैर्यग्योनः पञ्चधा, मानुषः च एकविधः भवति, समासतः (एषः) भौतिकः सर्गः (वर्तते)।

**अनुवाद–** देवसृष्टि के आठ प्रकार (और) तिर्यक्सृष्टि के पाँच प्रकार (होते हैं) तथा मनुष्यसृष्टि एक प्रकार की होती है। संक्षेप में (यही) भौतिकसृष्टि (है)।

**व्याख्या–** सांख्य में पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति मानी गई है। इन महाभूतों से उत्पन्न विभिन्नप्रकार के स्थूलशरीर एवं पदार्थों को यहाँ 'भौतिकसृष्टि' संज्ञा प्रदान की गई है। ग्रन्थकार ने यहाँ संक्षेप में तीनप्रकार की सृष्टि का उल्लेख किया– दैवी, तीर्यक्, मनुष्य-सम्बन्धी। पुनः इनके उपभेदों की संख्या का उल्लेख किया। इसके अनुसार प्रथमप्रकार की दैवीसृष्टि आठ प्रकार की होती है। दूसरे प्रकार की तिर्यक् योनि के पाँच भेद होते हैं तथा तीसरे प्रकार की मनुष्य-सृष्टि एक प्रकार की ही मानी गई है। अब हम इन तीनों का विस्तार से उल्लेख करते हैं–

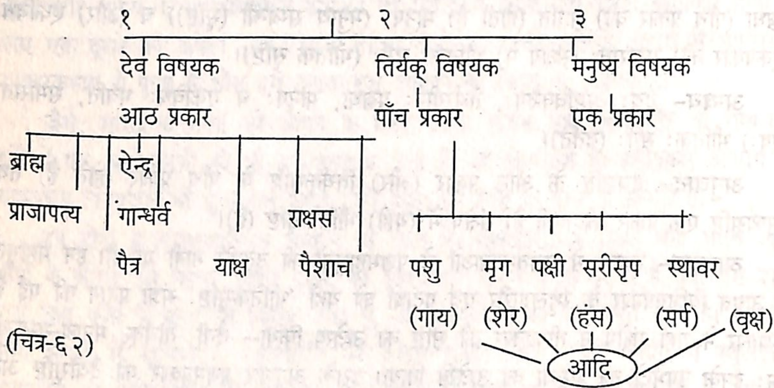
१. **दैवसृष्टि–** ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच ये आठ प्रकार की देवताओं की योनियाँ मानी गई है। जो अपने अपने लोकों में निवास करते हैं। ये लोक इन्हीं के नाम से जाने जाते हैं। जैसे– ब्रह्मलोक में ब्रह्मा की सृष्टि, ब्राह्म निवास करते हैं। प्रजापतिलोक में प्राजापत्य सृष्टि, स्वर्गलोक में ऐन्द्र-सृष्टि, पितृलोक में पैत्रसृष्टि से सम्बन्धित, गन्धर्वलोक में गान्धर्वसृष्टि से सम्बन्धित तथा यक्षलोक में याक्ष देवयोनि से सम्बन्धित, राक्षस लोक में राक्षस तथा पिशाच लोक में पैशाच निवास करते हैं। इनमें सत्त्वगुण का प्राधान्य माना जाता है। इसी कारण ये देवसृष्टि कहलाती है। इनमें अपेक्षाकृत अधिक ऐश्वर्य एवं शक्ति विद्यमान रहते हैं तथा इनके धर्म अधर्म आदि भाव भी दिव्य होते हैं।

२. **तिर्यक्सृष्टि–** यह पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप तथा स्थावर भेद से पाँच प्रकार की होती है। गाय से लेकर घोड़े तक सभीप्रकार के जानवर 'पशु' भेद के अन्दर परिगणित हैं। शेर, हिरण आदि सभी जंगल में रहने वाले जंगली जानवरों को यहाँ 'मृग' कहा गया है। पंखों से युक्त कबूतर, चिड़िया आदि सभी 'पक्षी' की श्रेणी में आते हैं। सभी सरक कर चलने वाले सर्प

आदि को 'सरीसृप' की कोटि में रखा गया है एवं वृक्ष से लेकर लता, गुल्म स्थाणुपर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि तिर्यक्योनि के 'स्थावर' भेद के अन्दर मानी गई है। इनमें स्वतःगमनशीलता का अभाव होता है। तिर्यक्सृष्टि में तमोगुण का प्राधान्य होता है।

३. **मानुषसृष्टि–** मनुष्यों की सृष्टि एक प्रकार की मानी गई है। यहाँ स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का भेद नहीं किया गया है। मनुष्यों में सत्त्व और तमोगुण की सम अवस्था रहती है। सत्त्व रजस् और तमोगुण से निर्मित होने पर भी सृष्टि में रूप एवं स्वभाव की भिन्नता, गुणों के न्यूनाधिक्य एवं एक दूसरे को दबाने की प्रवृत्ति के कारण होती है। इसका कथन पूर्व में किया जा चुका है। प्रस्तुत कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

**भौतिक-सृष्टि (समासतः)**




(चित्र-६२)

**विशेष–** १. ग्रन्थों में सृष्टि के जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज आदि चार भेदों का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः चार भेदों की अपेक्षा एक कम उल्लेख करने के कारण ग्रन्थकार ने कारिका में 'समासतः' पद का प्रयोग किया है।

२. कारिका के तृतीय चरण में प्रयुक्त 'मनुष्यः' के स्थान पर भाष्यकारों ने मानुषकः (गौडपाद और माठर), मानुष्यः (जयमंगलाकार) पाठों को उचित माना है।

३. जयमंगलाकार ने देवयोनियों का उल्लेख करते हुए ऐन्द्र और पैत्र के स्थान पर सौर और आसुर नामों को माना है।

४. तिर्यक्योनि में परिगणित पशु से अभिप्राय पालतू पशुओं से है तथा मृग से अभिप्राय जंगली पशुओं से है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में भी सृष्टि का उल्लेख करते हुए, इसप्रकार की भिन्नता की चर्चा मिलती है। वनमानुष एवं जलमानुष भी तिर्यक् योनि के अन्तर्गत ही आते हैं।

५. जयमंगलाकार ने ब्राह्मण से लेकर चाण्डालपर्यन्त मनुष्य की एक जैसी आकृति होने के कारण इसे केवल एक प्रकार का स्वीकार किया है।

६. घट पट आदि सृष्टि को स्थावर सृष्टि में ही माना गया है।

७. इसप्रकार यह चौदह प्रकार की भौतिकसृष्टि होती है, जो चौदह भुवनों में निवास करती है।

**अवतरणिका–** इसप्रकार भौतिकसृष्टि का भेदोंसहित परिगणन करने के बाद ग्रन्थकार ब्रह्मा से लेकर तिनके तक सम्पूर्ण सृष्टि में सत्त्व आदि गुणों की स्थिति बताते हुए उसके तीन भेदों का अगली कारिका में उल्लेख करते हैं–

**ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमो विशालश्च मूलतः सर्गः।**
**मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः॥५४॥**

**पदच्छेद–** ऊर्ध्वम् (ऊर्ध्वलोक) सत्त्वविशालः (सत्त्वगुणप्रधान) तमोविशालः (तमोगुणप्रधान) च (और) मूलतः (अधोलोक) सर्गः (सृष्टि) मध्ये (बीच में) रजोविशालः (रजोगुणप्रधान (होते हैं)) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः (ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त)

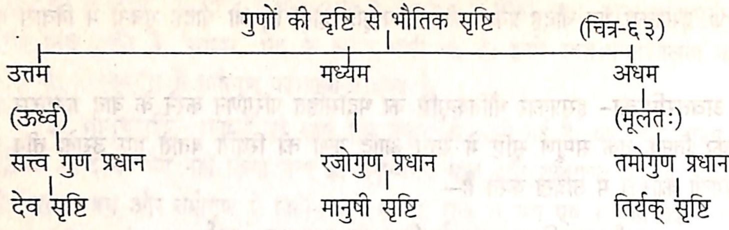
**अन्वय–** ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः सर्गः, ऊर्ध्वम् सत्त्वविशालः, मूलतः च तमोविशालः, मध्ये रजोविशालः (अस्ति)।

**अनुवाद–** ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त (भौतिक) सृष्टि (में) ऊपर के लोक सत्त्व गुण प्रधान, अधोलोक तमोगुणप्रधान तथा मध्यलोक रजोगुण प्रधान (होते हैं)।

**व्याख्या–** ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त सम्पूर्ण भौतिकसृष्टि को सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुणों की दृष्टि से क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम (निम्न) तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है। ऊर्ध्व अर्थात् उत्तमलोक (ब्रह्म, प्रजापति, स्वर्ग, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच लोक) जिन्हें देवलोक भी कहा जाता है। वहाँ निवास करने वाले जीवों में सत्त्व गुण की प्रचुरता रहती है, अर्थात् इनमें रजोगुण एवं तमोगुण की स्थिति अत्यल्प होती है। इसी कारण इनमें ज्ञान और सुख का बाहुल्य होता है। सत्त्वगुण के प्रकाशक एवं लघु होने से यहाँ की प्रत्येक वस्तु प्रकाशयुक्त एवं लघु होती है। इन सब गुणों के कारण यह अन्य दोनों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, उत्तम है। इसीलिए यहाँ ऊर्ध्व पद का प्रयोग किया गया है। ऊर्ध्व पद को यहाँ दिशावाची मानना उचित नहीं है।

द्वितीय, मध्य सृष्टि जो न उत्तम है न अधम, जिसके अन्तर्गत सातों द्वीप तथा उनके चारों ओर स्थित सातों समुद्र आते हैं, जिसमें मनुष्य निवास करते हैं। इस सृष्टि में रजोगुण की प्रधानता है। रजोगुण के दुःखात्मक होने के कारण ही इनमें दुःख की अधिकता रहती है।

तृतीय, अधम अर्थात् निम्नसृष्टि के अन्तर्गत पशुओं से लेकर स्थावरपर्यन्त सभी प्राणी आते हैं। इनमें तमोगुण की प्रचुरता के कारण मोह अर्थात् जड़भाव की उपलब्धि मुख्य रूप से होती है। कारिका में प्रयुक्त मूलतः पद का अर्थ अधम अथवा निम्न है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–




**विशेष–** १. कुछ विद्वानों ने इसकी भिन्नप्रकार से व्याख्या की है– भू लोक में तमोगुण का उत्कर्ष क्रमशः पालतू पशु → जंगली पशु → पक्षी → सांप और सर्वाधिक वृक्षादि स्थावर योनियों में होता है।

२. कारिका में प्रयुक्त ब्रह्मा से अभिप्राय हिरण्यगर्भ नामक प्राणी विशेष से है जो सत्य नामक सर्वोत्कृष्ट लोक में निवास करता है। सत्त्वगुण की अधिकता के कारण यह ज्ञान एवं सुख का सागरस्वरूप हैं।

३. कारिका में प्रयुक्त 'स्तम्ब' पद का प्रयोग यद्यपि तृण के लिए हुआ है, पुनरपि इससे वृक्षादि का भी ग्रहण होता है।

**अवतरणिका–** इसप्रकार सृष्टि की विस्तृत विवेचना के पश्चात् सृष्टि में दुःख की स्थिति को स्पष्ट करते हुए अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।**
**लिङ्गस्याऽऽविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन॥५५॥**

**पदच्छेद–** तत्र (उन उन योनियों में) जरामरणकृतम् (जरा-मरण से उत्पन्न) दुःखम् (दुःख को) प्राप्नोति (प्राप्त करता है) चेतनः (चेतन) पुरुषः (पुरुष) लिङ्गस्य (सूक्ष्मशरीर के) आविनिवृत्तेः (निवृत्त होने तक) तस्मात् (इसलिए) दुःखम् (दुःख) स्वभावेन (स्वभाव से)

**अन्वय–** तत्र चेतनः पुरुषः लिङ्गस्य आविनिवृत्तेः जरामरणकृतम् दुःखम् प्राप्नोति, तस्मात् दुःखम् स्वभावेन (वर्तते)।

**अनुवाद–** उन-उन योनियो में चेतनपुरुष सूक्ष्मशरीर के निवृत्त होने तक जरा मरण से उत्पन्न दुःख को प्राप्त करता है। इसलिए दुःख स्वभाव से ही (माना गया है)।

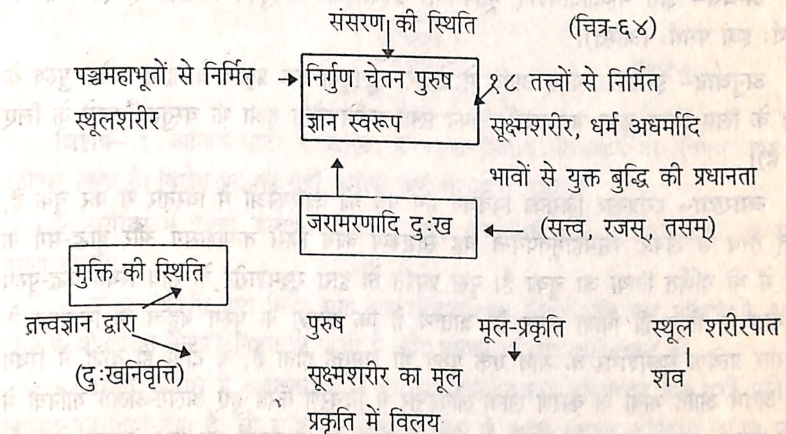
**व्याख्या–** ज्ञानस्वरूप पुरुष निर्गुण होने के कारण स्वभाव से दुःखरहित है, किन्तु लिङ्गशरीर के साथ सम्बन्ध के कारण उसके प्रमुखतत्त्व बुद्धि के धर्मों को अपने में मानकर दुःखी होता है। लिङ्गशरीर युक्त पुरुष लोकलोकान्तर में संसरण करते हुए अनेक योनियों में जन्म लेकर स्थूलशरीर ग्रहण करता है। इसलिए तत्तत् शरीर में होने वाली वृद्धावस्था अथवा मृत्यु को, उससे होने वाले दुःखों को अपने मान लेता है, क्योंकि पुरुष एवं सूक्ष्मशरीर लोहे के तप्तपिण्ड में अग्नि के समान परस्पर संपृक्त (जुड़े हुए) रहते हैं। पुरुष जरामरण आदि से प्राप्त होने वाले इन दुःखों को तब तक प्राप्त करता रहता है, जब तक विवेकज्ञान आदि से उसे

सूक्ष्मशरीर से छुटकारा प्राप्त नहीं हो जाता है। इसलिए लिङ्गशरीर के साथ सम्बन्ध होने के कारण स्वभाव से ही पुरुष को दुःख की प्राप्ति होती रहती है।

जैसा कि पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है कि १८ तत्त्वों से युक्त सूक्ष्मशरीर की सृष्टि के आरम्भ से ही (आदिकाल से) स्थिति रहती है तथा सांख्य के पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सूक्ष्मशरीर के साथ एक-एक पुरुष भी रहता है। सूक्ष्मशरीर में बुद्धि की प्रधानता होती है तथा उसमें स्थित धर्म-अधर्म आदि भावों के कारण वह किसी पशु अथवा मनुष्य का शरीर धारण करता है।

प्रकृति के नियम के कारण उस शरीर में होने वाले बुढ़ापा, मृत्यु रोगादि को उनसे होने वाले दुःखों को, सूक्ष्मशरीर में स्थित (सम्पृक्त) पुरुष अपने मानता है, जबकि वास्तव में वे उसके नहीं होते हैं। इसमें प्रमुख कारण पुरुष का सूक्ष्मशरीर के साथ घनिष्टरूप से जुड़ा होना तथा अज्ञान ही होता है। जो विवेकज्ञान होने तथा सूक्ष्मशरीर की निवृत्ति तक बना रहता है, क्योंकि विवेकज्ञान से पुरुष एवं प्रकृति का भेद ज्ञात होने पर शरीरपात के अन्तर सूक्ष्मशरीर अपने कारणरूप मूलप्रकृति में विलीन हो जाता है तथा पुरुष अपने विराट्रूप पुरुष में विलीन हो जाता है, यही मोक्ष है, यही कैवल्य है।

इसप्रकार बुद्धि और उसके गुणों से युक्त सूक्ष्मशरीर से सम्बद्ध चेतनपुरुष के अज्ञानवश दुःखप्राप्ति की अवधि लिङ्गशरीर की निवृत्ति पर्यन्त होती है और सूक्ष्मशरीर, क्योंकि सत्त्व रजस् और तमोगुण सम्पन्न होता है और ये तीनों सुखदुःख मोहात्मक होते हैं। अतः दुःखादि की स्थिति स्वभाव से ही मानी गई है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–




**विशेष–** १. कारिका में प्रयुक्त 'तत्र' पद का प्रयोग 'तत्तत् योनियों रूप' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है, जिनमें सूक्ष्मशरीर विभिन्न शरीरों को धारण करता है।

२. आचार्य माठर ने 'तत्र' के स्थान पर 'अत्र' पाठ को स्वीकार करते हुए इसका 'पूर्ववर्णित तीनों लोक' (उत्तम, मध्यम और निम्न)' अर्थ किया है।

३. 'दुःख' वस्तुतः बुद्धि के धर्म एवं प्रकृति के विकार होने के कारण उससे निर्मित सूक्ष्मशरीर में स्थित होते हैं, किन्तु जीवरूप पुरुष को, उसके साथ अभेद की प्रतीति के कारण, उनका अनुभव होता है। जो वस्तुतः तथ्यात्मक प्रतीति नहीं होती।

४. आचार्य माठर ने कारिका में प्रयुक्त 'स्वभावेन' के स्थान पर 'समासेन' पाठ स्वीकार किया है, जिसका अर्थ होगा— संक्षेप में वस्तुतः लिङ्गशरीर ही दुःख के अनुभव का संक्षेप में मूल कारण है।

५. कारिका में प्रयुक्त 'तस्मात् दुःखं स्वभावेन' में प्रयुक्त स्वभाव पद का 'प्रकृति' में अभिप्राय अभिप्रेत है, पुरुष में नहीं।

**अवतरणिका–** इसप्रकार प्रकृति की सृष्टि की विस्तृत व्याख्या करने के पश्चात् उसके सम्पूर्ण प्रपञ्च, क्रियाकलापों के पीछे होने वाले 'प्रयोजन' का कथन करने के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं—

**इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।**
**प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः॥५६॥**

**पदच्छेद–** इति (इसप्रकार) एषः (यह) प्रकृतिकृतः (प्रकृति के द्वारा किया हुआ) महत् आदिविशेषभूतपर्यन्तः (महत् आदि से लेकर स्थूलभूतों तक) प्रतिपुरुष विमोक्षार्थम् (प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए) स्वार्थः (अपने लिए) इव (मानो प्रतीत होता हुआ) परार्थः (दूसरे के लिए) आरम्भः (कार्य)।

**अन्वय–** इति महदादिविशेष भूतपर्यन्तः प्रकृतिकृतः प्रतिपुरुष विमोक्षार्थम् एषः आरम्भः स्वार्थः इवा परार्थः (अस्ति)।

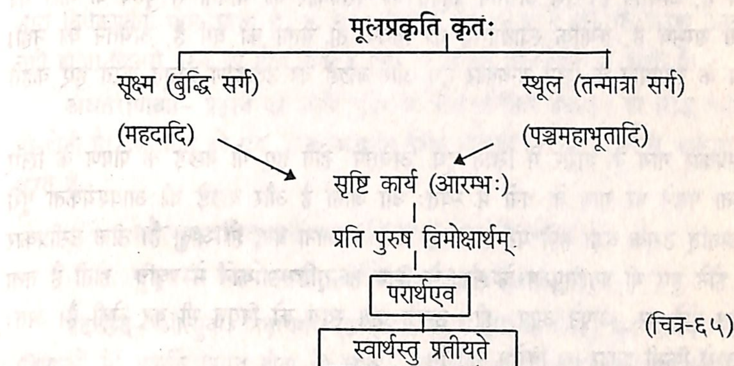
**अनुवाद–** इसप्रकार महत् आदि से लेकर स्थूलभूतों तक प्रकृति के द्वारा प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए किया हुआ यह कार्य, अपने लिए प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः दूसरों के लिए (ही है)।

**व्याख्या–** इसप्रकार जिसका विवेचन हम पूर्व की कारिकाओं में विस्तार से कर चुके हैं, महत् तत्त्व से लेकर पञ्चमहाभूतपर्यन्त यह सृष्टिरूप कार्य जिसे तन्मात्रासर्ग और बुद्धि-सर्ग के रूप में भी वर्णित किया जा चुका है। मूल प्रकृति के द्वारा सूक्ष्मशरीर के साथ स्थित बद्ध-पुरुष के मोक्ष के लिए ही किया जाता है। ज्ञातव्य है कि सांख्य के पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सूक्ष्मशरीर के साथ एक पुरुष भी सम्पृक्त होता है, ये दोनों ही बुद्धि में स्थित धर्म अधर्म आदि भावों के कारण लोक लोकान्तर में विचरण करते हुए अलग-अलग योनियों में जन्म लेकर स्थूलशरीर धारण करते हैं, जिससे पुरुष के भोगापवर्ग का कार्य सम्पन्न होता है। बद्धपुरुष ही भोग करता है तथा तत्त्वज्ञान के अनन्तर उसी का मोक्ष होता है। इसप्रकार प्रकृति द्वारा किया गया सृष्टिरूप यह कार्य भले ही स्वार्थ (अपने लिए) अर्थात् प्रकृति के लिए किया हुआ प्रतीत हो, किन्तु वस्तुतः प्रकृति इसे सूक्ष्मशरीर के साथ आबद्ध प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के

लिए ही सम्पन्न करती है। अतः यह कार्य परार्थ अर्थात् दूसरे के लिए, पुरुष के लिए ही होता है।

इसलिए प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए किया हुआ यह आरम्भ सृष्टिरूप कार्य अपने लिए किया गया (स्वार्थ) प्रतीत होता हुआ भी, वस्तुतः दूसरों के लिए (परार्थ), पुरुष के लिए ही होता है।

इसप्रकार महत् आदि अव्यक्त-अवस्था से लेकर स्थूलमहाभूतरूप व्यक्त अवस्था तक सम्पूर्ण प्रपञ्च एकमात्र प्रकृति द्वारा किया जाता है, किसी अन्य के द्वारा नहीं। यद्यपि यह कार्य प्रत्यक्षरूप से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति अपने लिए कर रही है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता, अपितु यह उस प्रत्येक पुरुष को मोक्ष रूपी अपवर्ग प्रदान करने के लिए किया जाता है, जो अनादिकाल से लिङ्गशरीर द्वारा आविष्ट रहता है। अतः प्रकृति का यह कार्य स्वार्थ नहीं, अपितु परार्थ अर्थात् दूसरे के लिए ही है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–




(चित्र-६५)

**विशेष–** १. आचार्य माठर ने कारिका में प्रयुक्त 'विशेष' के स्थान पर 'विषय' पाठ को स्वीकार किया है। विशेष पद का यहाँ 'स्थूल' अर्थ में प्रयोग हुआ है।

२. कारिका में प्रयुक्त 'इत्येषः' शब्द के द्वारा तन्मात्रसर्ग और बुद्धिसर्ग दोनों का ग्रहण करना चाहिए।

३. वस्तुतः प्रकृति द्वारा किया गया यह सृष्टिकार्यरूप क्रियाकलाप उस गृहिणी के समान होता है जो भोजन बनाकर निवृत्त हो जाती है और उसका उपभोग दूसरे करते हैं।

४. प्रस्तुत कारिका में अप्रत्यक्षरूप से भारतीयदर्शनशास्त्र में प्रतिपादित उन सभी मतों का खण्डन कर दिया गया है, जो सृष्टि को ईश्वरकृत, ब्रह्म से उत्पन्न अथवा अनायास उद्भूत मानते हैं।

**अवतरणिका–** अचेतन होते हुए भी प्रकृति परोपकार की भावना से प्ररित होकर निःस्वार्थभाव से पुरुष के लिए किसप्रकार कार्य करती है, इसका सोदाहरण प्रतिपादन करने के लिए ग्रन्थकार अग्रिम कारिका का उल्लेख करते हैं–

**वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।**
**पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥५७॥**

**पदच्छेद–** वत्सविवृद्धिनिमित्तम् (बछड़े के पोषण के लिए) क्षीरस्य (दूध की यथा (जिसप्रकार) प्रवृत्तिः (प्रवृत्ति) अज्ञस्य (अचेतन की) पुरुषविमोक्षनिमित्तम् (पुरुष को मुक्ति दिलाने के लिए) तथा (उसीप्रकार) प्रवृत्तिः (प्रवृत्ति) प्रधानस्य (मूलप्रकृति की)

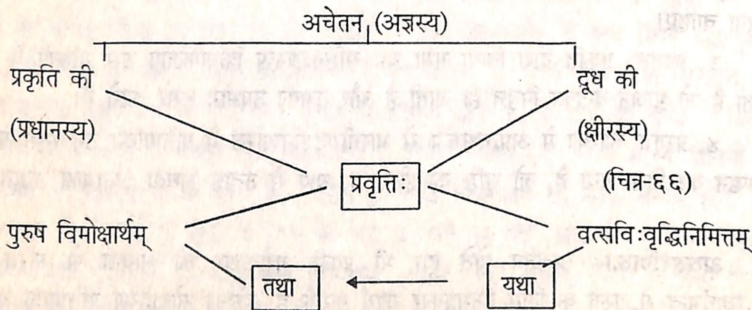
**अन्वय–** यथा वत्सविवृद्धिनिमित्तम् अज्ञस्य क्षीरस्य प्रवृत्तिः (भवति) तथा पुरुष विमोक्ष, निमित्तम् (अज्ञस्य) प्रधानस्य प्रवृत्तिः (भवति)।

**अनुवाद–** जिसप्रकार बछड़े के पोषण के लिए अचेतन दूध की (माता के स्तनों में) प्रवृत्ति (होती है) (ठीक)। उसीप्रकार पुरुष को मोक्ष दिलाने के लिए (अचेतन) मूल, प्रकृति की प्रवृत्ति (होती है)।

**व्याख्या–** कारिका में प्रयुक्त प्रधान पद का मूलप्रकृति के लिए प्रयोग हुआ है जो जडात्मिका है, अचेतन है। इस अचेतन प्रकृति की परोपकार की भावना से पुरुष के मोक्ष की प्रवृत्ति कैसे सम्भव है, क्योंकि स्वार्थपरार्थ का विवेक तो चेतन का धर्म है, अचेतन का नहीं। इसी शंका के समाधान के लिए ग्रन्थकार दूध और बछड़े का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि–

जिसप्रकार गाय के शरीर में स्थित दूध 'अचेतन' होते हुए भी बछड़े के पोषण के लिए आवश्यकता पड़ने पर गाय के थनों में स्वतः आ जाता है और बछड़े की आवश्यकता पूरी होने पर अर्थात् उसके बड़ा होने पर स्वतः ही थनों में आना बन्द हो जाता है। ठीक उसीप्रकार 'अचेतन' होने हुए भी प्रकृतिपुरुष के मोक्ष के लिए ही सृष्टिरूप कार्य में प्रवृत्ति होती है तथा उसका मोक्ष होने पर अपने आप ही उसके प्रति स्वयं को निवृत्त भी कर लेती है। अतः हमारी बात में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

यहाँ प्रयुक्त 'अज्ञ' पद का प्रयोग दूध की अचेतनता का कथन करने के लिए हुआ है, जिसका अन्वय उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त 'प्रधानस्य' पद के साथ भी करना होगा। इस अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–



(चित्र-६६)

**विशेष–** १. यद्यपि कारिका में दूध और प्रकृति की प्रवृत्ति का ही कथन किया गया है, किन्तु यहाँ इनकी निवृत्तिरूप अर्थ की भी अभिव्यञ्जना हो रही है।

२. जिसप्रकार बछड़े के पोषण के लिए गाय का खाया-पिया, अन्न और जल स्वतः दूधरूप में परिवर्तित होकर थनों में आ जाता है और उसके पुष्ट हो जाने पर उसका बनना भी स्वतः बन्द हो जाता है, यद्यपि वही अन्न और जल गाय तब भी ग्रहण करती ही है। इसीप्रकार प्रकृति, पुरुष के मोक्ष आदि के लिए स्वतः प्रवृत्त होती है तथा उसके सम्पन्न होने पर अर्थात् भोगापवर्ग की सिद्धि होने पर, स्वतः ही निवृत्त भी हो जाती है, यह अर्थ है।

३. आचार्य गौडपाद एवं जयमंगलाकार ने प्रवृत्ति एवं निवृत्तिरूप दोनों अर्थों का उल्लेख किया है, किन्तु वाचस्पति मिश्र यहाँ केवल प्रवृत्तिपरक अर्थ ही लेते हैं।

४. वास्तविकता यह है कि त्रिगुणात्मिका होने से क्रियाशीलता प्रकृति का नित्यधर्म है, क्योंकि रजोगुण क्रियाशील होता है। अतः सृष्टि में प्रवृत्ति उसका स्वभाव है, जिससे पुरुष का भोगापवर्ग रूप प्रयोजन स्वतःसिद्ध हो जाता है। यदि पुरुष भावरूप संस्कारों का स्थूलशरीर के द्वारा विवेकपूर्वक भोग करता है, तो पुनः संस्कारों के उत्पन्न न होने के कारण उनका उपभोग नहीं होता। जिससे पुरुष का मोक्ष होता है तथा प्रकृति की भी निवृत्ति हो जाती है।

**अवतरणिका–** प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए ही होती है। इसी बात को एक अन्य उदाहरण देकर समझाने के लिए अगली कारिका को उद्धृत करते हैं–

**औत्सुक्यनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।**
**पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥ ५८॥**

**पदच्छेद–** औत्सुक्य निवृत्यर्थम् (उत्सुकता की निवृत्ति के लिए) यथा (जिसप्रकार) क्रियासु (क्रियाओं में) प्रवर्तते (प्रवृत्त होता है) लोकः (व्यक्ति) पुरुषस्य (पुरुष के) विमोक्षार्थम् (मोक्ष के लिए) प्रवर्तते (प्रवृत्त होता है) तद्वत् (उसीप्रकार) अव्यक्तम् (प्रकृति)।

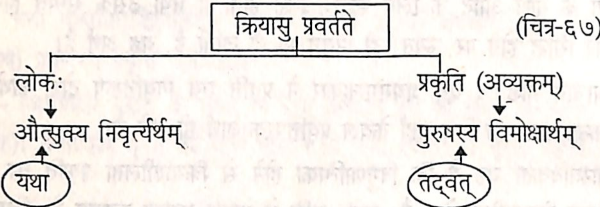
**अन्वय–** यथा लोकः औत्सुक्यनिवृत्यर्थम् क्रियासु प्रवर्तते, तद्वत् अव्यक्तम् (अपि) पुरुषस्य विमोक्षार्थम् प्रवर्तते।

**अनुवाद–** जिसप्रकार (संसार में) व्यक्ति उत्सुकता (इच्छा) की निवृत्ति के लिए क्रियाओं में प्रवृत्त होता है, उसीप्रकार प्रकृति (भी) पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है।

**व्याख्या–** जिसप्रकार संसार में व्यक्ति उत्सुकतावश अनेक कार्यों को सम्पन्न करता है, क्योंकि किसी भी वस्तु को जानने की उत्सुकता उसका स्वभाव है। जैसे– मानो हम अत्यावश्यक कार्य से बाजार जा रहे हों, हमें देर भी क्यों न हो रही हो। बाजार में एक स्थान विशेष पर भीड़ देखकर हमें उस विषय में जानने की स्वाभाविक उत्कण्ठा होती है और हम रुककर उस विषय में जानने का भरसक प्रयास करते हैं। अतः हमारी यह प्रवृत्ति उत्सुकता की निवृत्ति के लिए कही जाएगी। उन कार्यों को करने पर उत्सुकता या इच्छा भी स्वतः निवृत्त हो जाती है।

ठीक इसीप्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति में स्वाभाविक उत्सुकता या इच्छा रहती है। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह इसके साधनभूत सृष्टिकार्य में प्रवृत्त होती है तथा इस प्रयोजन की सिद्धि के बाद स्वतः ही निवृत्त भी हो जाती है। अतः पुरुष के मोक्ष की इच्छा प्रकृति का स्वभाव है, स्वाभाविक प्रवृत्ति है, किसी के द्वारा प्रेरित नहीं।

कारिका के अभिप्राय को भिन्न प्रकार से प्रदर्शित करते हैं–




**विशेष–** १. प्रकृति की सृष्टिकार्यरूप प्रवृत्ति का मुख्यप्रयोजन पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि है, इसकी पुष्टि में लौकिक उदाहरण यहाँ दिया गया है। यह प्रवृत्ति पूर्णतया स्वाभाविक है। इसी का प्रतिपादन अत्यन्त सरल ढंग से प्रस्तुत कारिका में किया गया है।

२. दृष्टान्त के द्वारा किसी विषय को सरलता से समझाया जा सकता है, इसीलिए प्रकृति की प्रवृत्ति के निमित्त को दृष्टान्त देकर बताया गया है।

३. हमारी बहुत सी क्रियाएँ स्वभाववश स्वतः हो जाती हैं, उसके लिए किसी प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती। पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति की होने वाली प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप क्रिया भी ऐसे ही (स्वभावतः) होती हैं।

**अवतरणिका–** यहाँ तक कारिकाकार ने 'पुरुषार्थ ही प्रकृति की प्रवृत्ति का मूल कारण है' इसका प्रतिपादन किया। पुनः सृष्टिरूप कार्य में प्रवृत्त इसकी स्वतः निवृत्ति का सोदाहरण कथन करते हुए, अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।**
**पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥५९॥**

**पदच्छेद–** रङ्गस्य (नाट्यशाला में स्थित दर्शकों को) दर्शयित्वा (दिखाकर) निवर्तते (निवृत्त हो जाती है) नर्तकी (नृत्यांगना) यथा (जिसप्रकार) नृत्यात् (नृत्य से) पुरुषस्य (पुरुष के (समक्ष)) तथा (उसीप्रकार) आत्मानम् (स्वयं को) प्रकाश्य (प्रकाशित करके) विनिवर्तते (पूर्णरूपेण निवृत्त हो जाती है) प्रकृतिः (प्रकृति)।

**अन्वय–** यथा नर्तकी रङ्गस्य दर्शयित्वा नृत्यात् निवर्तते, तथा प्रकृतिः पुरुषस्य (समक्षम्) आत्मानम् प्रकाश्य विनिवर्तते।

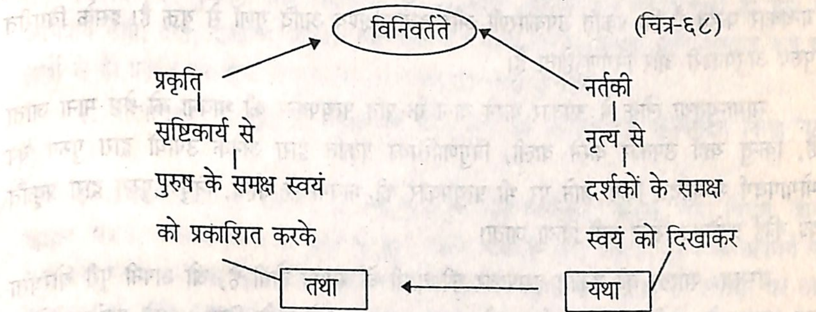
**अनुवाद–** जिसप्रकार नृत्यांगना नाट्यशाला में स्थित दर्शकों को (नृत्य) दिखाकर नृत्य से

निवृत्त हो जाती है, उसीप्रकार प्रकृति पुरुष के (सामने) स्वयं को प्रकाशित (प्रदर्शित) करके पूर्णतया निवृत्त हो जाती है।

**व्याख्या**– जिसप्रकार नृत्यांगना रङ्गशाला स्थित दर्शकों के समक्ष मनोयोग से अपना नृत्य प्रस्तुत करती है और नृत्य के पश्चात् उन्हीं दर्शकों के सामने पुनः नृत्य करने में उसे कोई रुचि नहीं रहती अर्थात् उन दर्शकों के प्रति वह विरक्त हो जाती है। ठीक उसीप्रकार नृत्यांगनारूप प्रकृति का सृष्टि-प्रक्रियारूप नृत्य केवल उन पुरुषों के लिए होता है, जो प्रकृति के स्वरूप को अज्ञानवश देख नहीं पाते हैं।

किन्तु जो पुरुष उसका उपभोग करके विवेकज्ञान से उसके और अपने अन्तर को समझ लेता है। उसके प्रति यह प्रकृति अपने वास्तविकरूप को प्रदर्शित करके पूर्णतया विरक्त हो जाती है अर्थात् ऐसे विवेकज्ञानी के लिए उसके समक्ष प्रकृतिरूप नृत्यांगना अपना सृष्टिरूप नृत्य प्रस्तुत नहीं करती है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

(चित्र-६८)




**विशेष**– १. 'रङ्ग' शब्द का अर्थ यद्यपि नाट्यशाला होता है, किन्तु यहाँ इसका अर्थ सहृदय सामाजिकों से लेना चाहिए जो नाटक का अवलोकन करते हैं।

२. 'प्रकाश्य' पद का अभिप्राय पुरुष के समक्ष स्वयं को प्रदर्शित करने से है।

३. पूर्व की दो कारिकाओं (५६, ५८) में प्रकृति की सृष्टि में प्रवृत्ति क्यों होती है, इसका कथन करके प्रस्तुत कारिका में उपमा अलंकार का प्रयोग करके उसकी निवृत्ति के स्वरूप को प्रतिपादित किया है।

४. 'दर्शयित्वा' एवं 'प्रकाश्य' कृदन्त पदों के योग के कारण 'रङ्गस्य' एवं 'पुरुषस्य' पदों में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है (कर्तृकर्मणोः कृतिः)।

**अवतरणिका**– प्रकृति पुरुष के लिए भोगापवर्ग पूर्णतया निःस्वार्थभाव से सम्पादित करती है। वस्तुतः पुरुषप्रकृति का कोई उपकार नहीं करता है। अतः प्रस्तुत कारिका में प्रकृति को उपकारिणी एवं पुरुष को अनुपकारी, निर्गुण बताते हुए प्रस्तुत कारिका का अवतरण करते हैं–

**नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।**
**गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति॥६०॥**

**पदच्छेद–** नानाविधैः (अनेक प्रकार के) उपायैः (उपायों के द्वारा) उपकारिणी (उपकार करने वाली) अनुपकारिणः (प्रत्युपकार न करने वाले) पुंसः (पुरुष के) गुणवती (गुणयुक्त) अगुणस्य (गुणहीन के) सतः (होते हुए के) तस्य (उसके) अर्थम् (प्रयोजन को) अपार्थकम् (व्यर्थ ही निःस्वार्थभाव से) चरति (सम्पादित करती है)।

**अन्वय–** उपकारिणी, गुणवती (प्रकृतिः) अनुपकारिणः अगुणस्य सतः तस्य पुंसः अर्थम् नानाविधैः उपायैः अपार्थकम् चरति।

**अनुवाद–** उपकार करने वाली, त्रिगुणात्मिका (प्रकृति) प्रत्युपकार न करने वाले, निर्गुण होते हुए (भी) उस पुरुष के (भोगापवर्गरूप) प्रयोजन को अनेक प्रकार के उपायों द्वारा निःस्वार्थभाव से (व्यर्थ ही) सम्पादित करती है।

**व्याख्या–** पुरुष और प्रकृति के स्वरूप एवं गुणों तथा प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रकृति उपकारिणी और दयादाक्षिण्य आदि गुणों से युक्त है। इसके विपरीत पुरुष अनुपकारी और निर्गुण होता है।

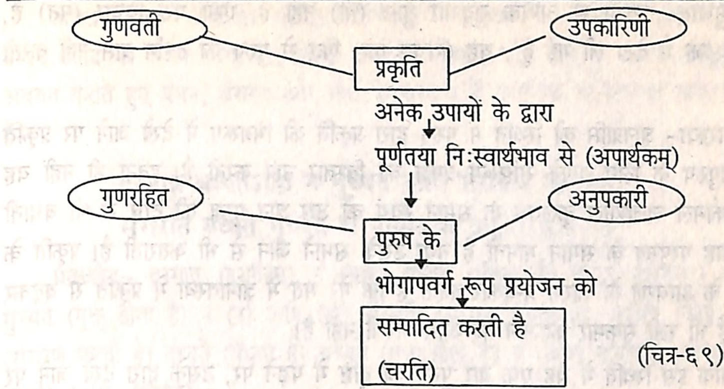
सामान्यतया लोक में उपकार करने वाले के प्रति प्रत्युपकार की भावना को श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु यहाँ उपकार करने वाली, त्रिगुणात्मिका प्रकृति द्वारा अनेक उपायों द्वारा पुरुष का भोगापवर्ग सम्पादित किए जाने पर भी प्रत्युपकार की भावना से रहित, निर्गुण पुरुष द्वारा प्रकृति का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं किया जाता।

वस्तुतः सांख्य की प्रकृति इसप्रकार की दासी के समान होती है, जो अपनी पूरी योग्यता एवं क्षमता से, पूर्णतया निःस्वार्थभाव से, प्रत्युपकार की अपेक्षा के बिना, अपने गुण-रहित एवं कृतघ्न स्वामी की सेवा में लीन रहती है।

इसप्रकार प्रकृति सेवा, उपकार आदि श्रेष्ठगुणों से युक्त होती है। जबकि पुरुष इसप्रकार के गुणों से रहित होता है। ऐसा इस कारण होता है कि प्रकृति में तीन गुण (सत्त्व, रजस् और तमस्) होने से उपकार की भावना रहती है, क्योंकि दया, दाक्षिण्य आदि सत्त्वगुण के धर्म होते हैं।

जबकि पुरुष इन गुणों से रहित होता है। अतः उसके पास कुछ देने की परोपकार आदि की भावना का पूर्णतया अभाव होता है और न ही उसके पास भोग विलास की कोई सामग्री ही होती है, क्योंकि भोगविलास की सामग्री धर्म, अधर्म आदि बुद्धि के आठ भावों के परिणाम हैं, जिनका सम्बन्ध केवल प्रकृति से होता है, पुरुष से नहीं।

इसप्रकार त्रिगुणात्मिका एवं उपकारिणी प्रकृति, विशुद्ध परोपकार की भावना से निर्गुण एवं प्रत्युपकार की भावना से रहित पुरुष के भोग एवं अपवर्ग की सिद्धि हेतु सृष्टिरूप सामग्री का सम्पादन करती है, उसे जुटाती है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं—




(चित्र-६९)

**विशेष–** १. गुणवती तथा अगुणस्य पदों में श्लेष अलंकार का प्रयोग हुआ है। गुण से अभिप्राय सेवा, दया, दाक्षिण्य, उपकार आदिगुण तथा सत्त्व, रजस्, तमस् आदि गुणत्रय रूप दो अर्थों से है। प्रकृति इन दोनों से युक्त है तथा पुरुष इन दोनों से रहित है।

२. चरित्रचित्रण की दृष्टि से प्रकृति को यहाँ पुरुष की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है।

३. जयमंगलाकार ने 'उपाय' का अर्थ बुद्धि के आठ भाव-धर्म, अधर्म, राग, विराग, ज्ञान, अज्ञान, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य किया है। इनमें से ज्ञान नामक भाव के द्वारा प्रकृति, पुरुष के अपवर्ग को तथा शेष भावों के द्वारा भोग को सम्पादित करती है। जबकि आचार्य माठर ने 'उपाय' का अर्थ शब्द, स्पर्श आदि तन्मात्राएँ किया है, जिनसे सांसारिक भोग निर्मित होते हैं।

४. वास्तव में यहाँ उपायों से 'विषय' एवं उनको ग्रहण करने वाले उपकरण इन्द्रिय आदि का भी ग्रहण करना चाहिए।

**अवतरणिका–** इसप्रकार प्रकृति के निःस्वार्थभाव से पुरुष के प्रति उसके भोगापवर्ग के लिए जाने वाले उपकारीभाव का कथन करने के पश्चात्, उसकी सुकुमारता आदि गुणों का कथन करने के लिए पुरुष के अपवर्ग की स्थिति में, प्रकृति द्वारा किए जाने वाले आचरण का प्रतिपादन करने हेतु अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति।**
**या दृष्टाऽस्मीति पुन र्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥ ६१॥**

**पदच्छेद–** प्रकृतेः (प्रकृति से) सुकुमारतरम् (अधिक सुकुमार) न (नहीं) किञ्चित् (कुछ) अस्ति (है) इति (ऐसी) मे (मेरी) मतिः (बुद्धि) भवति (होती है) या (जो) दृष्टा अस्मि (देख ली गई हूँ) इति (ऐसा (सोचकर)) पुनः (फिर) न (नहीं) दर्शनम् (दर्शन को) उपैति (प्राप्त करती है) पुरुषस्य (पुरुष के)।

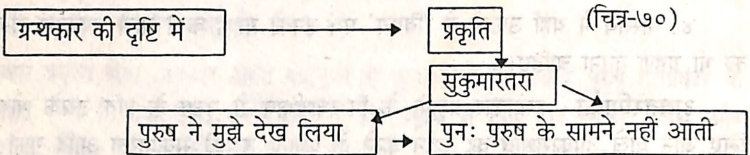
**अन्वय–** प्रकृतेः सुकुमारतम् किञ्चिद् (अपि) न अस्ति, इति मे मतिः भवति (कुतः) या दृष्टा अस्मि इति पुनः पुरुषस्य दर्शनम् न उपैति।

**अनुवाद–** प्रकृति से अधिक सुकुमार कुछ (भी) नहीं है, ऐसी मेरा विचार (मत) है, (क्योंकि) 'जो मैं देख ली गई हूँ', यह (विचार कर) फिर से पुरुष का दर्शन प्राप्त नहीं करती है।

**व्याख्या–** ज्ञानप्राप्ति की स्थिति में पुरुष द्वारा प्रकृति को भिन्नरूप में देखे जाने पर प्रकृति उस ज्ञानीपुरुष के लिए अपने सृष्टिरूप प्रपञ्च का विस्तार नहीं करती है। इतना ही नहीं वह अत्यन्त कोमल लज्ज्ञाशील कुलवधू के समान स्वयं को उस ज्ञान पुरुष की दृष्टि से भी बचाती है। उसे वह परपुरुष के समान मानती है तथा उसके समाने जाने से भी कतराती है। प्रकृति के इसप्रकार के आचरण के कारण ग्रन्थकार कहते हैं कि मेरे मत में ज्ञानावस्था में प्रकृति से बढ़कर अन्य कोई भी स्त्री सुकुमार कहलाने की अधिकारिणी नहीं है।

क्योंकि इस स्थिति में यह एक बार पुरुष की दृष्टि में पड़ने पर, उसके द्वारा देखे जाने पर उसके सामने फिर से जाने का उस कुलांगना के समान साहस नहीं करती, जो अत्यन्त शीलवती हो, जिसे सूर्य की किरणें भी न देख पायी हों, किन्तु असावधानी वश किसी परपुरुष ने उसे उस समय देख लिया हो, जब वह स्नान कर रही हो। तो वह उस पुरुष की दृष्टि से कतराती है, उसके सामने भी नहीं आती उसकी दृष्टि बचाकर निकल जाती है।

ठीक यही स्थिति पुरुष के विवेकज्ञान होने पर प्रकृति की उस पुरुष के प्रति होती है, क्योंकि उसके विषय में वह विचार करती है कि इसने तो मुझे देख लिया है, पहचान लिया है। अतः वह उसके सामने फिर आने से, अपने सृष्टिरूप प्रपञ्च को फैलाने से कतराती है। इसी दृष्टि से ग्रन्थकार ने प्रकृति को सुकुमारतरा कहा है। कारिका के अभिप्राय को संक्षेप में प्रदर्शित करते हैं–



(चित्र-७०)

**विशेष–** १. कारिका के द्वितीय चरण में प्रयुक्त 'मे' पद को आचार्य माठर ने पुरुष से सम्बन्धित, जयमंगलाकार ने प्रकृति अर्थ में आचार्य वाचस्पति मिश्र एवं गौडपाद ने 'ग्रन्थकार' अर्थ में प्रयुक्त माना है।

२. इसीप्रकार सुकुमारता का अर्थ जयमंगलाकार ने 'सूक्ष्मता' आचार्य माठर और वाचस्पति मिश्र ने 'अति पेशलता' एवं गौडपाद ने 'सुभोग्यतरा' अर्थ किया है। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ 'लज्ज्ञालु' भी किया है।

३. प्रकृतिरुपी कुलांगना की ऐसी प्रवृत्ति केवल उस पुरुष के प्रति होती है, जिसे विवेकज्ञान हो गया हो। अन्य पुरुषों के प्रति वह पूर्ववत् ही आचरण करती है।

४. प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार ने ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् पुरुष एवं प्रकृति की स्थिति का अत्यन्त मनोरमशैली में वर्णन किया है।

**अवतरणिका–** अभी तक वर्णित कारिकाओं में ग्रन्थकार ने औपचारिक दृष्टि से पुरुष के बन्धन आदि का कथन किया था, किन्तु अब तक स्थिति स्पष्ट होने के कारण वस्तुस्थिति से अवगत कराते हुए बंधन, संसरण और मोक्ष के सम्बन्ध में स्पष्टतया कारिका का अवतरण करते हैं–

**तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।**
**संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥६२॥**

**पदच्छेद–** तस्मात् (इसलिए) न (नहीं) बध्यते (बँधता है) अद्धा (वस्तुतः) न (नही) मुच्यते (मुक्त होता है) न (न) अपि (ही) संसरति (संसरण करता है), कश्चित् (कोई) संसरति (संसरण करती है) बध्यते (बँधती है) मुच्यते (मुक्त होती है) च (और) नानाश्रया (अनेक आश्रयों वाली) प्रकृतिः (प्रकृति)।

**अन्वय–** तस्मात् कश्चित् (पुरुषः) न बध्यते, न मुच्यते, न अपि संसरति अद्धा नानाश्रया प्रकृतिः (एव) संसरति, बध्यते, मुच्यते च।

**अनुवाद–** इसलिए कोई (पुरुष) न बँधता है, न मुक्त होता है, न ही संसरण करता है। वस्तुतः अनेक आश्रयों वाली प्रकृति (ही) संसरण करती है, बँधती है और मुक्त होती है।

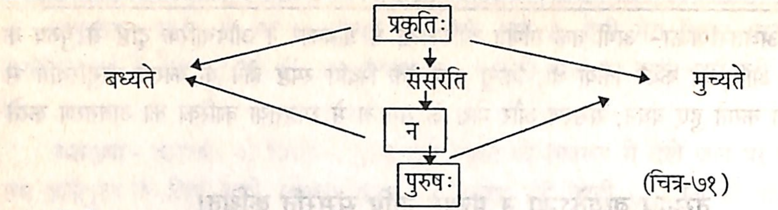
**व्याख्या–** पुरुष और प्रकृति में स्वामी और सेवक का सम्बन्ध होता है, जिसका संकेत कारिका ६० में भी किया गया है। जिसप्रकार सेवक के द्वारा होने वाली विजय और पराजय उसकी न होकर स्वामी की मानी जाती हैं। इसे औपचारिक प्रयोग भी कहा जा सकता है। जबकि वस्तुस्थिति इसके ठीक विपरीत होती है अर्थात् वह जय अथवा पराजय सेवकों की होती है।

ठीक इसीप्रकार न किसी पुरुष का बन्धन होता है, न मोक्ष और न ही कोई पुरुष जन्म-मरणरूप संसरण को प्राप्त करता है, अपितु अनेक पुरुषों का आश्रय लिए हुए त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही बन्धन, मोक्ष एवं सूक्ष्मशरीर के रूप में लोक लोकान्तर में, अनेक योनियों में संसरण होता है।

पुरुष तो निर्गुण, निर्विकार, एवं निष्क्रिय होता है। अतः उसमें बन्धनरूप विकार सम्भव नहीं है। साथ ही उसके निष्क्रिय होने के कारण जन्म, मरणरूप संसरण भी नहीं हो सकता एवं जिसका बन्धन ही सम्भव नहीं है, उसका मोक्ष कैसे हो सकता है। इसलिए बन्धन, मोक्ष और संसरण केवल प्रकृति का होता है, पुरुष का नहीं।

सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति से अट्ठारह तत्त्वों से निर्मित सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति होती है, जिसमें स्थित महत्त्वपूर्णतत्त्व बुद्धि के धर्म अधर्म आदि भावों के कारण इसका बन्धन, संसरण होता है तथा इसी के एक भाव ज्ञान से इसे मुक्ति मिलती है। पुरुष के ऊपर तो इनका अध्यारोप मात्र होता है।

प्रस्तुत कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–



(चित्र-७१)

**विशेष–** १. कुछ भाष्यकारों ने कारिका में प्रयुक्त बध्यते, संसरति और मुच्यते की व्यवस्थितक्रम से व्याख्या की है, किन्तु गौडपादादि कुछ ने इसी क्रम को रहने दिया है।

२. आचार्य गौडपाद ने 'नानाश्रया' का अभिप्राय– 'देवमानुषतिर्यकयोनि' किया है, किन्तु जयमंगलाकार भाव, लिङ्ग और भूतों की सृष्टि को ही आश्रय स्वीकार करते हैं। जबकि आचार्य वाचस्पति की दृष्टि में पुरुष ही वह आश्रय होता है।

३. कारिका के प्रथमचरण में 'अद्धा' के स्थान पर 'असौ' और 'नापि' पाठभेद भी मिलते हैं।

**अवतरणिका–** इसप्रकार बन्धन, संसरण और मोक्ष प्रकृति का होता है, पुरुष का नहीं। इसका प्रतिपादन करने के पश्चात् बन्धन और मोक्ष के स्वरूपों का कथन करने के लिए अगली कारिका प्रस्तुत करते हैं–

**रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।**
**सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥६३॥**

**पदच्छेद–** रूपैः (रूपों के द्वारा) सप्तभिः (सात के द्वारा) एव (ही) तु (तो) बध्नाति (बाँधती है) आत्मानम् (स्वयं को) आत्मना (अपने द्वारा) प्रकृतिः (प्रकृति) सा (वह) एव (ही) च (और) पुरुषार्थम् (पुरुषार्थ की) प्रति (सिद्धि के लिए) विमोचयति (मुक्त करती है), एक रूपेण (एक (ज्ञान) रूप के द्वारा)।

**अन्वय–** प्रकृतिः सप्तभिः रूपैः एव आत्मना आत्मानम् बध्नाति तु सा एव पुरुषार्थम् प्रति एकरूपेण (आत्मानम्) विमोचयति च।

**अनुवाद–** प्रकृति सात रूपों के द्वारा ही अपने द्वारा अपने को बाँधती है, किन्तु वह (प्रकृति) ही पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए एक रूप (ज्ञान) के द्वारा स्वयं को मुक्त करती है।

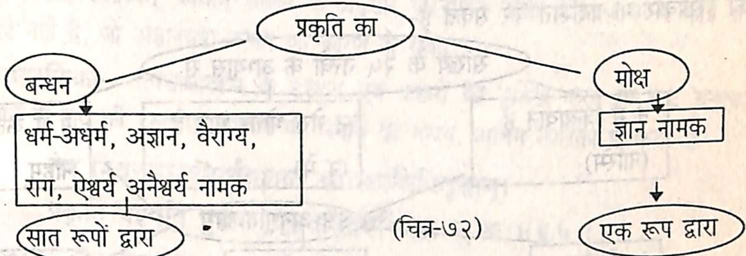
**व्याख्या–** बुद्धि के आठ भावों– धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-राग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, का तेईसवीं कारिका में विस्तार से विवेचन किया गया है। इनमें से ज्ञान को छोड़कर सात भावों के द्वारा प्रकृति स्वयं ही पुरुष के साथ अपने को बाँधती है। इसप्रकार प्रकृति के बन्धन के ये हेतु भी प्रकृति के ही हैं। यह बन्धन वास्तव में पुरुष का नहीं, अपितु सूक्ष्मशरीर के रूप में प्रकृति का ही होता है। जिसका उल्लेख पूर्व कारिका में किया गया है।

उक्त आठ भावों में ज्ञानरूप एक भाव विवेक-ख्याति द्वारा प्रकृति का मुक्ति प्रदान करता है। पुरुष को उसके वास्तविकस्वरूप कैवल्य की प्रतीति एकमात्र ज्ञान के द्वारा होती है, जो प्रकृति

का एक ही भाव है। इसीलिए कारिका के उत्तरार्द्ध में कहा गया– 'यह प्रकृति अपने ज्ञान नामक भाव से पुरुष के लिए स्वयं को निवृत्त कर लेती है।'

इसप्रकार अनादिकाल से होने वाले पुरुष के ऊपर आरोपित अपने बन्धन का ज्ञान पुरुष को कराकर प्रकृति स्वयं को संकुचित कर लेती है। जो वस्तुतः प्रकृति की मुक्ति होती है, पुरुष की नहीं, किन्तु औपचारिक दृष्टि से इसका सम्बन्ध पुरुष के साथ स्थापित किया जाता है।

कारिका के अभिप्राय को भिन्न प्रकार से प्रदर्शित करते हैं–




(चित्र-७२)

**विशेष–** १. प्रकृति ही स्वयं अपना मोक्ष करती है और स्वयं ही अपने बन्धन का कारण भी है। अन्य कोई नहीं। इसी तथ्य का प्रतिपादन इस कारिका में किया गया है।

**अवतरणिका–** यहाँ तक सांख्यशास्त्र के पच्चीस तत्त्वों का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् प्रकृति एवं पुरुष की भिन्नता का सम्यक् प्रतिपादन किया गया। इस सब के निरन्तर अभ्यास से साधक को किसप्रकार की अनुभूति होती है, इसका प्रतिपादन करते हुए अग्रिम कारिका का उल्लेख करते हैं–

**एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।**
**अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ ६४॥**

**पदच्छेद–** एवम् (इसप्रकार) तत्त्व-अभ्यासात् (पच्चीस तत्त्वों के अभ्यास से) न (नहीं) अस्मि (हूँ) न (न) मे (मेरे) न (नहीं) अहम् (मैं) इति (इसप्रकार के) अपरिशेषम् (सम्पूर्ण) अविपर्ययाद् (संशय भ्रम आदि से रहित होने के कारण) विशुद्धम् (निर्मल) केवलम् (मिथ्याज्ञान से शून्य) उत्पद्यते (उत्पन्न होता है) ज्ञानम् (ज्ञान)।

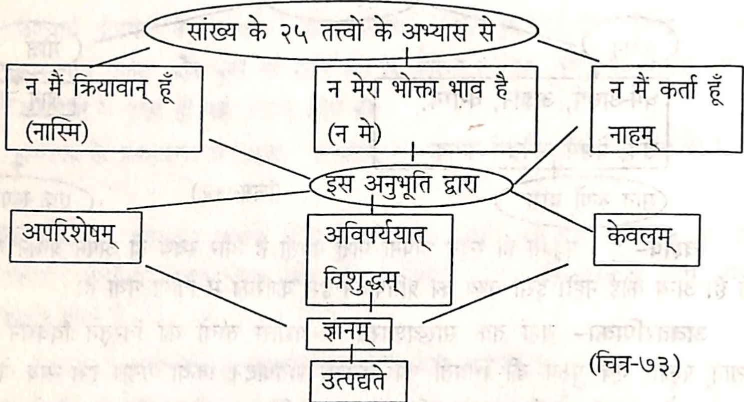
**अन्वय–** एवम् तत्त्वाभ्यासात् न अस्मि, न मे, न अहम् इति अपरिशेषम् अविपर्ययात् विशुद्धम् ज्ञानम् उत्पद्यते।

**अनुवाद–** इसप्रकार (२५ सांख्य) तत्त्वों के अभ्यास से न (मैं क्रियावान्) हूँ, न मेरा (भोक्तृत्व है) न मैं (कर्ता) हूँ, इसप्रकार का सम्पूर्ण, संशय भ्रम आदि से रहित होने से निर्मल एक मात्र ज्ञान उत्पन्न होता है।

**व्याख्या–** सांख्यदर्शन में बताए गए पच्चीस तत्त्वों के निरन्तर चिन्तनपूर्वक अभ्यास से व्यक्ति को तीन प्रकार की अनुभूति होती है, जिसे कारिकाकार ने 'न अस्मि', 'न मे', 'न अहम्' के रूप में अत्यन्त संक्षेप में निर्दिष्ट किया है। प्रथम अनुभूति में साधक स्वयं का क्रियावान् न

होना अनुभव करता है। द्वितीय में, वह स्वयं का भोक्ता न होना अनुभव करता है। तथा तृतीय में, उसे स्वयं का कर्ता न होने की अनुभूति होती है।

इसप्रकार सांख्यतत्त्वों के चिन्तन से साधक को स्वयं के कर्ता भोक्ता एवं क्रियावान् न होने का अनुभव होता है। जो ज्ञान का प्रथम सोपान है। इस स्थिति में उसकी सभी क्रियाएँ निरपेक्ष होती हैं। इसी के पश्चात् साधक में संशय, भ्रम आदि से रहित होने के कारण विशुद्ध, केवल और सम्पूर्णज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसी से उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। कारिका के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–




(चित्र-७३)

**विशेष**– १ कारिका में प्रयुक्त 'तत्त्वाभ्यास' से आचार्य गौडपाद, जयमंगलाकार एवं माठर ने सांख्य के २५ तत्त्वों के अभ्यास से अभिप्राय लिया है, किन्तु तत्त्वकौमुदी तथा चन्द्रिकाकार ने इसे तत्त्वविषयक ज्ञानाभ्यास माना है।

२. अविपर्ययात् में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग, ज्ञान के विशेषण 'विशुद्धम्' के प्रति उसके हेतुभाव की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। इसप्रकार सम्यक्, मिथ्या और संशय नामक तीन ज्ञानों में से केवल 'सम्यक् ज्ञान' ही विशुद्ध ज्ञान होता है।

३. अभ्यास से होने वाले तत्त्वज्ञान में मिथ्याज्ञान के संस्कार के भी अभाव के कथन के लिए ज्ञान का विशेषण 'केवल' पद प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् यह ज्ञान अनादिकाल से चले आ रहे मिथ्याज्ञान की वासना से भी पूर्णतयारहित होता है।

४. ज्ञान के स्वरूप को यहाँ तीन अनुभव वाक्यों द्वारा प्रदर्शित किया है, भाष्यकारों ने इनके भिन्न अर्थ किए हैं।

५. जयमंगलाकार ने 'नास्मि' का अर्थ– मैं सूक्ष्म एवं स्थूलशरीर नहीं हूँ। आचार्य माठर ने– मैं मन, बुद्धि, अहंकार आदि तत्त्वों में से नहीं हूँ। वाचस्पति ने मैं क्रियावान् नहीं हूँ, किया है।

६. कारिका में प्रयुक्त 'न मे' का अर्थ, गौडपादाचार्य ने 'यह शरीर मेरा नहीं है'। जयमंगलाकार ने 'यह मेरा नहीं प्रकृति का है'। आचार्य माठर ने 'न मे तत्त्वानि' किया है।

७. इसीप्रकार 'नाहम्' को, गौडपाद 'अहंकाररहित हूँ।' जयमंगलाकार ने 'मैं प्रकृति नहीं हूँ' तथा आचार्य माठर 'मैं महत् आदि तत्त्वों का नहीं हूँ एवं वाचस्पति ने मैं कर्ता नहीं हूँ, अर्थ में प्रयुक्त माना है।

८. कारिका में तत्त्वाभ्यास से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के लिए तीन विशेषणों का प्रयोग हुआ है– विशुद्ध, केवल एवं अपरिशेष। इनमें अपरिशेष का अभिप्राय है– 'नास्ति किंचिद् अस्मिन् परिशिष्ट ज्ञातव्यम्' अर्थात् सांख्य के अनुसार परिगणित तत्त्वों से भिन्न अन्य कोई तत्त्व सम्भव ही नहीं है, जो अज्ञानवश बन्धन का कारण हो सके।

**अवतरणिका–** तत्त्वसाक्षात्कार के स्वरूप एवं प्रकारों का उल्लेख करने के बाद ग्रन्थकार विवेक-ज्ञान के बाद की पुरुष एवं प्रकृति की स्थिति का कथन, अग्रिम कारिका में करते हैं–

**तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्।**
**प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः सुस्थः॥ ६५॥**

**पदच्छेद–** तेन (उस (विशुद्ध तत्त्व ज्ञान) से) निवृत्तप्रसवाम् (भोगापवर्ग रूप प्रसव से निवृत्त) अर्थवशात् (प्रयोजन सम्पन्न होने से) सप्तरूपविनिवृत्ताम् (सात भावों से निवृत) प्रकृतिम् (प्रकृति को) पश्यति (देखता है) पुरुषः (पुरुष) प्रेक्षकवत् (द्रष्टा (निरपेक्ष) के समान) अवस्थितः (स्थित हुआ) सुस्थः (तटस्थ)।

**अन्वय–** तेन अवस्थितः सुस्थः पुरुषः अर्थवशात् निवृत्तप्रसवाम्, सप्तरूपविनिवृत्ताम् प्रकृतिम् प्रेक्षकवत् पश्यति।

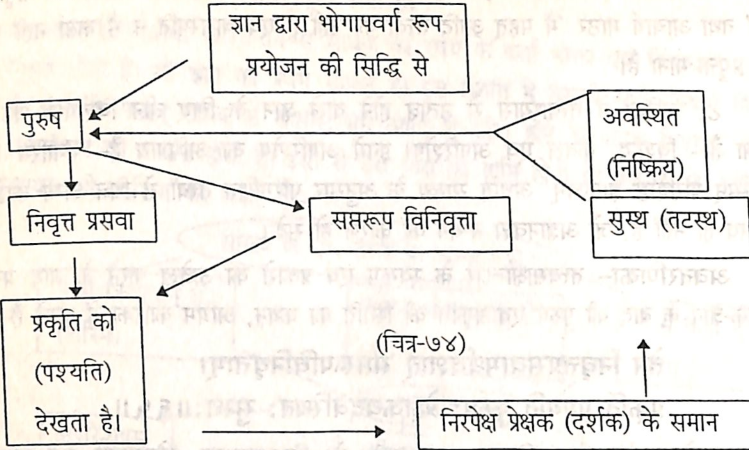
**अनुवाद–** उस (विशुद्ध तत्त्वज्ञान) के द्वारा स्थित हुआ तटस्थ पुरुष (विवेक ज्ञान रूप) प्रयोजन सम्पन्न होने के कारण (भोगापवर्ग रूप) प्रसव से निवृत्त (धर्म-अधर्म आदि) सात भावों से पूर्णतया निवृत्त प्रकृति को (निरपेक्ष) द्रष्टा के समान देखता है।

**व्याख्या–** सांख्य में प्रतिपादित तत्त्वों के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न विवेकज्ञान होने पर प्रकृति उस ज्ञान के प्रति अपने भोग एवं अपवर्गरूप दोनों प्रकार के प्रसव करना बन्द कर देती है। इसीलिए यहाँ प्रकृति के लिए 'निवृत्त प्रसवा' पद का प्रयोग हुआ है, क्योंकि भोग और अपवर्ग ही प्रकृति के प्रसव हैं।

प्रकृति में स्थित बुद्धि के धर्म-अधर्मादि आठ रूपों में ज्ञानरूप भाव को छोड़कर शेष सात– धर्म, अधर्म, अज्ञान, राग, वैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य आदि भावों से भी प्रकृति पूर्णतया निवृत्त हो जाती है अपीत् ज्ञान की स्थिति में ये सात भाव भोग की सामग्री प्रस्तुत नहीं करते हैं।

इसप्रकार तत्त्वज्ञान की अवस्था में विवेकज्ञान रूप प्रयोजन के सम्पन्न होने के कारण तटस्थभाव से स्थित पुरुष निरपेक्षद्रष्टा के समान 'निवृत्तप्रसवा' एवं 'सप्तरूपविनिवृत्ता' प्रकृति को देखता है। उसे प्रकृति में कोई आकर्षण प्रतीत नहीं होता उसकी स्थिति पूर्णतया निरपेक्ष दर्शक के समान होती है। प्रकृति भी ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुष के प्रति अपने सम्पूर्ण व्यापारों को सिमेट लेती है। केवल एक शुद्ध सत्त्वप्रधान ज्ञानरूप भाव की स्थिति बनी रहती है जिसकी अभिव्यञ्जना कारिका में प्रयुक्त सप्त पद के द्वारा हो रही है।

कारिका अभिप्राय को भिन्न प्रकार से प्रदर्शित करते हैं—




(चित्र-७४)

**विशेष**– १. कारिका में प्रयुक्त 'तेन' पद के द्वारा इससे पूर्व की कारिका में कहे गए विवेकज्ञान का परामर्श होता है।

२. कारिका में प्रयुक्त 'अवस्थित' पद के द्वारा पुरुष की निष्क्रियता का कथन किया गया है।

३. कारिका के अन्त में प्रयुक्त 'सुस्थः' के स्थान पर आचार्य गौडपाद और जयमंगलाकार ने 'स्वस्थः' आचार्य माठर ने 'संगतश्च' अथवा 'स्वच्छः' पदपाठों को स्वीकार किया है। स्वस्थः का अभिप्राय होगा 'अपने में स्थित पुरुष' तथा स्वच्छः का अर्थ, रजस्, तमस् गुणों से रहित शुद्धसात्विक अंश में स्थित 'ज्ञान' करना होगा।

**अवतरणिका**– तत्त्वज्ञान की अवस्था में पुरुष और प्रकृति की स्थिति को और अधिक स्पष्ट करने के लिए अगली कारिका को उद्धृत करते हैं—

**दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या।**
**सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य॥६६॥**

**पदच्छेद**– दृष्टा (देख ली गई) मया (मेरे द्वारा) इति (इसप्रकार) उपेक्षकः (उपेक्षा करने वाला) एकः (एक (पुरुष)) दृष्टा (देख ली गई हूँ) अहम् (मैं) इति (ऐसा (सोचकर)) उपरमति (विरत हो जाती है) अन्या (दूसरी (प्रकृति) सति (होने पर) संयोगे (संयोग) अपि (भी) तयोः (उन दोनों (पुरुष और प्रकृति) का) प्रयोजनम् (प्रयोजन) न (नहीं) अस्ति (है) सर्गस्य (सृष्टि) का)

**अन्वय**– एकः (पुरुषः) मया दृष्टा इति उपेक्षकः (भवति), अन्या (प्रकृतिः) अहम् दृष्टा इति उपरमति, (अतः) तयोः संयोगे सति अपि सर्गस्य प्रयोजनम् न अस्ति।

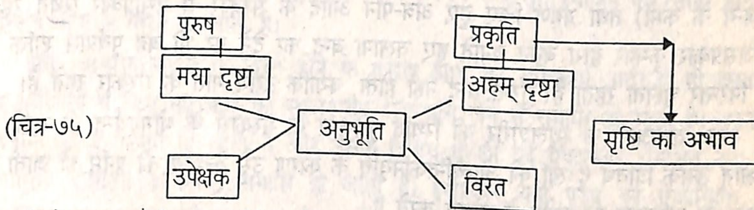
**अनुवाद**– एक (अर्थात् पुरुष) 'मेरे द्वारा देख ली गई' ऐसा (सोचकर) उपेक्षा करने वाला (हो जाता है)। दूसरी (अर्थात् प्रकृति) 'मैं देख ली गई हूँ' ऐसा (विचार कर) विरत हो जाती है।

इसलिए (तत्त्वज्ञान की अवस्था में) उन दोनों (पुरुष और प्रकृति) का संयोग रहने पर भी सृष्टि का (कोई) प्रयोजन नहीं रहता है।

**व्याख्या–** पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि ही सृष्टि का प्रयोजन है, जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति द्वारा सम्पन्न की जाती है। इनमें भी भोगरूप प्रयोजन गौण एवं अपवर्गरूप प्रयोजन मुख्य होता है। सांख्य द्वारा बताए गए २५ तत्त्वों के निरन्तर अभ्यास के द्वारा जब पुरुष को विवेक-ज्ञान होता है, यही अपवर्ग है। तब चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति का संयोग होते हुए भी सृष्टिकार्य सम्पन्न नहीं होता, क्योंकि प्रकृति का यह स्वभाव है कि यह अज्ञानवस्था में ही प्रसवोन्मुखी होती है।

अपवर्ग के कारणस्वरूप विवेकज्ञान रूप प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर न तो प्रकृति पुरुष के लिए भोग जुटाती है और न ही पुरुष को भोगों की अपेक्षा होती है। अतः विवेकख्याति की स्थिति में तत्त्वज्ञानी स्थूलशरीर में (पूर्वकृत कर्मों के संस्कार के कारण) रहते हुए भी सांसारिक भोगों में सम्पृक्त नहीं होता। इस अवस्था में 'प्रकृति को मैंने देख लिया है', ऐसा सोचकर पुरुष की प्रकृति के प्रति जिज्ञासा समाप्त हो जाती है, वह उसके प्रति उपेक्षा का भावग्रहण करता है। इसीप्रकार प्रकृति भी इस पुरुष ने मुझे देख लिया है मेरे स्वरूप को जान लिया है, ऐसा विचार कर उसके सामने अपने सृष्टिरूप प्रपञ्च को प्रसारित नहीं करती, अपितु स्वयं को सिमेट लेती है। अतः ज्ञानावस्था में दोनों के साथ रहने पर भी सृष्टिरूप कार्य सम्पन्न नहीं होता है, क्योंकि सृष्टि का मुख्यप्रयोजन अपवर्ग का मुख्य कारण विवेकज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

पुनः कारिका के आशय को भिन्नप्रकार से प्रस्तुत किया जाता है–




(चित्र-७५)

**विशेष–** १. विवेक-ज्ञान होने पर सूक्ष्म और स्थूलशरीर के साथ पुरुष का अहंभाव समाप्त हो जाता है। जिसे ६४वीं कारिका में प्रतिपादित किया गया है और साथ ही लिङ्गशरीर के अनादिकाल की वासना से संचालित संस्कार भी समाप्त हो जाते हैं, स्थूलशरीर जिनका उपभोग करता है। इसी कारण पुरुष एवं प्रकृति के संयोग रहने पर भी सृष्टिकार्य ज्ञानावस्था में सम्पन्न नहीं होता है।

**अवतरणिका–** तत्त्वज्ञान होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु इसके होने पर भी व्यक्ति तत्क्षण स्थूलशरीर से मुक्त नहीं हो जाता, अपितु पूर्व जन्मों में किए गए कर्मों के फलभोग तक तत्त्वज्ञानी के स्थूलशरीर की स्थिति बनी रहती है, इसी का सोदाहरण प्रतिपादन करने के लिए अग्रिम कारिका का कथन करते हैं–

**सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।**
**तिष्ठति संस्कारवशाचक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः॥६७॥**

**पदच्छेद–** सम्यक्ज्ञान (आत्मज्ञान की) अधिगमात् (प्राप्ति से) धर्मादीनाम् कारण प्राप्तौ (धर्म-अधर्म आदि के अकारणत्व को प्राप्त होने पर) तिष्ठति (रहता है) संस्कारवशात् (पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण) चक्रभ्रमिवत् (चाक के) घूमने के समान) धृतशरीरः (शरीर को धारण किए हुए।

**अन्वय–** सम्यक् ज्ञानाधिगमात्, धर्मादीनाम् अकारणप्राप्तौ संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवत् धृतशरीरः तिष्ठति।

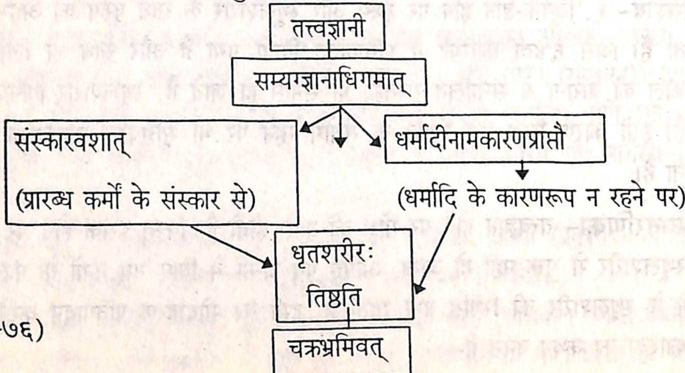
**अनुवाद–** आत्मज्ञान की प्राप्ति से, धर्म अधर्म आदि सृष्टि के हेतु अर्थात् कारणरूप में न रहने पर (पूर्वजन्म के) संस्कारों के कारण (कुम्हार के) चाक के घूमने के समान शरीर को धारण किए रहता है।

**व्याख्या–** प्रकृति पुरुष के भेदरूप, विशुद्ध, अपरिशेष एवं केवल स्वरूप आत्मज्ञान के होने पर तत्त्वज्ञानी का पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् उसका सूक्ष्मशरीर पुनः स्थूलशरीर धारण नहीं करता। इसके कारण का उल्लेख कारिका के द्वितीय चरण में किया गया है (धर्मादीनामकारणप्राप्तौ)

क्योंकि सूक्ष्मशरीर में स्थित बुद्धि के धर्म-अधर्म, अज्ञान, राग, विराग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य आदि सात भाव ही पुनर्जन्म के कारण होते हैं, किन्तु आत्मज्ञान द्वारा ये भाव भुने हुए बीज के समान पुनर्जन्म के रूप में अंकुरित नहीं होते हैं। यही धर्म आदि भावों का अकारणत्व को प्राप्त होना है।

इस ज्ञान अवस्था में भी तत्क्षण स्थूलशरीर का पात नहीं होता, अपितु वह प्रारब्धकर्मों (पूर्वजन्म के कर्मों) तथा ग्रहण किए हुए अन्न-पान आदि के संस्कार से उसीप्रकार स्थित रहता है, जिसप्रकार कुम्हार द्वारा बर्तन बनाते हुए चलाना बन्द कर देने पर भी वह पूर्वप्राप्त शक्ति के द्वारा निरन्तर चलता रहता है। तुरन्त बन्द नहीं होता, क्योंकि उसमें गति के संस्कार रहते हैं।

अतः तत्त्वज्ञानी के स्थूलशरीर की स्थिति पूर्वजन्म के संस्कारों के भोगपर्यन्त ही रहती है। तत्पश्चात् उसके त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिकनिवृत्ति के कारण उसे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। कारिका के अभिप्राय को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं—




(चित्र-७६)

**विशेष–** १. तत्त्वज्ञान के अनन्तर ज्ञानी के स्थूलशरीर की स्थिति की उपमा कुम्हार के चाक में स्थित गति के साथ दी है जो अत्यन्त सटीक एवं सुन्दर बन पड़ी है तथा भावाभिव्यक्ति में सहायक है।

२. प्रारब्धकर्मों के संस्कारों की समाप्ति तक ही तत्त्वज्ञानी का स्थूलशरीर रहता है।

**अवतरणिका–** तत्त्वज्ञानी को कैवल्य की प्राप्ति शरीरपात के अनन्तर की होती है। इसका कथन करने के लिए ग्रन्थकार अग्रिम कारिका का अवतरण करते हैं–

**प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।**
**ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥ ६८॥**

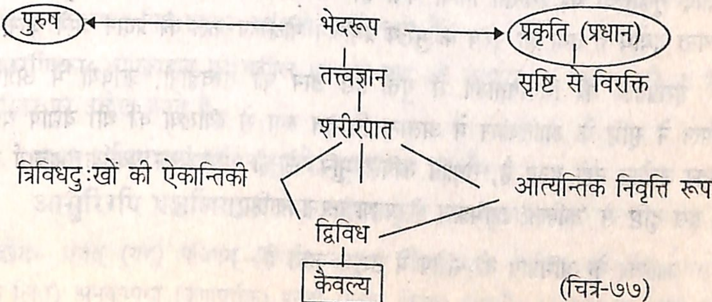
**पदच्छेद–** शरीरभेदे प्राप्ते (शरीरपात प्राप्त होने पर) चरितार्थत्वात् (भोगापवर्गरूप प्रयोजनों के सिद्ध होने से) प्रधानविनिवृत्तौ (प्रकृति के निवृत्त होने पर) ऐकान्तिकम् (अनिवार्य रूप से) आत्यन्तिकम् (हमेशा के लिए) उभयम् (दोनों प्रकार के) कैवल्यम् (मोक्ष को) आप्नोति (प्राप्त करता है)।

**अन्वय–** चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ शरीरभेदे प्राप्ते (पुरुषः) ऐकान्तिकम् आत्यन्तिकम् उभयम् कैवल्यम् आप्नोति।

**व्याख्या–** ग्रन्थ के आरम्भ में कारिकाकार ने दुखत्रय की ऐकान्तिक एवं आत्यान्तिक निवृत्ति को ही ग्रन्थ का प्रयोजन बताया था। उसी का प्रस्तुत कारिका में प्रतिपादन किया गया है। शरीरभेद से अभिप्राय यहाँ प्रारब्धकर्मों के संस्कारों की समाप्ति पर होने वाले शरीर-पात से है। इससे पूर्व तत्त्वज्ञान के कारण प्रकृति, पुरुष के भोग-अपवर्ग रूप सृष्टिप्रयोजन की सिद्धि होने से, सृष्टिरूप कार्य से विरत हो जाती है।

अतः अव्यक्त प्रकृति के विरत होने के कारण आगे का सृष्टिकार्य अवरुद्ध हो जाता है और पूर्वजन्मों में किए गए कर्मों को स्थूलशरीर द्वारा भोग लेने से समाप्ति हो जाती है। तदनन्तर तत्त्वज्ञानी का शरीरपात हो जाता है और उसके त्रिविध दुःखों की ऐकान्तिक (निश्चित रूप से) आत्यन्तिक (हमेशा के लिए) समाप्ति हो जाती है। इसप्रकार यही पुरुष का ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक स्वरूप वाला दो प्रकार का कैवल्य अर्थात् मोक्ष होता है।

पुनः कारिका को संक्षेप में स्पष्ट किया जाता है–




(चित्र-७७)

**विशेष–** १. यहाँ तक सांख्यकारिका का प्रतिपाद्य विषय समाप्त हो जाता है, क्योंकि त्रिविधदुःखों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् कैवल्य प्राप्त कराना ही इस शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है।

२. कैवल्य अर्थात् मोक्ष को ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक रूप से दो प्रकार का बताया गया है। इसे प्राप्त करने पर व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र से हमेशा के लिए मुक्त हो जाता है।

३. प्रधान अर्थात् प्रकृति की निवृत्ति का मुख्यकारण पुरुष के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन का चरितार्थ (सिद्ध) होना है।

**अवतरणिका–** इसप्रकार सांख्य के तत्त्वों का विस्तृत विवेचन करने के बाद इस ज्ञान की परम्परा का कथन करते हुए अगली कारिका को उद्धृत करते हैं–

**पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।**
**स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम्॥ ६९॥**

**पदच्छेद–** पुरुषार्थज्ञानम् (पुरुष का प्रयोजन (मोक्षरूप फल) देने वाला ज्ञान) इदम् (यह) गुह्यम् (दुर्बोध, गूढ़) परमर्षिणा (ऋषियों में मूर्धन्य कपिल ने) समाख्यातम् (भलीप्रकार कहा गया है) स्थिति-उत्पत्ति-प्रलयाः (स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय) चिन्त्यन्ते (विचार किए जाते हैं), यत्र (जिसमें) भूतानाम् (प्राणियों की)

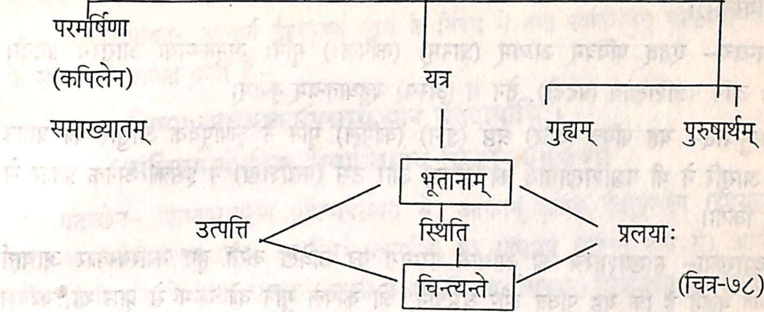
**अन्वय–** यत्र भूतानाम् स्थिति-उत्पत्ति-प्रलयः चिन्त्यन्ते (ईदृशम्) गुह्यम् पुरुषार्थज्ञानम् इदम् परमर्षिणा समाख्यातम्।

**अनुवाद–** जिस (ज्ञान) में प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (आदि तत्त्व) विचार किए जाते हैं (ऐसा गूढ़, पुरुष के प्रयोजन (मोक्षरूप फल को प्रदान करने वाला यह ज्ञान ऋषियों में मूर्धन्य (महर्षि कपिल) ने भलीप्रकार (विस्तार से) कहा।

**व्याख्या–** यह सांख्यशास्त्रीयज्ञान जिसकी चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ सांख्यकारिका में विस्तार से इससे पूर्व की कारिकाओं में की गई है, जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय इत्यादि गूढ़तत्त्वों का चिन्तन किया गया है। जो सामान्य व्यक्ति के लिए गूढ़ होने के कारण अत्यन्त दुर्बोध है तथा जो पुरुष के मुख्य प्रयोजन मोक्षरूप फल को प्रदान करने वाला है।

इसप्रकार की विशेषताओं से युक्त इस ज्ञान की तत्त्वज्ञानी, ऋषियों में अग्रणी, महर्षि कपिल ने सृष्टि के आदिकाल में अत्यन्त विस्तृत रूप से व्याख्या की थी। यद्यपि यहाँ नाम से उनका उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि कपिल मुनि को ही सांख्य का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। इस दृष्टि से 'कपिल' अभिप्राय ही ग्रहण करना चाहिए।

कारिका के अभिप्राय को संक्षेप में उद्धृत करते हैं–



(चित्र-७८)

**विशेष–** १. कारिका में प्रयुक्त 'पुरुषार्थ' से अभिप्राय पुरुष के परम अर्थ (प्रयोजन) मोक्ष से लेना चाहिए।

२. आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'गुह्य' पद का अर्थ 'दुर्बोध' आचार्य गौडपाद ने 'रहस्य' तथा जयमंगलाकार ने 'अप्रकाश्य' किया है।

३. 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' व्याख्या की दृष्टि से कपिलमुनि के लिए ऋषि पद का प्रयोग उचित प्रतीत नहीं होता, किन्तु सम्भवतः यहाँ उनके ज्ञान में अग्रणी होने के कारण किया गया है।

४. आचार्य गौडपाद ने केवल इस कारिका तक भाष्य किया है, जिस कारण कुछ विद्वान् अग्रिम कारिकाओं को मूल सांख्यकारिका से सम्बद्ध स्वीकार नहीं करते हैं।

५. कारिका में प्रयुक्त स्थिति, उत्पत्ति, प्रलय का क्रम छन्द के अनुरोध से रखा गया है तथा भाष्यकारों ने इन पदों की भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की है– आचार्य गौडपाद ने 'स्थिति' को 'अवस्थान', 'उत्पत्ति' को 'आविर्भाव' तथा 'प्रलय' को तिरोभाव माना है।

६. जयमंगलाकार के अनुसार पुरुष का देव, मनुष्य, तिर्यक्रूप में बन्धन में रहना ही स्थिति है। पञ्चतन्मात्राओं से महाभूतों की सृष्टि ही उत्पत्ति है। सभी तत्त्वों का उत्क्रमणपूर्वक अपने कारण में विलीन होना प्रलय होती है।

७. आचार्य गौडपाद एवं जयमंगलाकार ने 'भूतानाम्' पद से प्रकृति के सभी विकारों को माना है, किन्तु वाचस्पति मिश्र इसका 'प्राणियों' अर्थ करते हैं।

**अवतरणिका–** सांख्यज्ञान की कपिल मुनि के बाद की परम्परा का कथन करने के लिए अग्रिम कारिका का उल्लेख करते हैं–

**एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।**
**आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधा कृतं तन्त्रम्॥७०॥**

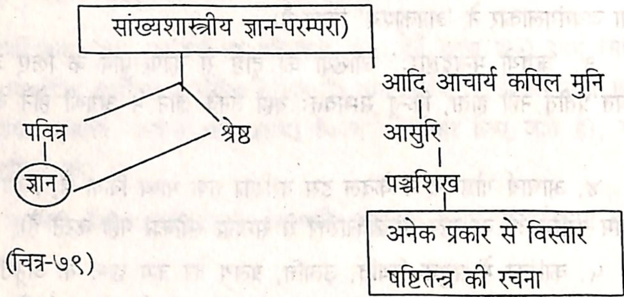
**पदच्छेद–** एतत् (यह) पवित्रम् (पवित्र) अग्र्यम् (श्रेष्ठ) मुनि (कपिल मुनि ने) आसुरये (आसुरि के लिए) अनुकम्पया (कृपापूर्वक) प्रददौ (प्रदान किया) आसुरिः (आसुरि ने) अपि (भी)

पञ्चशिखाय (पंचशिख-आचार्य के लिए) तेन (उसने) बहुधा (अनेक प्रकार से) कृतम् (किया) तन्त्रम् (विस्तार)।

**अन्वय–** एतत् पवित्रम् अग्र्यम् (ज्ञानम्) (कपिलः) मुनिः अनुकम्पया आसुरये प्रददौ। आसुरिः अपि पञ्चशिखाय (प्रददौ), तेन च (अस्य) बहुधातन्त्रम् कृतम्।

**अनुवाद–** यह पवित्र (और) श्रेष्ठ (ज्ञान) (कपिल) मुनि ने कृपापूर्वक आसुरि को प्रदान किया। आसुरि ने भी पञ्चशिखाचार्य को (दिया) और उस (पञ्चशिख) ने इसका अनेक प्रकार से विस्तार किया।

**व्याख्या–** सांख्यशास्त्र की आचार्य परम्परा का उल्लेख करते हुए कारिकाकार आचार्य ईश्वरकृष्ण कहते हैं कि यह पवित्र और श्रेष्ठज्ञान, जो कपिल मुनि को जन्म से प्राप्त था, कपिल मुनि ने सर्वप्रथम अपने प्रिय शिष्य आसुरि को अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक प्रदान किया। तत्पश्चात् आचार्य आसुरि ने इसका उपदेश पञ्चशिख नामक आचार्य को प्रदान किया। पुनः उन्होंने इस ज्ञान की अनेक प्रकार से कथा, उदाहरण आदि का उल्लेख करते हुए विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की।




(चित्र-७९)

**विशेष–** १. कारिका में प्रयुक्त 'एतत्' पद का प्रयोग 'ज्ञान' के लिए हुआ है जिसके 'पवित्र' और 'श्रेष्ठ' दो विशेषण बताए गए हैं।

२. इस ज्ञान की 'पवित्रता' वैदिक कर्मकाण्ड की तुलना में उत्तम होने के कारण स्वतः सिद्ध है, क्योंकि वैदिक कर्मकाण्ड भी दुःख अविशुद्धि, क्षय और अतिशय आदि दोषों से युक्त है।

३. 'अग्र्यम्' विशेषण वैदिक एवं लौकिक दोनों उपायों की अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। जो त्रिविध दुःखों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति के साथ, अविशुद्धि आदि दोषों से रहित होने में निहित हैं।

४. कहा जाता है कपिल मुनि को धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य जन्म से सिद्ध थे। उन्होंने त्रिविध दुःखों से त्रस्त, पीड़ित संसार को मुक्त कराने के लिए, इसके लिए योग्यपात्र आसुरि को अनुग्रहपूर्वक सांख्यशास्त्रीय ज्ञान प्रदान किया था।

५. पञ्चशिखाचार्य ने गुरुपरम्परा से प्राप्त इस ज्ञान का अत्यन्त विस्तार षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ में किया है।

६. यहाँ प्रयुक्त 'तन्त्र' पद को 'विस्तार' अर्थ में अथवा पञ्चशिख विरचित 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ के अर्थ में भी स्वीकार किया जा सकता है।

**अवतरणिका–** आचार्य ईश्वरकृष्ण स्वयं के विषय में तथा स्वविरचित सांख्यकारिका ग्रन्थ के सम्बन्ध में उल्लेख करते हैं–

**शिष्यपरम्परयागतमिश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।**
**संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्॥७१॥**

**पदच्छेद–** शिष्यपरम्परया (शिष्यपरम्परा से) आगतम् (प्राप्त) ईश्वरकृष्णेन (ईश्वरकृष्ण के द्वारा) च (और) एतत् (यह) आर्याभिः (आर्याओं में) संक्षिप्तम् (संक्षिप्त रूप से) आर्यमतिना (तत्त्वदर्शिनी बुद्धि के द्वारा) सम्यक् (अच्छी प्रकार) विज्ञाय (जानकर) सिद्धान्तम् (सिद्धान्त को)

**अन्वय–** शिष्य परम्परया च आगतम् एतत् सिद्धान्तम् ईश्वरकृष्णेन आर्यमतिना सम्यक् विज्ञाय आर्याभिः सक्षिप्तम् (कृतम्)

**अनुवाद–** और शिष्य परम्परा से प्राप्त इस सारभूत तत्त्व (सिद्धान्त को) आचार्य ईश्वरकृष्ण ने (अपनी) सूक्ष्मतत्त्वदर्शिनी बुद्धि के द्वारा भलीप्रकार जानकर आर्या (छन्द) द्वारा सक्षिप्तरूप में (प्रस्तुत किया)।

**व्याख्या–** आचार्य ईश्वरकृष्ण को सांख्यशास्त्र के ज्ञान की प्राप्ति किसी एक आचार्य विशेष से न होकर, तत्कालीन सांख्यपण्डितों द्वारा स्वयं अध्यवसाय द्वारा तथा उस समय उपलब्ध सांख्यशास्त्र के षष्टि तन्त्र आदि अनेक ग्रन्थों से हुई, जिसकी अभिव्यक्ति कारिका के प्रथम चरण में प्रयुक्त 'शिष्यपरम्परया आगतम्' पदों द्वारा हो रही है।

इसप्रकार प्राप्त सांख्यज्ञान को अपनी तत्त्वविवेकिनी बुद्धि से भलीप्रकार समझने के बाद ही उन्होंने आर्या छन्द में अत्यन्त संक्षेप में सांख्यकारिका ग्रन्थ के रूप में निबद्ध किया है।

**विशेष–** १. यद्यपि आचार्य पञ्चशिख विरचित षष्टितन्त्र ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है तथापि सम्भव है आचार्य ईश्वरकृष्ण के समय में वह उपलब्ध हो और उन्होंने उसका अध्ययन किया हो।

२. आर्या छन्द के प्रथम और तृतीय पाद में बारह मात्राएँ, द्वितीय पाद में अट्ठारह तथा चतुर्थ पाद में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं। इसी छन्द में सारी सांख्यकारिका का प्रणयन हुआ है। इसका लक्षण इसप्रकार है–

**यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।**
**अष्टादश द्वितीये चतुर्थे पञ्चदश सार्या॥**

३. कारिका में बुद्धि को 'आर्या' कहा गया है। जिसका अर्थ विद्वानों ने सूक्ष्मतत्त्वदर्शिनी अर्थात् तत्त्व के समीप पहुँचाने वाली बुद्धि किया है।

४. सांख्याकारिका एक प्रकरण ग्रन्थ है जिसमें सांख्यशास्त्र के विस्तृत सिद्धान्तों को अत्यन्त संक्षेप में निबद्ध किया गया है।

**अवतरणिका–** सत्तर श्लोकों में निबद्ध सांख्यकारिका नामक यह ग्रन्थ वस्तुतः विस्तृत षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप है, इसका प्रतिपादन करने के लिए अन्तिम कारिका को अवतरित करते हैं–

**सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।**
**आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि॥७२॥**

**पदच्छेद–** सप्तत्याम् (सत्तर की संख्या वाली सांख्यकारिका में) किल (निश्चय ही) ये (जो) अर्थाः (विषय) ये (वे) अर्थाः (विषय) कृत्स्नस्य (विशाल) षष्टितन्त्रस्य (षष्टितन्त्र के) आख्यायिकाविरहिताः (कथाओं आख्यानों को छोड़कर) परवादविवर्जिताः (मतमतान्तरों से रहित) च (और) अपि (भी)।

**अन्वय–** सप्तत्याम् ये अपि अर्थाः (निबद्धाः) ते किल कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य (सन्ति), (किन्तु अत्र ते) अर्थाः आख्यायिका विरहिताः, परवाद विवर्जिताः च (सन्ति)।

**अनुवाद–** सत्तर कारिकाओं की संख्या से युक्त सांख्यकारिका में जो भी विषय (निबद्ध किए गए हैं), वे सब निश्चय ही विशाल षष्टितन्त्र के (हैं), (किन्तु यहाँ वे सब) विषय आख्यानों से रहित एवं मतमतान्तरों से विवर्जित (प्रयुक्त हुए हैं)।

**व्याख्या–** सांख्यकारिकाकार ने पञ्चशिखाचार्य द्वारा विरचित ग्रन्थ को सांख्यकारिका का उपजीव्य स्वीकार करते हुए स्पष्टरूप से कहा कि जिन सत्तर कारिकाओं का रचना की गई, उन सबमें प्रतिपादित सिद्धान्तों का आधार ग्रन्थ एक मात्र षष्टितन्त्र है।

षष्टितन्त्र अत्यन्त विशाल सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसमें अनेक विस्तृत आख्यानों, कथाओं आदि को निबद्ध किया गया है। साथ ही उस समय प्रचलित दर्शनविषयक मतमतान्तरों को भी प्रतिपादित किया गया है, किन्तु सांख्यकारिका में उन सबको छोड़कर सिद्धान्त की दृष्टि से उपयोगी सामग्री को ही निबद्ध किया है।

**विशेष–** १. प्रस्तुत कारिका से स्पष्ट है कि सांख्यकारिका वस्तुतः षष्टितन्त्र नामक सांख्यग्रन्थ का ही संक्षिप्त रूप है।

२. इसमें सांख्यसिद्धान्तों को ही विशुद्धरूप से स्थान मिल सका है। उदाहरण रूप में दी गई कथाएँ तथा मतमतान्तरों का यहाँ समावेश नहीं किया गया है।

३. षष्टितन्त्र में प्रयुक्त तन्त्र पद को ७०वीं कारिका में आए 'तन्त्र' में सम्बद्ध करके कुछ विद्वानों ने इसे पञ्चशिख आचार्य की वृति स्वीकार किया है।

४. षष्टितन्त्र में प्रयुक्त संख्यावाचक 'षष्टि' पद से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें विवेच्य तत्त्वों की संख्या 'साठ' रही होगी। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में राजवार्तिक के नाम से साठ पदार्थों की संख्या भी गिनाई है।

**अवतरणिका–** आचार्य माठर ने अपनी टीका में एक अन्य कारिका का भी उल्लेख किया है। यद्यपि इसका अन्यत्र उल्लेख नहीं हुआ है तथापि इसकी यहाँ प्रस्तुति की जा रही है–

**तस्मा शास्त्रमिदं नार्थतश्च परिहीनम्।**
**तन्त्रस्र्दर्पणसंक्रान्तिमिव बिम्बम्॥७३॥**

**पदच्छेद–** त᳚) समासदृष्टम् (संक्षेप में दिखाई देता हुआ) शास्त्रम् (सांख्यकारिका नामव् (यह) न (नहीं) अर्थतः (अर्थ से) च (और) परिहीनम् (हीन) तन्त्रस्य (षष्टितन्त्र केहत् मूर्तेः (विशाल आकार के) दर्पणसंक्रान्तिम् (दर्पण में पड़े हुए) इव (समान) ब्बि)

**अन्वय–** तस्म् इदम् शास्त्रम् अर्थतः परिहीनम् न (वर्तते), (वस्तुतः) बृहत् मूर्तेः तन्त्रस्य, दर्पणम् इव (अस्ति)।

**अनुवाद–** इस में छोटा दिखाई देता हुआ (सांख्यकारिका नामक) यह शास्त्र विषय की दृष्टि से , (वस्तुतः यह) विशाल आकार वाले षष्टितन्त्र का, दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब वेंबिम्ब ही है)।

**व्याख्या–** स सर्वसम्पति से केवल ७२ कारिकाएँ निबद्ध हैं। अतः आकार की दृष्टि से यह अन्य है। आकार में छोटा होते हुए भी इसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार आकार में छोटा दिखाई देने वाला यह ग्रन्थ विषयविवेचन की दृष्टि से लेशमात्र त् महत्त्वहीन नहीं है। इसमें षष्टितन्त्र जैसे विशालकाय एवं महत्त्वपूर्ण विस्तृत न्ति संक्षेप में ठीक उसीप्रकार निबद्ध किया है। जिसप्रकार दर्पण में विशाल वस्तु भीं सरलता से प्रदर्शित एवं प्रविष्ट हो जाती है तथा उसके रूप, गुणादि में कोई अन है।

अतः यह सं्का प्रतिपादन करने वाले महान्ग्रन्थ षष्टितन्त्र का प्रतिबिम्ब रूप ही है, जिसमें मूल लेशमात्र भी भिन्नता नहीं है, एकमात्र आकार का ही अन्तर है।

---

# परिशिष्ट १

## गौडपादभाष्य

**कपिलाय नमस्तस्मै, येनाविद्योदधौ जगति मग्ने।**
**कारुण्यात् साङ्ख्यमयी, नौरिव विहिता प्रतरणाय॥ १॥**
**अल्पग्रन्थं स्पष्टं प्रमाणसिद्धान्तहेतुभिर्युक्तम्**
**शास्त्रं शिष्यहिताय समासतोऽहं प्रवक्ष्यामि॥ २॥**

दुःखत्रयेति। अस्या आर्याया उपोद्घातः क्रियते। इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम, तद् यथा—

**सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।**
**आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा।**
**इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः॥**

कपिलस्य सहोत्पन्नानि 'धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यञ्च' इति। एवं स उत्पन्नः सन् अन्धे तमसि मज्जज्जगदालोक्य संसारपारम्पर्येण सत्कारुण्यो जिज्ञासमानाय आसुरिगोत्राय ब्राह्मणाय इदं पञ्चविंशतितत्त्वानां ज्ञानम् उक्तवान्, यस्य ज्ञानाद्दुःखक्षयो भवति—

**पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।**
**जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥**

तदिदमाहु— दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासेति। तत्र दुःखत्रयम् आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकञ्चेति। तत्राध्यात्मिकं द्विविधं- शारीरं मानसं चेति। शारीरं वातपित्तश्लेष्मविपर्ययकृतं ज्वरातीसारादि। मानसं प्रिय-वियोगाप्रियसंयोगादि। आधिभौतिकं चतुर्विधभूतग्रामनिमित्तं मनुष्यपशु-मृगपक्षिसरीसृपदंशमशकयूकामत्कुणमत्स्यमकरग्राहस्थावरेभ्यो जरायुजाण्डज-स्वेदजोद्भिज्जेभ्यः सकाशादुपजायते। आधिदैविकं-देवानामिदं दैवम्, दिवः प्रभवतीति वा दैवं, तदधिकृत्य यदुपजायते शीतोष्णवातवर्षाशनिपातादिकम्।

एवं यथादुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा कार्या। क्व? तदभिघातके हेतौ। तस्य दुःखत्रयस्य अभिघातको योऽसौ हेतुस्तत्रेति। 'दृष्टे सापार्था चेत्, दृष्टे हेतौ दुःखत्रयाभिघातके सा जिज्ञासाऽपार्था चेद् यदि, तत्राध्यात्मिकस्य द्विविधस्यापि आयुर्वेदशास्त्रक्रियया प्रियसमागमाप्रियपरिहारकटुतिक्तकषायक्वाथादिभिर्दृष्ट एव आध्यात्मिकोपायः, आधिभौतिकस्य रक्षादिनाऽभिघातो दृष्टः, दृष्टे साऽपार्था चेदेवं मन्यसे', न, एकान्तात्यन्ततोऽभावात्। यत एकान्ततोऽवश्यमत्यन्ततो नित्य दृष्टेन हेतुनाऽभिघातो न भवति, तस्मादन्यत्र एकान्तात्यन्ताभिघातके हेतौ जिज्ञासा विविदिषा कार्येति॥१॥

'यदि दृष्टादन्यत्र जिज्ञासा कार्या, ततोऽपि नैव, यत आनुश्रविको हेतुः दुःखत्रयाभिघातकः अनुश्रूयत इत्यनुश्रवस्तत्र भवः आनुश्रविकः, स च आगमात् सिद्धः, यथा—

**अपाम सोममममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।**
**किं वा नूनमस्मान् तृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्त्यस्य॥**

कदाचिदिन्द्रादीनां देवानां कल्प आसीत्— कथं वयममृता अभूमेति विचार्य, यस्माद्वयमपाम सोमं पीतवन्तः सोमं तस्मादमृता अभूम अमरा भूतवन्त इत्यर्थः। किञ्च, अगन्म ज्योतिः-गतवन्तः लब्धवन्तः ज्योतिः स्वर्गमिति। अविदाम देवान्-दिव्यान् विदितवन्तः। एवं च किं नूनमस्मान् तृणवदरातिः, नूनं निश्चितं किमरातिः शत्रुरस्मान् तृणवत् कर्तेति। किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य-धूर्तिर्जरा हिंसा वा किं करिष्यति अमृतमर्त्त्यस्य। अन्यच्च वेदे श्रूयते आत्यन्तिकं फलं पशुवधेन— 'सर्वांल्लोकान् जयति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते' इति। ऐकान्तात्यन्तिके एवं वेदोक्ते अपार्थैव जिज्ञासा, इति' न। उच्यते-दृष्टवदानुश्रविक इति। दृष्टेन तुल्यो दृष्टवत् योऽसौ आनुश्रविकः कस्मात् स दृष्टवत्? यस्मादविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। अविशुद्धियुक्तः पशुघातात्, तथा चोक्तम्—

**षट् शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।**
**अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥इति॥**

इत्थं यद्यपि श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मस्तथापि मिश्रीभावादविशुद्धियुक्त इति। तथा—

**बहूनीन्द्रसहस्राणि देवानां च युगे युगे।**
**कालेन समतीतानि कालो हि दुरतिक्रमः॥ इति॥**

एवमिन्द्रादिनाशात् क्षययुक्तः। तथाऽतिशयो विशेषस्तेन युक्तः। विशेषगुणदर्शनादितरस्य दुःखं स्यादिति। एवमानुश्रविकोऽपि हेतुर्दृष्टवत्। 'कस्तर्हि श्रेयानिति चेत्'? उच्यते-तद्विपरीतः श्रेयान्, ताभ्यां दृष्टानुश्रविकाभ्यां विपरीतः श्रेयान् प्रशस्यतर इति, अविशुद्धिक्षयातिशयायुक्तत्वात्। स कथमित्याह— व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। तत्र व्यक्तं महदादि-बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि, अव्यक्तं प्रधानम्, ज्ञः पुरुषः एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञाः कथ्यन्ते, एतद्विज्ञानाच्छ्रेय इति उक्तं च 'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञ' इत्यादि॥ २॥

'अथ व्यक्ताव्यक्तज्ञानां को विशेष इति' उच्यते— मूलप्रकृतिः प्रधानम्, प्रकृतिविकृतिसप्तकस्य मूलभूतत्वात्, मूलं च सा प्रकृतिश्च मूलप्रकृतिः, अविकृतिः अन्यस्मान्नोत्पद्यते, तेन प्रकृतिः कस्यचिद्विकारो न भवति। महादाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। महान् बुद्धिः, बुद्ध्याद्याः सप्त— बुद्धिः १ अहङ्कारः १ पञ्च तन्मात्राणि ५ एताः सप्त प्रकृतिविकृतयः। तद् यथा— प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते तेन विकृतिः प्रधानस्य विकार इति, सैवाहङ्कारमुत्पादयति अतः प्रकृतिः। अहङ्कारोऽपि बुद्धेरुत्पद्यत इति विकृतिः, स च पञ्च तन्मात्राण्युत्पादयतीति प्रकृतिः। तत्र शब्दतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तस्मादाकाशमुत्पद्यत इति प्रकृतिः। तथा स्पर्शतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेवं वायुमुत्पादयतीति प्रकृतिः। गन्धतन्मात्र-महङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेवं पृथिवीमुत्पादयतीति प्रकृतिः। रूपतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेवं तेज उत्पादयतीति प्रकृतिः। रसतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेवमप उत्पादयतीति प्रकृतिः। एवं महादाद्याः सप्त प्रकृतयो विकृतयश्च। षोडकस्तु विकारः, पञ्च

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादशं मनः पञ्च महाभूतानि एष षोडशको गणो विकृतिरेव, विकारो विकृतिः। न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥३॥

एवमेषां व्यक्ताव्यक्तज्ञानां त्रयाणां पदार्थानां कैः कियद्भिः प्रमाणैः केन कस्य वा प्रमाणेन सिद्धिर्भवति, इह लोके प्रमेयवस्तु प्रमाणेन साध्यते, यथा प्रस्थादिभिर्व्रीहयस्तुलया चन्दनादि, तस्मात् प्रमाणमभिधेयम्। दृष्टमिति। दृष्टं यथा श्रोत्रं त्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा एषां पञ्चानां पञ्चैव विषया यथासंख्यम्, शब्दं श्रोत्रं गृह्णाति, त्वक् स्पर्शं, चक्षू रूपं, जिह्वा रसं, घ्राणं गन्धमिति, एतद् दृष्टमित्युच्यते प्रमाणम्। प्रत्यक्षेणानुमानेन वा योऽर्थो न गृह्यते स आप्तवचनाद् ग्राह्यः। यथा 'इन्द्रो देवराजः, उत्तराः, कुरवः, स्वर्गेऽप्सरसः' इत्यादि। प्रत्यक्षानुमाना-ग्राह्यमप्याप्तवचनाद् गृह्यते। अपि चोक्तम्—

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः। क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्॥

**स्वकर्मण्यभियुक्तो यः सङ्गद्वेषविवर्जितः।**
**पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः॥इति।**

एतेषु प्रमाणेषु सर्वप्रमाणानि सिद्धानि भवन्ति। षट् प्रमाणानि जैमिनिः। अथ कानि तानि प्रमाणानि? 'अर्थापत्तिः सम्भवः अभावः प्रतिभा ऐतिह्यम् उपमानं च, इति षट् प्रमाणानि। तत्रार्थापत्तिर्द्विविधा— दृष्टा श्रुता च। तत्र दृष्टा— एकस्मिन् पक्षे आत्मभावो गृहीतश्चेदन्यस्मिन्नप्यात्मभावो गृह्यत एव। श्रुता यथा— दिवा देवदत्तो न भुङ्क्ते, अथ च पीनो दृश्यते, अतोऽवगम्यते रात्रौ भुङ्क्ते इति। सम्भवो यथा— प्रस्थ इत्युक्ते चत्वारः कुडवाः सम्भाव्यन्ते। अभावो नाम प्रागितरेतरात्यन्तसर्वाभावलक्षणः। प्रागभावो यथा— देवदत्तः कौमारयौवनादिषु। इतरेतराभावः—पटे घटाभावः। अत्यन्ताभावः— खरविषाणवन्ध्या-सुतखपुष्पवदिति। सर्वाभावः— प्रध्वंसाभावो दग्धपटवदिति। यथा शुष्कधान्यदर्शनाद् वृष्टेरभावोऽवगम्यते। एवमभावोऽनेकधा। प्रतिभा यथा— 'दक्षिणेन च विन्ध्यस्य सह्यस्य च यदुत्तरम्। पृथिव्यामासमुद्रायां स प्रदेशो मनोरमः।' एवमुक्ते तस्मिन् प्रदेशे शोभनाः गुणाः सन्तीति प्रतिभोत्पद्यते, प्रतिभा च जानतां ज्ञानमिति। ऐतिह्यं यथा— ब्रवीति लोको यथाऽत्र वटे यक्षिणी प्रतिवसतीत्येव ऐतिह्यम्। उपमानं यथा— गौरिव गवयः, समुद्र इव तड़ागः। एतानि षट् प्रमाणानि त्रिषु दृष्टादिष्वन्तर्भूतानि। तत्रानुमाने तावदर्थापत्तिरन्तर्भूता, सम्भवाभावप्रति-भैतिह्योपमाश्चाप्तवचने। तस्मात् त्रिष्वेव सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, तदाह-तेन त्रिविधेन प्रमाणेन प्रमाणसिद्धिर्भवतीति वाक्यशेषः। प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि। प्रमेयं प्रधानं बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि पुरुष इति, एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञा इत्युच्यन्ते, तत्र किंचित् प्रत्यक्षेण साध्यं किञ्चिदनुमानेन किञ्चिदागमेनेति त्रिविधं प्रमाणमुक्तम्॥४॥

तस्य किं लक्षणमेतदाह— प्रतिविषयेषु श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु अध्यवसायो दृष्टं, प्रत्यक्षमित्यर्थः। त्रिविधमनुमानमाख्यातं— पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं चेति। पूर्वमस्यारतीति पूर्ववद्, यथा मेघोन्नत्या वृष्टिं साधयति पूर्वदृष्टत्वात्। शेषवत् यथा— समुद्रादेकं जलपलं

लवणमासाद्य शेषस्याप्यस्ति लवणभाव इति। सामान्यतोदृष्टम्— देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तं दृष्टम् गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, यथा चैत्रनामानं देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तमवलोक्य गतिमानयमिति तद्वच्चन्द्रतारकमिति, तथा पुष्पिताम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति सामान्यतोदृष्टेन साधयति, एतत्सामान्यतोदृष्टम्। किञ्च तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति, तदनुमानं लिङ्गपूर्वकं, यत्र लिङ्गेन लिङ्गी अनुमीयते, यथा— दण्डेन यतिः। लिङ्गिपूर्वकं च, यत्र लिङ्गिना लिङ्गमनुमीयते, यथा— दृष्ट्वा यतिमस्येदं त्रिदण्डमिति। आप्तश्रुतिराप्तवचनं च। आप्ता आचार्या ब्रह्मादयः, श्रुतिर्वेदः, आप्ताश्च श्रुतिश्च आप्तश्रुतिः, तदुक्तमाप्तवचनमिति। एवं त्रिविधं प्रमाणमुक्तम्॥५॥

"तत्र केन प्रमाणेन किं साध्यम्" उच्यते— सामान्यतोदृष्टाद-नुमानादतीन्द्रियाणा-मिन्द्रियाण्यतीत्य वर्तमानानां सिद्धिः। प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ सामान्यतोदृष्टेनानुमानेन साध्येते,— यस्मान्महदादिलिङ्गं त्रिगुणम्, यस्येदं त्रिगुणं कार्यं तत् प्रधानमिति, यतश्चाचेतनं चेतनमिवाभाति अतोऽन्योऽधिष्ठाता पुरुष इति। व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम्, तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्— यथेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गेऽप्सरस' इति परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम्॥६॥

अत्र कश्चिदाह "प्रधानं पुरुषो वा नोपलभ्यते यच्च नोपलभ्यते लोके तन्नास्ति तस्मात् तावपि न स्तः, यथा द्वितीयं शिरस्तृतीयो बाहुरिति"। तदुच्यते— अत्र सतामप्यर्थानामष्टधोपलब्धिर्न भवति। तद् यथा— इह सतामप्यर्थानामतिदूरादनुपलब्धिर्दृष्टा यथा— देशान्तरस्थानां चैत्रमैत्रविष्णु-मित्राणाम्। समीप्याद् यथा— चक्षुषोऽञ्जनानुपलब्धिः। इन्द्रियाभिघातात् यथा— बधिरान्धयोः शब्दरूपानुपलब्धिः। मनोऽनवस्थानाद् यथा— व्यग्रचित्तः सम्यक्कथितमपि नावधारयति। सौक्ष्म्याद्यथा— धूमोष्मजलनीहारपरमाणवो गगनगता नोपलभ्यन्ते। व्यवधानाद् यथा— कुड्येन पिहितं वस्तु नोपलभ्यते। अभिभवाद् यथा— सूर्यतेजसाऽभिभूताः ग्रहनक्षत्रतारकादयः नोपलभ्यन्ते। सामानाभिहाराद् यथा— मुद्गराशौ मुद्गः क्षिप्तः कुवलयामलकमध्ये कुवलयामलके क्षिप्ते, कपोतमध्ये कपोतो नोपलभ्यते समानद्रव्यमध्याहृतत्वात्। एवमष्टधानुपलब्धिः सतामर्थानामिह इष्टा॥

'एवं चास्ति किमभ्युपगम्यते प्रधानपुरुषयोरप्येतयोर्वानुपलब्धिः केन हेतुना, केन चोपलब्धिः'। तदुच्यते— सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः, प्रधानस्येत्यर्थः, प्रधानं सौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते यथाकाशे धूमोष्मजलनीहारपरमाणवः सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते। कथं तर्हि तदुपलब्धिः? कार्यतस्तदुपलब्धिः। कार्यं दृष्ट्वा कारणमनुमीयते। अस्ति प्रधानं कारणं यस्येदं कार्यम्, बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्येव तत्कार्यम्। तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपम्— प्रकृतिः प्रधानं तस्य विरूपं प्रकृतेरसदृशम्,सरूपं च समानरूपं च, यथा लोकेऽपि पितुस्तुल्य इव पुत्रो भवत्यतुल्यश्च। येन हेतुना तुल्यमतुल्यं तदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः॥८॥

'यदिदं महादादिकार्यं तत् किं प्रधाने सदुताहोस्विदसत् आचार्यविप्रतिपत्तेरयं संशयः, यतोऽत्र सांख्यदर्शने सत्कार्यं, बौद्धा-दीनामसत्कार्यम्, यदि सदसन्न भवत्यथासत्सन्न भवतीति विप्रतिषेधः'। तत्राह— असदकरणात्। न सदसदसतोऽकरणं तस्मात्सत्कार्यम्, इह लोकेऽसत्करणं नास्ति यथा सिकताभ्यस्तैलोत्पत्तिः, तस्मात् सतः करणादस्ति प्रागुत्पत्तेः प्रधाने व्यक्तम्, अतः

सत्कार्यम्। किञ्चान्यत् उपादानग्रहणात्, उपादानं कारणं तस्य ग्रहणात्, इह लोके यो येनार्थी स तदुपादानग्रहणं करोति दध्यर्थी क्षीरस्य न तु जलस्य तस्मात् सत्कार्यम्। इतश्च सर्वसम्भवाभावात्, सर्वस्य सर्वत्र सम्भवो नास्ति, यथा सुवर्णस्य रजतादौ तृणपांशुसिकतासु। तस्मात् सर्वसम्भवाभावात् सत् कार्यम्। इतश्च शक्तस्य शक्यकरणात्– इह कुलालः शक्तो मृद्दण्डचक्रचीवररज्जुनीरादिकरणोपकरणं वा शक्यमेव घटं मृत्पिण्डादुत्पादयति, तस्मात् सत्कार्यम्। इतश्च कारणभावाच्च सत्कार्यम्। कारणं यल्लक्षणं तल्लक्षणमेव कार्यमपि, यथा यवेभ्यो यवाः व्रीहिभ्यो व्रीहयः, यदाऽसत्कार्यं स्यात् ततः कोद्रवेभ्यः शालयः स्युर्न च सन्तीति, तस्मात् सत्कार्यम्। एवं पञ्चभिर्हेतुभिः प्रधाने महदादिलिङ्गमस्ति, तस्मात् सत उत्पत्तिर्नासत इति॥९॥

'प्रकृतिविरूपं सरूपं च यदुक्तं तत् कथमिति' उच्यते–व्यक्तं महदादिकार्यम्। हेतुमदिति। हेतुरस्यास्ति हेतुमत्, उपादानं हेतुः कारणं निमित्तमिति पर्यायाः, व्यक्तस्य प्रधानं हेतुरस्ति, अतो हेतुमत्। व्यक्तं भूतपर्यन्तम्, हेतुमद् बुद्धितत्त्वं प्रधानेन,हेतुमानहङ्कारो बुद्ध्या, पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि हेतुमन्त्यहङ्कारेण, आकाशं शब्दतन्मात्रेण हेतुमत्, वायुः स्पर्शतन्मात्रेण हेतुमान्, तेजो रूपतन्मात्रेण हेतुमत्, आपो रसतन्मात्रेण हेतुमत्यः, पृथिवी गन्धतन्मात्रेण हेतुमती, एवं भूतपर्यन्तं व्यक्तं हेतुमत्। किञ्चान्यत् अनित्यं, यस्मादन्यस्मादुत्पद्यते, यथा मृत्पिण्डादुत्पद्यते घटः सः चानित्यः। किञ्चाव्यापि, असर्वगमित्यर्थः, यथा प्रधानपुरुषौ सर्वगतौ नैवं व्यक्तम्। किञ्चान्यत् सक्रियं, संसारकाले संसरति-त्रयोदशविधेन करणेन संयुक्तं सूक्ष्मं शरीरमाश्रित्य संसरति, तस्मात् सक्रियम्। किञ्चान्यत् अनेकं, बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि चेति। किञ्चान्यत् आश्रितम्, स्वकारणमाश्रयते, प्रधानाश्रिता बुद्धिः बुद्धिमाश्रितोऽहङ्कारः, अहङ्काराश्रितान्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि, पञ्चतन्मात्राश्रितानि पञ्चमहाभूतानीति। किञ्च लिङ्गं लययुक्तं, लयकाले पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते तान्येकादशेन्द्रियैः सहाहङ्कारे स च बुद्धौ सा च प्रधाने लयं यातीति। तथा सावयवम्, अवयवाः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः, तैः सह। किञ्च परतन्त्रं, नात्मनः प्रभवति, यथा प्रधानतन्त्रा बुद्धिः बुद्धितन्त्रोऽहङ्कारः अहङ्कारतन्त्राणि तन्मात्राणीन्द्रियाणि च तन्मात्रतन्त्राणि पञ्च महाभूतानि च। एवं परतन्त्रं परायत्तं व्याख्यातं व्यक्तम्।

अथोऽव्यक्तं व्याख्यास्यामः– विपरीतमव्यक्तम्। एतैरेव गुणैर्यथोक्तै-र्विपरीतमव्यक्तम्, हेतुमद् व्यक्तमुक्तम्, न हि प्रधानात् परं किञ्चिदस्ति,यतः प्रधानस्यानुत्पत्तिः, तस्मादहेतुमदव्यक्तम्। तथाऽनित्यं च व्यक्तं, नित्यमव्यक्त-मनुत्पाद्यत्वात्, न हि भूतानीव कुतश्चिदुत्पद्यत इत्यव्यक्तं प्रधानम्। किञ्चाव्यापि व्यक्तं, व्यापि प्रधानं सर्वगतत्वात्। सक्रियं व्यक्तमक्रियमव्यक्तं सर्वगतत्वादेव। तथाऽनेकं व्यक्तमेकं प्रधानं कारणत्वात्, त्रयाणां लोकानां प्रधानमेकं कारणं, तस्मादेकं प्रधानम्। तथाश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तमकार्यत्वात्, न हि प्रधानात् किञ्चिदस्ति परं यस्य प्रधानं कार्यं स्यात्। तथा व्यक्तं लिङ्गम्, अलिङ्गमव्यक्तं नित्यत्वात्, महदादिलिङ्गं प्रलयकाले परस्परं प्रलीयते नैवं प्रधानं, तस्मादलिङ्गं प्रधानम्। तथा सावयवं व्यक्तं, निरवयवमव्यक्तं, न हि शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः प्रधाने सन्ति। तथा परतन्त्रं व्यक्तं, स्वतन्त्रमव्यक्तं प्रभवत्यात्मनः॥१०॥

एवं व्यक्ताव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तं, साधर्म्यमुच्यते यदुक्तं 'सरूपं च'। त्रिगुणं व्यक्तं, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा यस्येति। अविवेकि व्यक्तं न विवेकोऽस्यास्तीति, इदं व्यक्तमिमे गुणा इति न विवेकं कर्तुं याति, अयं गौरयमश्व इति यथा, ये गुणास्तद्व्यक्तं यद्व्यक्तं ते च गुणा इति। तथा विषयो व्यक्तं, भोग्यमित्यर्थः, सर्वपुरुषाणां विषयभूतत्वात्। तथा सामान्यं व्यक्तं, मूल्यदासीवत् सर्वसाधारणत्वात्। अचेतनं व्यक्तं, सुखदुःखमोहान् न चेतयतीत्यर्थः। तथा प्रसवधर्मि व्यक्तं, तद् यथा— बुद्धेरहङ्कारः प्रसूयते तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि च प्रसूयन्ते तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। एवमेते व्यक्तधर्माः प्रसवधर्मान्ता उक्ताः, एवमेभिरव्यक्तं सरूपं, यथा व्यक्तं तथा प्रधानमिति। तत्र त्रिगुणं व्यक्तमव्ययक्तमपि त्रिगुणं यस्यैतन्महदादिकार्यं त्रिगुणम्, इह यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमिति, यथा कृष्णतन्तुकृतः कृष्ण एव पटो भवति। तथाऽविवेकि व्यक्तं, प्रधानमपि गुणैर्न भिद्यते, अन्ये गुणाः अन्यत् प्रधानमेवं विवेक्तुं न याति तदविवेकि प्रधानम्। तथा विषयो व्यक्तं प्रधानमपि सर्वपुरुषविषयभूतत्वात् विषय इति। तथा सामान्यं व्यक्तं प्रधानमपि, सर्वसाधारणत्वात्। तथाऽचेतनं व्यक्तं प्रधानमपि सुखदुःखमोहान् न चेतयतीति, कथम्? अनुमीयते— इह ह्यचेतनान्मृत्पिण्डादचेतनो घट उत्पद्यते। तथा प्रसवधर्मि व्यक्तं प्रधानमपि प्रसवधर्मि, यतः प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते। एवं प्रधानमपि व्याख्यातम्।

इदानीं तद्विपरीतस्तथा च पुमानित्येतद् व्याख्यायते। तद्विपरीतस्ताभ्यां व्यक्ताव्यक्ताभ्यां विपरीतः पुमान्। तद् यथा— त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तं च, अगुणः पुरुषः। अविवेकि व्यक्तमव्यक्तं च, विवेकी पुरुषः। तथा विषयो व्यक्तमव्यक्तं च, अविषयः पुरुषः। तथा सामान्यं व्यक्तमव्यक्तं च, असामान्यः पुरुषः। अचेतनं व्यक्तमव्यक्तं च, चेतनः पुरुषः सुखदुःखमोहांश्चेतयति सञ्जानीते तस्माच्चेतनः पुरुष इति। प्रसवधर्मि व्यक्तं प्रधानं च, अप्रसवधर्मी पुरुषः, न हि किञ्चित् पुरुषात् प्रसूयते। तस्मादुक्तं तद्विपरीतः पुमानिति। तदुक्तं 'तथा च पुमान्' इति। तत् पूर्वस्यामार्यायां प्रधानमहेतुमद् यथा व्याख्यातं तथा च पुमान्, तद् यथा हेतुमदनित्यमित्यादि व्यक्तं तद्विपरीतमव्यक्तं, तत्र हेतुमद् व्यक्तमहेतुमत् प्रधानं, तथा च पुमानहेतुमान्, अनुत्पाद्यत्वात्। अनित्यं व्यक्तं नित्यं प्रधानं, तथा च नित्यः पुमान्। अव्यापि व्यक्तं व्यापि प्रधानम्, तथा च व्यापी पुमान्, सर्वगतत्वात्। सक्रियं व्यक्तमक्रियं प्रधानम्, तथा च पुमानक्रियः सर्वगतत्वादेव। अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तं, तथा च पुमानप्येकः। आश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तं, तथा च पुमाननाश्रितः। लिङ्गं व्यक्तमलिङ्गं प्रधानं, तथा च पुमानप्यलिङ्गः— न क्वचिल्लीयत इति। सावयवं व्यक्तं निरवयवमव्यक्तं तथा च पुमान् निरवयवः, न हि पुरुषे शब्दादयोऽवयवाः सन्ति। किञ्च परतन्त्रं व्यक्तं स्वतन्त्रमव्यक्तं, तथा च पुमानपि स्वतन्त्रः, आत्मनः प्रभवतीत्यर्थः॥११॥

एवमेतदव्यक्तपुरुषयोः साधर्म्यं व्याख्यातं पूर्वस्यामार्यायाम्, व्यक्तप्रधानयोः साधर्म्यं पुरुषस्य वैधर्म्यं च त्रिगुणमविवेकीत्यादि प्रकृत्यार्यायां व्याख्यातम्। यत्र यदुक्तं 'त्रिगुणमिति व्यक्तमव्यक्तं च' तत् के ते गुणा इति तत्स्वरूपप्रतिपादनायेदमाह— प्रीत्यात्मका अप्रीत्यात्मका विषादात्मकाश्च, गुणाः सत्त्वरजस्तमांसीत्यर्थः। तत्र प्रीत्यात्मकं सत्त्वं, प्रीतिः सुखं तदात्मकमिति। अप्रीत्यात्मकं रजः, अप्रीतिर्दुःखम्। विषादात्मकं तमः, विषादो मोहः। तथा

प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अर्थशब्दः सामर्थ्यवाची, प्रकाशार्थं सत्त्वं, प्रकाशसमर्थमित्यर्थः। प्रवृत्यर्थं रजः, प्रवृत्तिसमर्थमित्यर्थः। नियमार्थं तमः, स्थितौ समर्थमित्यर्थः। प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा इति। तथाऽन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च। अन्योन्याभिभवाः अन्योन्याश्रयाः अन्योन्यजननाः अन्योन्यमिथुनाः अन्योन्यवृत्तयश्च ते तथोक्ताः। अन्योऽन्याभिभवा इति— अन्योऽन्यं परस्परमभिभवन्तीति, प्रीत्यप्रीत्यादिभिधर्मैराविर्भवन्ति, यथा यदा सत्त्वमुत्कुटं भवति तदा रजस्तमसी अभिभूय स्वगुणेन प्रीतिप्रकाशात्मकेनावतिष्ठते, यदा रजस्तदा सत्त्वतमसी अप्रीतिप्रवृत्यात्मना धर्मेण, यदा तमस्तदा सत्त्वरजसी विषादस्थित्यात्मकेन इति। तथाऽन्योन्याश्रयाश्च ब्यणुकवद्गुणाः। अन्योन्यजननाः— यथा मृत्पिण्डो घटं जनयति। तथाऽन्योन्यमिथुनाश्च— यथा स्त्रीपुंसौ अन्योन्यमिथुनौ तथा गुणाः। उक्तं च—

**अन्योन्यमथुनाःसर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः।**
**रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥**
**तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे।**
**उभयोः सत्त्वरजसो मिथुनं तम उच्यते।**
**नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते॥**

परस्परसहाया इत्यर्थः। अन्योन्यवृत्तयश्च परस्परं वर्तन्ते 'गुणा गुणेषु वर्तन्त' इति वचनात्। यथा सुरूपा सुशीला स्त्री सर्वसुखहेतुः, सपत्नीनां सैव दुःखहेतुः, सैव रागिणां मोहं जनयति, एवं सत्त्वं रजस्तमसोर्वृत्तिहेतुः। यथा राजा सदोद्युक्तः प्रजापालने दुष्टनिग्रहे शिष्टानां सुखमुत्पादयति, दुष्टानां दुःखं मोहं च, एवं रजः सत्त्वतमसोर्वृत्तिं जनयति। तथा तमः स्वरूपेणावरणात्मकेन सत्त्वरजसोर्वृत्तिं जनयति, यथा मेघाः खमावृत्य जगतः सुखमुत्पादयन्ति, ते वृष्ट्या कर्षकाणां कर्षणोद्योगं जनयन्ति, विरहिणां मोहम्, एवमन्योन्यवृत्तयो गुणाः॥१२॥

किञ्चान्यत्— सत्त्वं लघु प्रकाशकं च, यदा सत्त्वमुत्कटं भवति तदा लघून्यङ्गानि बुद्धिप्रकाशश्च प्रसन्नतेन्द्रियाणां भवति। उपष्टम्भकं चलं च रजः, उपष्टम्नातीत्युपष्टम्भकमुद्द्योतकं, यथा वृषो वृषदर्शने उत्कटमुपष्टम्भं करोति, एवं रजोवृत्तिः। तथा रजश्च चलं दृष्टं, रजोवृत्तिश्चलचित्तो भवति। गुरु वरणकमेव तमः, यदा तम उत्कटं भवति तदा गुरूण्यङ्गान्यावृतानीन्द्रियाणि भवन्ति स्वार्थासमर्थानि, अत्राह 'यदि गुणाः परस्परं विरुद्धाः स्वमते नैव कमर्थं निष्पादयन्ति, तर्हि कथ!' प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः प्रदीपेन तुल्यं प्रदीपवत्, अर्थतः साधना वृत्तिरिष्टा, यथा प्रदीपः परस्परविरुद्धतैलाग्नि-वर्तिसंयोगादर्थप्रकाशान् जनयति, एवं सत्त्वरजस्तमांसि परस्परं विरुद्धान्यर्थं निष्पादयन्ति॥१३॥

अन्तरप्रश्नो भवति— 'त्रिगुणमविवेकि विषय इत्यादिना प्रधानं व्यक्तं च व्याख्यातं, तत्र प्रधानमुपलभ्यमानं महदादि च त्रिगुणम्, अविवेक्यादीति च कथमवगम्यते'? तत्राह— योऽयमविवेक्यादिर्गुणः स त्रैगुण्यात्। 'महदादौ व्यक्ते नायं सिध्यति' अत्रोच्यते तद्विपर्ययाभावात्, तस्य विपर्ययस्तद्विपर्ययस्तस्या- भावस्तद्विपर्ययाभावः, तस्मात् सिद्धमव्यक्तम्। यथा यत्रैव तन्तवस्तत्रैव पटः, अन्ये तन्तवोऽन्यः पटो न, कुतः? तद्विपर्ययाभावात्। एवं व्यक्ताव्यक्तसम्पन्नो

भवति, दूरं प्रधानमासन्नं व्यक्तं, यो व्यक्तं पश्यति स प्रधानमपि पश्यति, तद्विपर्ययाभावात्। इतश्चाव्यक्तं सिद्धं कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य, लोके यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमपि, यथा कृष्णेभ्यस्तन्तुभ्यः कृष्ण एव पटो भवति। एवं महदादिलिङ्गमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि, यदात्मकमव्यक्तमपि सिद्धम्॥१४॥

"त्रैगुण्यादविवेक्यादिर्व्यक्ते सिद्धस्तद्विपर्ययाभावात्, एवं कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धमित्येतन्मिथ्या, लोके यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति" इति न वाच्यम्, सतोऽपि पाषाणगन्धादेरनुपलम्भात्, एवं प्रधानमप्यस्ति, किन्तु नोपलभ्यते, तदाह– कारणमस्त्यव्यक्तमिति क्रियाकारक-सम्बन्धः। भेदानां परिमाणात्– लोके यत्र कर्तास्ति तस्य परिमाणं दृष्टं यथा कुलालः परिमितैर्मृत्पिण्डैः परिमितानेव घटान् करोति, एवं महदपि महदादिलिङ्गं परिमितं भेदतः प्रधानकार्यमेका बुद्धिरेकोऽहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानीत्येवं भेदानां परिमाणादस्ति प्रधानं कारणं यद् व्यक्तं परिमितमुत्पादयति, यदि प्रधानं न स्यात्, तदा निष्परिमाणमिदं व्यक्तमपि न स्यात्, परिमाणाच्च भेदानामस्ति प्रधानं यस्माद् व्यक्तमुत्पन्नम्। तथा समन्वयात् इह लोके प्रसिद्धिर्दृष्टा, यथा व्रतधारिणं बटुं दृष्ट्वा समन्वयति नूनमस्य पितरौ ब्राह्मणाविति, एवमिदं त्रिगुणं महदादिलिङ्गं दृष्ट्वा साधयामोऽस्य यत् कारणं भविष्यतीति, अतः समन्वयादस्ति प्रधानम्। तथा शक्तितः प्रवृत्तेश्च– इह यो यस्मिन् शक्तः स तस्मिन्नेवार्थे प्रवर्तते, यथा कुलालो घटस्य करणे समर्थो घटमेव करोति न पटं रथं वा। तथा अस्ति प्रधानं कारणं, कुतः? कारणकार्यविभागात्– करोतीति कारणम्, क्रियत इति कार्यम्, कारणस्य कार्यस्य च विभागो यथा–घटो दधिमधूदकपयसां धारणे समर्थो न तथा तत्कारणं मृत्पिण्डः, मृत्पिण्डो वा घटं निष्पादयति न चैव घटो मृत्पिण्डम्, एवं महदादिलिङ्गं दृष्ट्वानुमीयते– अस्ति विभक्तं तत्कारणं यस्य विभाग इदं व्यक्तमिति। इतश्च अविभागाद्वैश्वरूपस्य– विश्वं जगत्, तस्य रूप व्यक्तिः, विश्वरूपस्य भावो वैश्वरूपः, तस्याविभागादस्ति प्रधानं, यस्मात् त्रैलोक्यस्य पञ्चानां पृथिव्यादीनां महाभूतानां परस्परं विभागो नास्ति महाभूतेष्वन्तर्भूतास्त्रयो लोका इति, पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति एतानि पञ्चमहाभूतानि प्रलयकाले सृष्टिक्रमेणैवाविभागं यान्ति तन्मात्रेषु परिणामिषु तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि चाहङ्कारे अहङ्कारो बुद्धौ बुद्धिः प्रधाने, एवं त्रयो लोकाः प्रलयकाले प्रकृतावविभागं गच्छन्ति, तस्मादविभागात् क्षीरदधिवद् व्यक्ताव्यक्तयोरस्त्यव्यक्तं कारणम्॥१५॥

अतश्च अव्यक्त प्रख्यातं कारणमस्ति यस्मान्महदादिलिङ्गं प्रवर्तते। त्रिगुणतः त्रिगुणात्, सत्त्वरजस्तमांसि गुणा यस्मिन् तत् त्रिगुणम्। तत् किमुक्तं भवति? सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम्। तथा समुदयात्, यथा गङ्गास्रोतांसि त्रीणि रुद्रमूर्द्धनि पतितानि एकं स्रोतो जनयन्ति, एवं त्रिगुणमव्यक्तमेकं व्यक्तं जनयति, यथा वा तन्तवः समुदिताः पटं जनयन्ति, एवमव्यक्तं गुणसमुदयान्महदादि जनयतीति त्रिगुणतः समुदयाच्च व्यक्तं जगत् प्रवर्तते। " यस्मादेकस्मात् प्रधानाद् व्यक्तं तस्मादेकरूपेण भवितव्यम्"। नैष दोषः परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्। एकस्मात् प्रधानात् त्रयो लोकाः समुत्पन्नास्तुल्यभावा न भवन्ति, देवाः सुखेन युक्ता, मनुष्या दुःखेन, तिर्यञ्चो मोहेन, एकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तं व्यक्तं

प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवद्भवति, प्रतिप्रतीति वीप्सा, गुणानामाश्रयो गुणाश्रयस्तद्विशेषस्तं गुणाश्रयविशेषं प्रतिनिधाय प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषपरिणामात् प्रवर्तते व्यक्तं, यथा– आकाशादेकरसं सलिलं पतितं नानारूपात् संश्लेषाद्भिद्यते तत्तद्रसान्तरैः एवमेकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तास्त्रयो लोका नैकस्वभावा भवन्ति, देवेषु सत्त्वमुत्कटं रजस्तमसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तसुखिनः मनुष्येषु रज उत्कटं भवति सत्त्वतमसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तदुःखिनः, तिर्यक्षु तम उत्कटं भवति सत्त्वरजसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तमूढाः॥१६॥

एवमार्याद्वयेन प्रधानस्यास्तित्वमवगम्यत, इतश्चोत्तरं पुरुषास्तित्व-प्रतिपादनार्थमाह। यदुक्तं 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षः प्राप्यत' इति, तत्र व्यक्तादनन्तरमव्यक्तं पञ्चभिः कारणैरधिगतं व्यक्तवत्, पुरुषोऽपि सूक्ष्मस्तस्याधुनानुमितास्तित्वं प्रतिक्रियते। अस्ति पुरुषः, कस्मात्? सङ्घातपरार्थत्वात्– योऽयं महदादिसङ्घातः स पुरुषार्थ इत्यनुमीयते, अचेतनत्वात् पर्यङ्कवत्, यथा पर्यङ्कः प्रत्येकं गात्रोत्पलकपादपीठतूलीप्रच्छादनपटोपधानसङ्घातः परार्थो न हि स्वार्थः, पर्यङ्कस्य न हि किञ्चिदपि गात्रोत्पलाद्यवयवानां परस्परं कृत्यमस्ति, अतोऽवगम्यतेऽस्ति पुरुषो यः पर्यङ्के शेते यस्यार्थं पर्यङ्कस्तत्परार्थम्, इदं शरीरं पञ्चानां महाभूतानां सङ्घातो वर्तते, अस्ति पुरुषो यस्येदं भोग्यं शरीरं भोग्यमहदादिसङ्घातरूपं समुत्पन्नमिति। इतश्चात्मास्ति– त्रिगुणादिविपर्ययात्। यदुक्तं पूर्वस्यामार्यायां 'त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादि, तस्माद्विपर्ययात्, येनोक्तं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्। अधिष्ठानात्, यथेह लङ्घनप्लवनधावन-समर्थैरश्वैर्युक्तो रथः सारथिनाऽधिष्ठितः प्रवर्तते तथात्माऽधिष्ठानाच्छरीरमिति। तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते'। अतोऽस्त्यात्मा– भोक्तृत्वात्। यथा मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायषड्रसोपबृंहितस्य संयुक्तस्यान्नस्य साध्यते एवं महदादिलिङ्गस्य भोक्तृत्वाभावादस्ति स आत्मा यस्येदं भोग्यं शरीरमिति। इतश्च कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च केवलस्य भावः कैवल्यं तन्निमित्तं या च प्रवृत्तिस्तस्याः स्वकैवल्यार्थं प्रवृत्तेः सकाशादनुमीयते– अस्त्यात्मेति, यतः सर्वो विद्वानविद्वांश्च संसारसन्तानक्षयमिच्छति। एवमेभिर्हेतुभिरस्त्यात्मा शरीराद् व्यतिरिक्तः॥१७॥

'अथ स किमेकः सर्वशरीरेऽधिष्ठाता मणिरसनात्मकसूत्रवत् आहोस्विद् बहव आत्मानः प्रतिशरीरमधिष्ठातार' इत्यत्रोच्यते– जन्म च मरणञ्च करणानि च जन्म-मरणकरणानि तेषां प्रतिनियमात्, प्रत्येकनियमादित्यर्थः। यद्येक एव आत्मा स्यात् तत एकस्य जन्मनि सर्व एव जायेरन्, एकस्य मरणे सर्वेऽपि म्रियेरन्, एकस्य करणवैकल्ये बाधिर्यान्धित्वमूकत्वकुणित्वखञ्ज-त्वलक्षणे सर्वेऽपि बधिरान्धमूककुणिखञ्जाः स्युः, न चैवं भवति, तस्माज्जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात् पुरुषबहुत्वं सिद्धम्। इतश्च अयुगपत्प्रवृत्तेश्च, युगपदेककालं न युगपदयुगपत् प्रवर्तनं, यस्मादयुगपद्धर्मादिषु प्रवृत्तिर्दृश्यते, एके धर्मे प्रवृत्ता अन्येऽधर्मे वैराग्येऽन्ये ज्ञानेऽन्ये प्रवृत्ताः, तस्मादयुगपत्प्रवृत्तेश्च बहव इति सिद्धम्।किञ्चान्यत् त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव, त्रिगुणभावविपर्ययाच्च पुरुषबहुत्वं सिद्धम्। यथा सामान्ये जन्मनि एकः सात्त्विकः सुखी, अन्यो राजसो दुःखी अन्यस्तामसो मोहवान्, एवं त्रैगुण्यविपर्ययाद्बहुत्वं सिद्धमिति॥१८॥

अकर्ता पुरुष इत्येतदुच्यते— तस्माच्च विपर्यासात्, तस्माच्च यथोक्तत्रैगुण्यविपर्यासाद्विपर्ययात्— निर्गुणः पुरुषो विवेकी भोक्तेत्यादिगुणानां पुरुषस्य यो विपर्यास उक्तस्तस्मात्, सत्त्वरजस्तमःसु कर्तृभूतेषु साक्षित्वं सिद्धं पुरुषस्येति योऽयमधिकृतो बहुत्वं प्रति, गुणा एव कर्तारः प्रवर्तन्ते, साक्षी न प्रवर्तते नापि निवर्तत एव। किञ्चान्यत् कैवल्यं केवलभावः कैवल्यमन्यत्वमित्यर्थः, त्रिगुणेभ्यः केवलोऽन्यः। माध्यस्थ्यं मध्यस्थभावः, परिव्राजकवत् मध्यस्थः पुरुषः। यथा कश्चित् परिव्राजको ग्रामीणेषु कर्षणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थः, पुरुषोऽप्येवं गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते। तस्माद् द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च, यस्मान्मध्यस्थस्तस्माद् द्रष्टा तस्मादकर्ता पुरुषस्तेषां कर्मणामिति, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः कर्मकर्तृभावेन प्रवर्तन्ते न पुरुषः, एवं पुरुषस्यास्तित्वं च सिद्धम्॥१९॥

'यस्मादकर्ता पुरुषस्तत्कथमध्यवसायं करोति धर्मं करिष्याम्यधर्मं न करिष्यामीत्यतः कर्ता भवति, न च कर्ता पुरुष एवमुभयथा दोषः स्यादिति', अत उच्यते— इह पुरुषश्चेतनावान् तेन चेतनावभाससंयुक्तं महदादिलिङ्गं चेतनावदिव भवति, यथा लोके घटः शीतसंयुक्तः शीतः, उष्णसंयुक्त उष्णः, एवं महदादि लिङ्गं तस्य संयोगात् पुरुषसंयोगाच्चेतनावदिव भवति, तस्माद् गुणा अध्यवसायं कुर्वन्ति न पुरुषः। यद्यपि लोके पुरुषः कर्ता गन्तेत्यादि प्रयुज्यते तथाप्यकर्ता पुरुषः। कथम्? गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः। गुणानां कर्तृत्वे सति उदासीनोऽपि पुरुषः कर्तेव भवति, न कर्ता। अत्र दृष्टान्तो भवति— यथाऽचौरश्चौरैः सह गृहीतश्चौर इत्यवगम्यते, एवं त्रयो गुणाः कर्तारः तैः संयुक्तः पुरुषोऽकर्ताऽपि कर्त्ता भवति कर्तृसंयोगात्। एवं व्यक्ताव्यक्तज्ञानां विभागो विख्यातः, यद्विभागान्मोक्षप्राप्तिरिति॥२०॥

'अथैतयोः प्रधानपुरुषयोः किंहेतुः सङ्घातः' उच्यते—पुरुषस्य प्रधानेन सह संयोगो दर्शनार्थं— प्रकृतिं महदादिकार्यं भूतपर्यन्तं पुरुषः पश्यति एतदर्थम्, प्रधानस्यापि पुरुषेण संयोगः कैवल्यार्थम्, स च संयोगः पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि द्रष्टव्यः, यथा एकः पङ्गुरेकश्चान्ध एतौ द्वावपि गच्छन्तौ महता सामर्थ्येनाटव्यां सार्थस्य स्तेनकृतादुपप्लवात् स्वबन्धुपरित्यक्तौ दैवादितश्चेतश्च चेरतुः, स्वगत्या च तौ संयोगमुपयातौ पुनस्तयोः स्ववचसोर्विश्वस्तत्वेन संयोगो गमनार्थं दर्शनार्थं च भवति, अन्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः, एवं शरीरारूढपङ्गुदर्शितेन मार्गेणान्धो याति पङ्गुश्चान्धस्कन्धारूढः, एवं पुरुषे दर्शनशक्तिरस्ति पङ्गुवन्न क्रिया, प्रधाने क्रियाशक्तिरस्त्यन्धवन्न दर्शनशक्तिः। यथा वाऽनयोः पङ्ग्वन्धयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यतीप्सितस्थानप्राप्तयोः, एवं प्रधानमपि पुरुषस्य मोक्षं कृत्वा निवर्तते पुरुषोऽपि प्रधानं दृष्ट्वा कैवल्यं गच्छति, तयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यति। किञ्चान्यत् तत्कृतः सर्गः, तेन संयोगेन कृतस्तत्कृतः सर्गः सृष्टिः, यथा स्त्रीपुरुषसंयोगात् सुतोत्पत्तिस्तथा प्रधानपुरुषसंयोगात् सर्गस्योत्पत्तिः॥२१॥

इदानीं सर्गविभागदर्शनार्थमाह— प्रकृतिः प्रधानं ब्रह्म अव्यक्तं बहुधानकं मायेति पर्यायाः। अलिङ्गस्य प्रकृतेः सकाशान्महानुत्पद्यते— महान् बुद्धिरासुरी मतिः ख्यातिर्ज्ञानमिति प्रज्ञापर्यायैरुत्पद्यते। तस्माच्च महतोऽहङ्कार उत्पद्यते, अहङ्कारो भूतादिर्वैकृतस्तैजसोऽभिमान इति पर्यायाः। तस्माद्गणश्च षोडशकः, तस्मादहङ्कारात् षोडशकः षोडशस्वरूपेण गण उत्पद्यते, स यथा— पञ्चतन्मात्राणि शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धातन्मात्रमिति

तन्मात्रसूक्ष्मपर्यायवाच्यानि, तत एकादशेन्द्रियाणि श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकमेकादशं मनश्च, एष षोडशको गणोऽहङ्कारादुत्पद्यते। किञ्च पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि, तस्मात् षोडषकाद्गणात् पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः सकाशात् पञ्च वै महाभूतान्युत्पद्यन्ते। यदुक्तं— शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी। एवं पञ्चभ्यः परमाणुभ्यः पञ्च महाभूतान्युत्पद्यन्ते॥२२॥

यदुक्तं 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्ष' इति, तत्र, महदादिभूतान्तं त्रयोविंशतिभेदं व्यक्तं व्याख्यातम्, अव्यक्तमपि भेदानां परिमाणात्-इत्यादिना व्याख्यातं, पुरुषोऽपि सङ्घातपरार्थत्वात् इत्यादिभिर्हेतुभिर्व्याख्यातः। एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि, यस्तैस्त्रैलोक्यं व्याप्तं जानाति तस्य भावोऽस्तित्वं तत्त्वं, यथोक्तम्—

**पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः।**
**जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥**

तानि यथा— प्रकृतिः पुरुषो बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि, इत्येतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि। तत्रोक्तप्रकृतेर्महानुत्पद्यते, तस्य महतः किं लक्षणमित्येतदाह— अध्यवसायो बुद्धिलक्षणम्। अध्यवसानमध्यवसायः, यथा बीजे भविष्यद्वृत्तिकोऽङ्कुर-स्तद्वदध्यवसायोऽयं घटोऽयं पट इत्येवम् अध्यवस्यति या सा बुद्धिरिति लक्ष्यते। सा च बुद्धिरष्टाङ्गिका सात्त्विकतामसरूपभेदात्। तत्र बुद्धेः सात्त्विकं रूपं चतुर्विधं भवति— धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं चेति। तत्र धर्मो नाम दयादानयमनियमलक्षणः, तत्र यमा नियमाश्च पातञ्जलेऽभिहिताः— 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः,' 'शौचसन्तोषतपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'। ज्ञानं प्रकाशोऽवगमो भानमिति पर्यायाः, तच्च द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं चेति। तत्र बाह्यं नाम वेदाः शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दो-ज्योतिषाख्यषडङ्गसहिताः पुराणानि न्यायमीमांसा धर्मशास्त्राणि चेति। आभ्यन्तरं प्रकृतिपुरुषज्ञानम्— इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थाऽयं पुरुषः सिद्धो निर्गुणो व्यापी चेतन इति। तत्र बाह्यज्ञानेन लोकपङ्क्तिर्लोकानुराग इत्यर्थः। आभ्यन्तरेण ज्ञानेन मोक्ष इत्यर्थः। वैराग्यमपि द्विविधं, बाह्यमाभ्यन्तरं च। बाह्यं दृष्टविषयवैतृष्ण्यमर्जन-रक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनात् विरक्तस्य, मोक्षेप्सोर्यदुत्पद्यते तदाभ्यन्तरं वैराग्यम्। ऐश्वर्यमीश्वरभावः, तच्चाष्टगुणम्— अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्र कामावसायित्वं चेति। अणोर्भावोऽणिमा सूक्ष्मो भूत्वा जगति विचरतीति। महिमा महान् भूत्वा। विचरतीति। लघिमा मृणालीतूलावयवादपि लघुतया पुष्पकेसराग्रेष्वपि तिष्ठति। प्राप्तिरभिमतं वस्तु यत्र तत्रावस्थितः प्राप्नोति। प्रकाम्यं प्राकामतो यदेवेच्छति तदेव विदधाति। ईशित्वं प्रभुतया त्रैलोक्यमपीष्टे। वशित्वं सर्वं वशीभवति। यत्र कामावसायित्वं, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यत्र कामस्तत्रैवास्य स्वेच्छया स्थानासनविहारानाचरतीति। चत्वारि एतानि बुद्धेः सात्त्विकानि रूपाणि। यदा सत्त्वेन रजस्तमसी अभिभूते तदा पुमान् बुद्धिगुणान् धर्मादीनाप्नोति। किञ्चान्यत् तामसमस्माद्विपर्यस्तम्, अस्माद्धर्मादेर्विपरीतं तामसं

बुद्धिरूपम्, तत्र धर्माद्विपरीतोऽधर्मः, एवमज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति। एवं सात्त्विकैस्तामसैः स्वरूपैरष्टाङ्गा बुद्धिस्त्रिगुणादव्यक्तादुत्पद्यते॥२३॥

एवं बुद्धिलक्षणमुक्तम्, अहङ्कारलक्षणमुच्यते। एकादशकश्च गण एकादशेन्द्रियाणि तथा तन्मात्रो गणः, पञ्चकः पञ्चलक्षणोपेतः शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्ररूपतन्मात्ररसतन्मात्रगन्धतन्मात्र-लक्षणोपेतः॥२४॥

किंलक्षणात् सर्ग इत्येतदाह— सत्त्वेनाभिभूते यदा रजस्तमसी अहङ्कारे भवतस्तदा सोऽहङ्कारः सात्त्विकः, तस्य च पूर्वाचार्यैः सञ्ज्ञा कृता वैकृत इति, तस्माद्वैकृतादहङ्कारादेकादशक इन्द्रियगण उत्पद्यते, यस्मात् सात्त्विकानि विशुद्धानीन्द्रियाणि स्वविषयसमर्थानि, तस्मादुच्यते सात्त्विक एकादशक इति। किञ्चान्यत्— भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः, तमसाभिभूते सत्त्वरजसी अहङ्कारे यदा भवतः, तदा सोऽहङ्कारस्तामस उच्यते, तस्य पूर्वाचार्यकृता सञ्ज्ञा भूतादिः, तस्माद्भूतादेरहङ्कारात् तन्मात्रः पञ्चको गण उत्पद्यते, भूतानामादि-भूतस्तमोबहुलस्तेनोक्तः स तामस इति तस्माद्भूतादेः पञ्चतन्मात्रको गणः। किञ्च तैजसादुभयम् यदा रजसाभिभूते सत्त्वतमसी अहङ्कारे भवतस्तदा तस्मात् सोऽहङ्कारस्तैजस इति सञ्ज्ञां लभते, तस्मात्तैजसादुभयमुत्पद्यते। उभयमिति— एकादशो गणस्तन्मात्रः पञ्चकः। योऽयं सात्त्विकोऽहङ्कारो वैकृतिको भूत्वा एकादशेन्द्रियाण्युत्पादयति स तैजसमहङ्कारं सहायं गृह्णाति, सात्त्विको निष्क्रियः स तैजसयुक्त इन्द्रियोत्पत्तौ समर्थः, तथा तामसोऽहङ्कारो भूतादिसंज्ञितो निष्क्रियत्वात् तैजसेनाहङ्कारेण क्रियावता युक्तस्तन्मात्राण्युत्पादयति तेनोक्तं तैजसादुभयमिति। एवं तैजसेनाहङ्कारेणेन्द्रियाण्येकादश पञ्चतन्मात्राणि कृतानि भवन्ति॥२५॥

सात्त्विक एकादश इत्युक्तः, यो वैकृतात् सात्त्विक एकादशकः सात्त्विकादहङ्कारादुत्पद्यते तस्य का संज्ञेत्याह— चक्षुरादीनि स्पर्शनपर्यन्तानि बुद्धीन्द्रियाण्युच्यन्ते, स्पृश्यऽनेनेति स्पर्शनं त्वगिन्द्रियं, तद्वाची सिद्धः स्पर्शनशब्दोऽस्ति, तेनेदं पठ्यते स्पर्शनकानीति। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पञ्च विषयान् बुध्यन्ते अवगच्छन्तीति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि। वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः, कर्म कुर्वन्तीति कर्मेन्द्रियाणि, तत्र वाग्वदति हस्तौ नाना व्यापारं कुरुतः, पादौ गमनागमनं, पायुरुत्सर्गं करोति उपस्थ आनन्दं प्रजोत्पत्त्या॥२६॥

एवं बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियभेदेन दशेन्द्रियाणि व्याख्यातानि, मन एकादशकं किमात्मकं किंस्वरूपं चेति तदुच्यते— अत्रेन्द्रियवर्गे, मन उभयात्मकं बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धीन्द्रियवत् कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियवत्। कस्माद्? बुद्धीन्द्रियाणां प्रवृत्तिं कल्पयति कर्मेन्द्रियाणां च, तस्मादुभयात्मकं मनः, सङ्कल्पयतीति सङ्कल्पकम्। किञ्चान्यत् 'इन्द्रियं च साधर्म्यात्' समानधर्मभावात्, सात्त्विकाहङ्काराद्बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि मनसा सहोत्पद्यमानानि मनसः साधर्म्यं प्रति, तस्मात् साधर्म्यान्मनोऽपीन्द्रियम्। एवमेतान्येकादशेन्द्रियाणि सात्त्विकाद्वैकृतादहङ्कारादुत्पन्नानि। तत्र मनसः का वृत्तिरिति? सङ्कल्पो वृत्तिः। बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो वृत्तयः कर्मेन्द्रियाणां वचनादयः। "अथैतानीन्द्रियाणि भिन्नानि भिन्नार्थग्राहकाणि किमीश्वरेण उत स्वभावेन कृतानि, यतः प्रधानबुद्ध्यहङ्कारा अचेतनाः, पुरुषोऽप्यकर्ता" त्यत्राह— इह सांख्यानां स्वभावो नाम

कश्चित्कारणमस्ति, अत्रोच्यते गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च, इमान्येकादशेन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चानां वचनादान-विहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां सङ्कल्पश्च मनसः, एवमेते भिन्नाना-मेवेन्द्रियाणामर्थाः, गुणपरिणामविशेषात्— गुणानां परिणामो गुणपरिणामस्तस्य विशेषादिन्द्रियाणां नानात्वं बाह्यार्थभेदाश्च। अथैतन्नानात्वं नेश्वरेण नाहङ्कारेण न बुद्ध्या न प्रधानेन न पुरुषेण स्वभावात् कृतगुणपरिणामेनेति। "गुणानामचेतनत्वान्न प्रवर्तते"? प्रवर्तत एव। कथम्? वक्ष्यतीहैव—

**वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।**
**पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।।**

एवमचेतना गुणा एकादशेन्द्रियभावेन प्रवर्तन्ते, विशेषोऽपि तत्कृत एव येनोच्चैः प्रदेशे चक्षुरवलोकनाय स्थितम्, तथा घ्राणं तथा श्रोत्रं तथा जिह्वा स्वदेशे स्वार्थग्रहणाय। एवं कर्मेन्द्रियाण्यपि यथायथं स्वार्थसमर्थानि स्वदेशावस्थितानि स्वभावतो गुणपरिणामविशेषादेव, न तदर्था अपि, यत उक्तं शास्त्रान्तरे— 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' गुणानां या वृत्तिः सा गुणविषया एवेति बाह्यार्था विज्ञेया गुणकृता एवेत्यर्थः, प्रधानं यस्य कारणमिति।।२७।।

अथेन्द्रियस्य कस्य का वृत्तिरित्युच्यते-मात्रशब्दो विशेषार्थः, अविशेषव्यावृत्त्यर्थो यथा— भिक्षामात्रं लभ्यते, नान्यो विशेष इति, तथा चक्षुः रूपमात्रे न रसादिषु, एवं शेषाण्यपि, तद्यथा— चक्षुषो रूपं, जिह्वाया रसः, घ्राणस्य गन्धः, श्रोत्रस्य शब्दः त्वचः स्पर्शः। एवमेषां बुद्धीन्द्रियाणां वृत्तिः कथिता, कर्मेन्द्रियाणां वृत्तिः कथ्यते— वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां कर्मेन्द्रियाणामित्यर्थः। वाचो वचनं, हस्तयोरादानं, पादयोर्विहरणं पायोर्भुक्तस्याहारस्य परिणतमलोत्सर्गः, उपस्थस्यानन्दः सुतोत्पत्तिर्विषयो वृत्तिरिति सम्बन्धः।।२८।।

अधुना बुद्ध्यहङ्कारमनसामुच्यते स्वलक्षणस्वभावा स्वालक्षण्या। अध्यवसायो बुद्धिरिति लक्षणमुक्तं सैव बुद्धिवृत्तिः, तथाऽभिमानोऽहङ्कार इत्यभिमानलक्षणोऽभिमानवृत्तिश्च, सङ्कल्पकं मन इति लक्षणमुक्तं, तेन सङ्कल्प एव मनसो वृत्तिः, त्रयस्य बुद्ध्यहङ्कारमनसां स्वलक्षण्या च वृत्तिरसामान्या, या प्रागभिहिता बुद्धीन्द्रियाणां च वृत्तिः साऽप्यसामान्यैवेति। इदानीं सामान्या वृत्तिराख्यायते— सामान्यकरणवृत्तिः, सामान्येन करणानां वृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च, प्राणापानसमानोदानव्याना इति पञ्चवायवः सर्वेन्द्रियाणां सामान्यावृत्तिः, यतः प्राणो नाम वायुर्मुखनासिकान्तर्गोचरः, तस्य यत् स्पन्दनं कर्म तत् त्रयोदशविधस्याऽपि सामान्यावृत्तिः, सति प्राणे यस्मात् करणानामात्मलाभ इति, प्राणोऽपि पञ्जरशकुनिवत् सर्वस्य चलनं करोतीति, प्राणनात् प्राण इत्युच्यते। तथाऽपनयनादपानः, तत्र यत्र स्पन्दनं तदपि सामान्यवृत्तिरिन्द्रियस्य। तथा समानो मध्यदेशवर्त्ती य आहारादीनां समं नयनात् समानो वायुः, तत्र यत् स्पन्दनं तत् सामान्यकरणवृत्तिः। तथा ऊर्ध्वारोहणादुत्कर्षादुन्नयनाद्वा उदानो नाभिदेशमस्तकान्तर्गोचरः, तत्रोदाने यत् स्पन्दनं तत् सर्वेन्द्रियाणां सामान्या वृत्तिः। किञ्च शरीरव्याप्तिरभ्यन्तरविभागश्च येन क्रियतेऽसौ शरीरव्याप्याकाशवद्व्यानः, तत्र यत् स्पन्दनं तत् करणजालस्य सामान्या वृत्तिरिति। एवमेते पञ्च वायवः सामान्यकरणवृत्तिरिति व्याख्याता, त्रयोदशविधस्यापि करणसामान्य वृत्तिरित्यर्थः।।२९।।

युगपच्चतुष्टयस्य, बुद्ध्यहङ्कारमनसामेकैकेन्द्रियसम्बन्धे सति चतुष्टयं भवति, चतुष्टयस्य दृष्टे प्रतिविषयाध्यवसाये युगपद्वृत्तिः, बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षूंषि युगपदेककालं रूपं पश्यन्ति स्थाणुरयमिति। बुद्ध्यहङ्कारमनोजिह्वा युगपद्रसं गृह्णन्ति। बुद्ध्यहङ्कारमनोघ्राणानि युगपद्गन्धं गृह्णन्ति। तथा त्वक्श्रोत्रे अपि। किञ्च क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा, तस्येति चतुष्टयस्य, क्रमशश्च वृत्तिर्भवति। यथा कश्चित् पथि गच्छन् दूरादेव दृष्ट्वा स्थाणुरयं पुरुषो वेति संशये सति तत्रोपरूढं तल्लिङ्गं पश्यति शकुनिं वा, ततस्तस्य मनसा सङ्कल्पिते संशये व्यवच्छेदभूता बुद्धिर्भवति स्थाणुरयमिति, अतोऽहङ्कारश्च निश्चयार्थः, स्थाणुरेवेति, इत्येवं बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा, यथा रूपे तथा शब्दादिष्वपि बोद्धव्या। दृष्टे-दृष्टविषये। किञ्चान्यत् तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः, अदृष्टेऽनागतेऽतीते च काले बुद्ध्यहङ्कारमनसां रूपे चक्षुःपूर्विका त्रयस्य वृत्तिः,स्पर्शे त्वक्पूर्विका गन्धे घ्राणपूर्विका रसे रसनपूर्विका शब्दे श्रवणपूर्विका, बुद्ध्यहङ्कारमनसामनागते भविष्यति कालेऽतीते च तत्पूर्विका क्रमशो वृत्तिः वर्त्तमाने युगपत् क्रमशश्चेति॥३०॥

किञ्च– स्वां स्वामिति वीप्सा, बुद्ध्यहङ्कारमनांसि स्वां स्वां वृत्तिं परस्पराकूतहेतुकां 'आकूतमादरसम्भ्रमः' इति, प्रतिपद्यन्ते पुरुषार्थकरणाय बुद्ध्यहङ्कारादयः। बुद्धिरहङ्काराकूतं ज्ञात्वा स्वविषयं प्रतिपद्यते। "किमर्थमिति चेत्?" पुरुषार्थ एव हेतुः, पुरुषार्थः कर्तव्य इत्येवमर्थं गुणानां प्रवृत्तिः, तस्मादेतानि करणानि पुरुषार्थं प्रकाशयन्ति, 'यद्यचेतनानीति कथं स्वयं प्रवर्त्तन्ते'? न केनचित् कार्यते करणम्, पुरुषार्थ एवैकः कारयतीति वाक्यार्थः, न केनचित्, ईश्वरेण पुरुषेण वा, कार्यते प्रबोध्यते करणम्॥३१॥

"बुद्ध्यादि कतिविधं तदित्युच्यते– करणं त्रयोदशविधं बोद्धव्यम्, महदादित्रयं, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वागादीनीति, त्रयोदशविधं करणम्। तत् किं करोतीत्येतदाह– तदाहरणधारणप्रकाशकरम्। तत्राहरणं धारणं च कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, प्रकाशं बुद्धीन्द्रियाणि। कतिविधं कार्यं तस्येति तदुच्यते– कार्यं च तस्य दशधा, तस्य करणस्य कार्यं कर्त्तव्यमिति दशधा दशप्रकारम्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यं वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाख्य-मेतद्दशविधं कार्यं, बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितं कर्मेन्द्रियाण्याहरन्ति धारयन्ति चेति॥३२॥

किञ्च– अन्तःकरणमिति। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रिविधं महदादिभेदात्, दशधा बाह्यं च, बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च दशविधमेतत् करणं बाह्यम्, तत्त्रयस्यान्तःकरणस्य विषयाख्यं बुद्ध्यहङ्कारमनसां भोग्यं साम्प्रतकालं– श्रोत्रं वर्त्तमानमेव शब्दं शृणोति नातीतं न च भविष्यन्तं, चक्षुरपि वर्त्तमानं रूपं पश्यति नातीतं नानागतं, त्वग्वर्त्तमानं स्पर्शं, जिह्वावर्तमानं रसं, नासिका वर्त्तमानं गन्धं नातीतानागतं चेति। एवं कर्मेन्द्रियाणि-वाग्वर्त्तमानं शब्दमुच्चारयति नातीतं नानागतं, पाणी वर्त्तमानं घटमाददाते नातीतमनागतं च, पादौ वर्त्तमानं पन्थानं विहरतो नातीतं नाप्यनागतं, पायूपस्थौ च वर्त्तमानावुत्सर्गानन्दौ कुरुतो नातीतौ नानागतौ, एवं बाह्यं करणं साम्प्रतकालमुक्तम्। त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रिकालविषयाणि बुद्धिर्वर्त्तमानं घटं

बुध्यते अतीतमनागतं चेति, अहङ्कारो वर्त्तमानेऽभिमानं करोत्यतीतेऽनागते च, तथा मनो वर्त्तमाने सङ्कल्पं कुरुतेऽतीतेऽनागते च, एवं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणमिति॥ ३३॥

इदानीमिन्द्रियाणि कति सविशेषं विषयं गृह्णन्ति, कानि निर्विशेषमिति तदुच्यते— बुद्धीन्द्रियाणि तेषां सविशेषं विषयं गृह्णन्ति, सविशेषविषयं मानुषाणां, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् सुखदुःखमोहविषययुक्तान् बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशयन्ति। देवानां निर्विशेषान् विषयान् प्रकाशयन्ति। तथा कर्मेन्द्रियाणां मध्ये वाग्भवति शब्दविषया, देवानां मानुषाणां च वाग्वदति श्लोकादीनुच्चारयति, तस्मादेवानां मानुषाणां च वागिन्द्रियं तुल्यम्, शेषाण्यपि वाग्व्यतिरिक्तानि पाणिपादपायूपस्थसञ्ज्ञितानि पञ्चविषयाणि, पञ्च विषयाः शब्दादयो तेषां तानि पञ्चविषयाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पाणौ सन्ति, पञ्चशब्दादिलक्षणायां भुवि पादो विहरति, पाय्विन्द्रियं पञ्चक्लृप्तमुत्सर्गं करोति, तथोपस्थेन्द्रियं पञ्चलक्षणं शुक्रमानन्दयति॥ ३४॥

सान्तःकरणा बुद्धिः, अहङ्कारमनःसहितेत्यर्थः, यस्मात् सर्वं विषय-मवगाहते गृह्णाति, त्रिष्वपि कालेषु शब्दादीन् गृह्णाति, तस्मात् त्रिविधं कारणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि करणानीति वाक्यशेषः॥ ३५॥

किञ्चान्यत्— यानि करणान्युक्तानि एते गुणविशेषाः किं विशिष्टाः? प्रदीपकल्पाः प्रदीपवद्विषयप्रकाशकाः, परस्परविलक्षणा असदृशा भिन्नविषया इत्यर्थः। गुणविशेषा इति। गुणविशेषा गुणेभ्यो जाताः। कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाण्यहङ्कारो मनश्चैतानि स्वं स्वमर्थं पुरुषस्य प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति बुद्धिस्थं कुर्वन्तीत्यर्थः, यतो बुद्धिस्थं सर्वं विषयसुखादिकं पुरुष उपलभ्यते॥ ३६॥

इदञ्चान्यत्— सर्वेन्द्रियगतं त्रिष्वपि कालेषु सर्वं प्रत्युपभोगमुपभोगं प्रति देवमनुष्यतिर्यग्बुद्धीन्द्रियद्वारेण सान्तःकरणा बुद्धिः साधयति सम्पादयति यस्मात् तस्मात् सैव च विशिनष्टि प्रधानपुरुषयोर्विषयविभागं करोति, प्रधानपुरुषान्तरं नानात्वमित्यर्थः, सूक्ष्ममित्यनधिकृततपश्चरणैरप्राप्यम्, इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था इयं बुद्धिरयमहङ्कार एतानि पञ्चतन्मात्राण्ये-कादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्ययमन्यः पुरुष एभ्यो व्यतिरिक्त इत्येवं बोधयति बुद्धिः यस्यावापादपवर्गो भवति॥ ३७॥

पूर्वमुक्तं विशेषाविशेषविषयाणि, तत् के विषयास्तान् दर्शयति— यानि पञ्च तन्मात्राण्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते ते-- शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं एतान्यविशेषा उच्यन्ते देवानामेते सुखलक्षणा विषया दुःखमोहरहिताः, तेभ्यः पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि पृथिव्यप्ते-जोवाय्वाकाशसंज्ञानि यान्युत्पद्यन्ते एते स्मृता विशेषाः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, रसतन्मात्रादापः, रूपतन्मात्रात् तेजः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, शब्दतन्मात्रादाकाशम्, इत्येवमुत्पन्नान्येतानि महाभूतान्येते विशेषा मानुषाणां विषयाः शान्ताः— सुखलक्षणा, घोरा - दुःखलक्षणा, मूढा— मोहजनकाः। यथाऽऽकाशं कस्यचिदनवकाशादन्तर्गृहादेर्निर्गतस्य सुखात्मकं शान्तं भवति, तदेव शीतोष्णवातवर्षाभिभूतस्य दुःखात्मकं घोरं भवति, तदेव पन्थानं गच्छतो

वनमार्गाद् भ्रष्टस्य दिङ्मोहान्मूढं भवति। एवं वायुर्घर्मार्त्तस्य शान्तो भवति, शीतार्त्तस्य घोरो धूलीशर्कराविमिश्रोऽतिवान् मूढ इति। एवं तेजःप्रभृतिषु द्रष्टव्यम्॥३८॥

अथाऽन्ये विशेषाः– सूक्ष्मास्तन्मात्राणि यत्संगृहीतं तन्मात्रकं सूक्ष्मशरीरं महदादिलिङ्गं सदा तिष्ठति संसरति च ते सूक्ष्माः, तथा मातापितृजाः स्थूलशरीरोपचायका-ऋतुकाले मातापितृसंयोगे शोणितशुक्रमिश्रीभावेनोदरान्तः सूक्ष्मशरीरस्योपचयं कुर्वन्ति, तत् सूक्ष्मशरीरं पुनर्मातुरशितपीतनानाविधरसेन नाभिनिबन्धेनाप्यायते, तथाप्यारब्धं शरीरं सूक्ष्मैर्मातापितृजैश्च सह महाभूतैस्त्रिधा विशेषैः, पृष्ठोदरजङ्घाकट्युरःशिरःप्रभृति षाट्कौशिकं पाञ्चभौतिकं रुधिरमांसस्नायुशुक्रास्थिमज्जासम्भृतम् आकाशोऽवकाशदाना-द्वायुर्वर्द्धनात् तेजः पाकादापः संग्रहात् पृथिवी धारणात् समस्तावयवोपेतं मातुरुदरात् बहिर्भवति। एवमेते त्रिविधा विशेषाः स्युः। अत्राह– 'के नित्याः के वा अनित्याः'? सूक्ष्मास्तेषां नियताः, सूक्ष्मास्तन्मात्रसंज्ञकास्तेषां मध्ये नियता नित्याः, तैरारब्धं शरीरमधर्मवशात् पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरजातिषु संसरति, धर्मवशादिन्द्रादिलोकेषु, एवमेतन्नियतं सूक्ष्मशरीरं संसरति न यावज्ज्ञानमुत्पद्यते, उत्पन्ने ज्ञाने विद्वाञ्छरीरं त्यक्त्वा मोक्षं गच्छति, तस्मादेते विशेषाः सूक्ष्मा नित्या इति। मातापितृजा निवर्त्तन्ते, तत् सूक्ष्मशरीरं परित्यज्येहैव प्राणत्यागवेलायां मातापितृजा निवर्त्तन्ते, मरणकाले मातापितृजं शरीरमिहैव निवृत्य भूम्यादिषु प्रलीयते यथातत्त्वम्॥३९॥

'सूक्ष्मं च कथं संसरति'? तत्राह– यदा लोका अनुत्पन्नाः प्रधानादिसर्गे तदा सूक्ष्मशरीरमुत्पन्नमिति। किञ्चान्यत्– असक्तं न संयुक्तं तिर्यग्योनिदेवमानुषस्थानेषु सूक्ष्मत्वात् कुत्रचिदसक्तं पर्वतादिषु अप्रतिहतप्रसरं संसरति गच्छति। नियतम्, यावन्न ज्ञानमुत्पद्यते तावत् संसरति। तच्च महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्। महानादौ यस्य तन्महदादि– बुद्धिरहङ्कारो मन इति, पञ्चतन्मात्राणि सूक्ष्मपर्यन्तं तन्मात्रपर्यन्तं संसरति शूलग्रहपिपीलिकावत् त्रीनपि लोकान्। निरुपभोगं भोगरहितं तत् सूक्ष्मशरीरं मातापितृजेन बाह्येनोपचयेन क्रियाधर्मग्रहणाद्भोगेषु समर्थं भवतीत्यर्थः। भावैरधिवासितम् पुरस्ताद्भावान् धर्मादीन् वक्ष्यामः, तैरधिवासितमुपरञ्जितम्। लिङ्गमिति– प्रलयकाले महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं करणोपेतं प्रधाने लीयते, असंसरणयुक्तं सत् आसर्गकालमत्र वर्त्तते, प्रकृतिमोहबन्धनबद्धं सत् संसरणादिक्रियास्वसमर्थमिति। पुनः सर्गकाले संसरति तस्माल्लिङ्गं सूक्ष्मम्॥४०॥

'किंप्रयोजनेन त्रयोदशविधं करणं संसरती' त्येवं चोदिते सत्याह– चित्रं यथा कुड्याद्याश्रयमृते न तिष्ठति, स्थाण्वादिभ्यः कीलकादिभ्यो विना छाया न तिष्ठति, तैर्विना न भवति, आदिग्रहणाद् यथा शैत्यं विना नापो भवन्ति शैत्यं वाऽद्भिर्विना, अग्निरुष्णं विना, वायुः स्पर्शं विना, आकाशमवकाशं विना, तद्वदेतेन दृष्टान्तेन न्यायेन, विनाऽविशेषैरविशेषैस्तन्मात्रैर्विना न तिष्ठति। अथ विशेषभूतान्युच्यन्ते, शरीरं पञ्चभूतमयम्, वैशेषिणा शरीरेण विना क्व लिङ्गस्थानं चेति क्व एकदेहमुज्झति तदेवान्यमाश्रयति, निराश्रयमाश्रयरहितम्, लिङ्गं त्रयोदशविधं करणमित्यर्थः॥४१॥

'किमर्थम्?' तदुच्यते– पुरुषार्थः कर्त्तव्य इति प्रधानं प्रवर्त्तते, स च द्विविधः--शब्दाद्युपलब्धिलक्षणो गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणश्च। शब्दाद्युपलब्धि-ब्रह्मादिषु लोकेषु

गन्धादिभोगावाप्तिः। गुणपुरुषान्तरोपलब्धिर्मोक्ष इति। तस्मादुक्तं— 'पुरुषार्थहेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रवर्त्तते' इति। निमित्तनै- मित्तिकप्रसङ्गेन, निमित्तं धर्मादि, नैमित्तिकमूर्ध्वंगमनादि, पुरस्तादेव वक्ष्यामः। प्रसङ्गेन प्रसक्त्या प्रकृतेः प्रधानस्य विभुत्वयोगात्, यथा राजा स्वराष्ट्रे विभुत्वाद् यद्यदिच्छति तत् तत् करोतीति, तथा प्रकृतेः सर्वत्र विभुत्वयोगान्निमित्त-नैमित्तिकप्रसङ्गेन व्यवतिष्ठते पृथक् पृथग्देहधारणे लिङ्गस्य व्यवस्थां करोति। लिङ्गं सूक्ष्मैः परमाणुभिस्तन्मात्रैरुपचितं शरीरं त्रयोदशविधकरणोपेतं मानुषदेवतिर्यग्योनिषु व्यवतिष्ठते। कथम्? नटवत्। यथा नटः पटान्तरेण प्रविश्य देवो भूत्वा निर्गच्छति पुनर्मानुषः पुनर्विदूषकः, एवं लिङ्गं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेनोदरान्तः प्रविश्य हस्ती स्त्री पुमान् भवति॥४२॥

भावैरधिवासितं लिङ्गं संसरतीत्युक्तम्, तत् के भावा इत्याह— भावास्त्रिविधाश्चिन्त्यन्ते— सांसिद्धिकाः प्राकृता वैकृताश्च। तत्र सांसिद्धिका यथा— भगवतः कपिलस्यादिसर्गे उत्पद्यमानस्य चत्वारो भावाः सहोत्पन्ना धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति। प्राकृताः कथ्यन्ते, ब्रह्मणश्चत्वारः पुत्राः सनक-सनन्दनसनातन-सनत्कुमारा बभूवुः, तेषामुत्पन्नकार्यकारणानां शरीरिणां षोडशवर्षाणामेते भावाश्चत्वारः समुत्पन्नाः, तस्मादेते प्राकृताः। तथा वैकृता यथा— आचार्यमूर्तिं निमित्तं कृत्वाऽस्मदादीनां ज्ञानमुत्पद्यते ज्ञानाद्वैराग्यं वैराग्याद्धर्मः धर्मादैश्वर्यमिति, आचार्यमूर्त्तिरपि विकृतिरिति, तस्माद्वैकृता एते भावा उच्यन्ते, यैरधिवासितं लिङ्गं संसरति। एते चत्वारो भावाः सात्त्विकाः, तामसा विपरीताः, सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तमित्यत्र व्याख्याताः। एवमष्टौ धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति। अष्टौ भावाः क्व वर्त्तन्ते? दृष्टाः करणाश्रयिणः। बुद्धिः करणं तदाश्रयिणः, एतदुक्तम्- 'अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानम्' इति। कार्यं देहस्तदाश्रयाः कललाद्या ये मातृजा इत्युक्ताः, शुक्रशोणितसंयोगे विवृद्धिहेतुकाः कललाद्या बुद्बुदमांसपेशीप्रभृतयः, तथा कौमारयौवनस्थविरत्वादयो भावा अन्नपानरसनिमित्ता निष्पद्यन्ते, अतः कार्याश्रयिण उच्यन्ते, अन्नादिविषयभोगनिमित्ता जायन्ते॥४३॥

निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेनेति यदुक्तमत्रोच्यते-धर्मेण गमनमूर्ध्वम्, धर्मं निमित्तं कृत्वोर्ध्वमुपनयति, ऊर्ध्वमित्यष्टौ स्थानानि गृह्यन्ते, तद्यथा-ब्राह्मं प्राजापत्यं सौम्यमैन्द्रं गान्धर्वं याक्षं राक्षसं पैशाचमिति, तत् सूक्ष्मं शरीरं गच्छति। पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरान्तेष्वधर्मो निमित्तम्। किञ्च ज्ञानेन चापवर्गः, अपवर्गश्च पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानम्, तेन निमित्तेनापवर्गो मोक्षः ततः सूक्ष्मं शरीरं निवर्तते, परमात्मा उच्यते। विपर्ययादिष्यते बन्धः, अज्ञानं निमित्तम्, स चैष नैमित्तिकः प्राकृतो वैकारिको दाक्षिणिकश्च बन्ध इति वक्ष्यति पुरस्ताद्, यदिदमुक्तं— 'प्राकृतेन च बन्धनं तथा वैकारिकेण च। दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते'॥४४॥

तथाऽन्यदपि निमित्तम्— यथा कस्यचिद्वैराग्यमस्ति न तत्त्वज्ञानं तस्मादज्ञानपूर्वाद्वैराग्यात् प्रकृतिलयो मृतोऽष्टासु प्रकृतिषु प्रधानबुद्ध्य-हङ्कारतन्मात्रेषु लीयते न मोक्षः। ततो भूयोऽपि संसरति। तथा योऽयं राजसो रागः— यजामि दक्षिणां ददामि येनामुष्मिन् लोकेऽत्र यद्दिव्यं मानुषं सुखमनुभवाम्येतस्माद्राजसाद्रागात् संसारो भवति। तथा ऐश्वर्यादविघातः, एतदैश्वर्यमष्टगुणमणिमादियुक्तं तस्मादैश्वर्यनिमित्तादविघातो नैमित्तिको भवति ब्राह्मादिषु स्थानेष्वैश्वर्यं

न विहन्यते। किञ्चान्यत् विपर्ययात् तद्विपर्यासः, तस्याविघातस्य विपर्यासो विघातो भवति, अनैश्वर्यात् सर्वत्र विहन्यते॥४५॥

एवं निमित्तैः सह नैमित्तिकः षोडशविधो व्याख्यातः, स किमात्मक इत्याह यथा एष षोडषविधो निमित्तनैमित्तिकभेदो व्याख्यात एष प्रत्ययसर्ग उच्यते। प्रत्ययो बुद्धिरित्युक्ता-अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानमित्यादि, स च प्रत्ययसर्गश्चतुर्धा भिद्यते— विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यभेदात्। तत्र संशयोऽज्ञानं विपर्ययः। यथा कस्यचित् स्थाणुदर्शने स्थाणुरयं पुरुषो वेति संशयः। अशक्तिर्यथा तमेव स्थाणुं सम्यग् दृष्ट्वा संशयं छेत्तुं न शक्नोतीत्यशक्तिः। एवं तृतीयस्तुष्ट्याख्यो यथा तमेव स्थाणुं ज्ञातुं संशयितुं वा नेच्छति किमनेनास्माकमित्येषा तुष्टिः। चतुर्थः सिद्ध्याख्यो यथा आनन्दितेन्द्रियः स्थाणुमारूढां वल्लिं पश्यति शकुनिं वा तस्य सिद्धिर्भवति स्थाणुरयामिति। एवमस्य चतुर्विधस्य प्रत्ययसर्गस्य गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य भेदास्तु पञ्चाशत्, योऽयं सत्त्वरजस्तमोगुणानां वैषम्यं विमर्दः तेन तस्य प्रत्ययसर्गस्य पञ्चाशद्भेदा भवन्ति॥४६॥

तथा क्वापि सत्त्वमुत्कटं भवति रजस्तमसी उदासीने, क्वापि रजः क्वापि तम इति भेदाः कथ्यन्ते— पञ्च विपर्ययभेदास्ते यथा— तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति, एषां भेदानां नानात्वं वक्ष्यतेऽनन्तरमेवेति। अशक्तेस्त्वष्टाविंशतिभेदा भवन्ति करणवैकल्यात् तानपि वक्ष्यामः। तथा तुष्टिर्नवधा— ऊर्ध्वस्रोतसि राजसानि ज्ञानानि। तथाऽष्टविधा सिद्धिः, सात्त्विकानि ज्ञानानि तत्रैवोर्ध्वस्रोतसि॥४७॥

एतत् क्रमेणैव वक्ष्यते, तत्र विपर्ययभेदा उच्यन्ते— तमसस्तावदष्टधा भेदः प्रलयोऽज्ञानाद्विभज्यते सोऽष्टासु प्रकृतिषु लीयते प्रधानबुद्ध्य-हङ्कारपञ्चतन्मात्राख्यासु, तत्र लीनमात्मानं मन्यते मुक्तोऽहमिति तमोभेद एषः। अष्टविधस्य मोहस्य भेदोऽष्टविध एवेत्यर्थः, यत्राष्टगुणमणिमाद्यैश्वर्यं तत्र सङ्गादिन्द्रादयो देवा न मोक्षं प्राप्नुवन्ति, पुनश्च तत्क्षये संसरन्त्येषोऽष्टविधो मोह इति। दशविधो महामोहः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा देवानामेते पञ्च विषयाः सुखलक्षणाः, मानुषाणामप्येत एव शब्दादयः पञ्च विषयाः, एवमेतेषु दशसु महामोह इति। तामिस्रोऽष्टादशधा अष्टविधमैश्वर्यं दृष्टानुश्रविका विषया दश, एतेषामष्टादशानां सम्पदमनुनन्दन्ति विपदं नानुमोदन्ते, एषोऽष्टादशविधो विकल्पस्तामिस्रः। यथा तामिस्रोऽष्टगुणमैश्वर्यं दृष्टानुश्रविका दश विषयास्तथान्धतामिस्रोऽप्यष्टादशभेद एव, किन्तु विषयसम्पत्तौ सम्भोगकाले य एव म्रियतेऽष्टगुणैश्वर्याद्वा भ्रश्यते ततस्तस्य महद्दुःखमुत्पद्यते सोऽन्धतामिस्र इति। एवं विपर्ययभेदास्तमःप्रभृतयः पञ्च प्रत्येकं भिद्यमाना द्विषष्टिभेदाः संवृत्ता इति॥४८॥

अशक्तिभेदाः कथ्यन्ते— 'भवन्त्यशक्तेश्च करणवैकल्यादष्टाविंशतिभेदा' इत्युद्दिष्टम्, तत्रैकादशेन्द्रियवधाः बाधिर्यमन्धता प्रसुप्तिरुपजिह्विका घ्राणपाको मूकता कुणित्वं खाञ्ज्यं गुदावर्त्तः क्लैब्यमुन्माद इति। सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा, ये बुद्धिवधास्तैः सहाशक्तेरष्टाविंशतिभेदा

भवन्ति। सप्तदश वधा बुद्धेः, सप्तदश वधास्ते तुष्टिभेदसिद्धिभेदवैपरीत्येन, तुष्टिभेदा नव सिद्धिभेदा अष्टौ ये तद्विपरीतैः सह एकादशवधा, एवमष्टाविंशतिविकल्पा अशक्तिरिति॥४९॥

विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनामेव भेदक्रमो द्रष्टव्यः तत्र तुष्टिर्नवधा कथ्यते आध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयः, अध्यात्मनि भवा आध्यात्मिक्यः, ताश्च प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः। तत्र प्रकृत्याख्या यथा कश्चित् प्रकृतिं वेत्ति तस्याः सगुणनिर्गुणत्वं च, तेन तत्त्वं तत्कार्यं विज्ञायैव केवलं तुष्टस्तस्य नास्ति मोक्ष एषा प्रकृत्याख्या। उपादानाख्या यथा कश्चिदविज्ञायैव तत्त्वान्युपादानग्रहणं करोति त्रिदण्डकमण्डलुविविदिषाभ्यो मोक्ष इति, तस्यापि नास्ति मोक्ष इति, एषा उपादानाख्या। तथा कालाख्या— कालेन मोक्षो भविष्यतीति किं तत्त्वाभ्यासेनेत्येषा कालाख्या तुष्टिस्तस्य नास्ति मोक्ष इति। तथा भाग्याख्या— भाग्येनैव मोक्षो भविष्यतीति भाग्याख्या, चतुर्द्धा तुष्टिरिति। बाह्या विषयोपरमात्पञ्च। बाह्यास्तुष्टयः पञ्च विषयोपरमात्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्य उपरतोऽर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनात्। वृद्धिनिमित्तं पाशुपाल्यवाणिज्य-प्रतिग्रहसेवाः कार्या एतदर्जनं दुःखम्,अर्जितानां रक्षणे दुःखम्, उपभोगात् क्षीयत इति क्षयदुःखम्, तथा विषयोपभोगसङ्गे कृते नास्तीन्द्रियाणामुपशम इति सङ्गदोषः, तथा न अनुपहत्य भूतान्युपभोग इत्येष हिंसादोषः, एवमर्जनादिदोषदर्शनात् पञ्चविषयोपरमात् पञ्च तुष्टयः एवमाध्यात्मिक-बाह्यभेदान्नव तुष्टयः तासां नामानि शास्त्रान्तरे प्रोक्तानि—

'अम्भः सलिलं मेघो वृष्टिः सुतमः पारं सुनेत्रं नारीकमनुत्तमाम्भसिकम्' इति। आसां तुष्टीनां विपरीता अशक्तिभेदाद् बुद्धिवधा भवन्ति। तद्यथा— अनम्भोऽसलिलममेघ इत्यादिवैपरीत्याद् बुद्धिवधा इति॥५०॥

सिद्धिरुच्यते— ऊहो यथा कश्चिन्नित्यमूहते किमिह सत्यं किं परं किं नैःश्रेयसं किं कृत्वा कृतार्थः स्याम्, इति चिन्तयतो ज्ञानमुत्पद्यते प्रधानादन्य एव पुरुष इतोऽन्या बुद्धिरन्योऽहङ्कारोऽन्यानि तन्मात्राणीन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानीत्येवं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते येन मोक्षो भवति, एषा ऊहाख्या प्रथमा सिद्धिः। तथा शब्दज्ञानात् प्रधानपुरुषबुद्ध्यहङ्कार-तन्मात्रेन्द्रियपञ्चमहाभूतविषयं ज्ञानं भवति ततो मोक्ष इत्येषा शब्दाख्या सिद्धिः। अध्ययनाद् वेदादिशास्त्राध्ययनात् पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं प्राप्यते मोक्षं याति इत्येषा तृतीया सिद्धिः। दुःखविघातत्रयम्, आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदुःखत्रयविघाताय गुरुं समुपगम्य तत उपदेशान्मोक्षं याति, एषा चतुर्थी सिद्धिः। एषैव दुःखत्रयभेदात् त्रिधा कल्पनीया इति षट् सिद्धयः। तथा सुहृत्प्राप्तिः, यथा कश्चित् सुहृज्ज्ञानमधिगम्य मोक्षं गच्छति, एषा सप्तमी सिद्धिः। दानं यथा कश्चिद्भगवतां प्रत्याश्रयौषधित्रिदण्डकुण्डिकादीनां ग्रासाच्छादनादीनां च दानेनोपकृत्य तेभ्यो ज्ञानमवाप्य मोक्षं याति, एषाऽष्टमी सिद्धिः। आसामष्टानां सिद्धीनां शास्त्रान्तरे संज्ञाः कृताः 'तारं सुतारं तारतारं प्रमोदं प्रमुदितं प्रमोदमानं रम्यकं सदाप्रमुदितम्' इति। 'आसां विपर्ययाद् बुद्धेर्वधा ये विपरीतास्ते अशक्तौ निक्षिप्ताः— यथाऽतारमसुतारमतारतारमित्यादि द्रष्टव्यम्। अशक्तिभेदा अष्टाविंशतिरुक्तास्ते सह बुद्धिवधैरेकादशेन्द्रियवधा इति। तत्र तुष्टिविपर्यया नव, सिद्धिनां विपर्यया अष्टौ, एवमेते सप्तदश बुद्धिवधाः, एतैः सहेन्द्रियवधा

अष्टाविंशतिरशक्तिभेदाः पश्चात् कथिता इति विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धीनामेवोद्देशो निर्देशश्च कृत इति। किञ्चान्यत् सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः, सिद्धेः पूर्वा या विपर्ययाशक्तितुष्टयस्ता एव सिद्धेरङ्कुशस्तद्भेदादेव त्रिविधः, यथा हस्ती गृहीताङ्कुशेन वशो भवति, एवं विपर्ययाशक्तितुष्टिभिर्गृहीतो लोकोऽज्ञान-माप्नोति, तस्मादेताः परित्यज्य सिद्धिः सेव्या, सिद्धेस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते तस्मान्मोक्ष इति॥५१॥

अथ यदुक्तं भावैरधिवासितं लिङ्गं, तत्र भावा धर्मादयोऽष्टावुक्ता बुद्धिपरिणामाः, विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिपरिणताः, स भावाख्यः प्रत्ययसर्गो, लिङ्गञ्च तन्मात्रसर्गश्चतुर्दशभूतपर्यन्त उक्तः, तत्रैकेनैव सर्गेण पुरुषार्थसिद्धौ किमुभयविधसर्गेणेत्यत आह— भावैः प्रत्ययसर्गैर्विना लिङ्गं न तन्मात्रसर्गो न, पूर्वपूर्वसंस्कारादृष्टकारितत्वादुत्तरोत्तरदेहलम्भस्य, लिंगेन तन्मात्रसर्गेण च विना भावनिर्वृत्तिर्न स्थूलसूक्ष्मदेहसाध्यत्वाद्धर्मादेः, अनादित्वाच्च सर्गस्य बीजाङ्कुरवदन्योन्याश्रयो न दोषाय, तत्तज्जातीयापेक्षित्वेऽपि तत्तद्व्यक्तीनां परस्परानपेक्षित्वात्, तस्माद्भावाख्यो लिङ्गाख्यश्च द्विविधः प्रवर्त्तते सर्ग इति॥५२॥

किञ्चान्यत्— तत्र दैवमष्टप्रकारम्— ब्राह्मं प्राजापत्यं सौम्यमैन्द्रं गान्धर्वं याक्षं राक्षसं पैशाचमिति। पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराणि भूतान्येवं पञ्चविधस्तैरश्चः। मानुषयोनिरेकैव। इति चतुर्दश भूतानि॥५३॥

त्रिष्वपि लोकेषु गुणत्रयमस्ति, तत्र कस्मिन् किमधिकमित्युच्यतेऊर्ध्वमिति। अष्टसु देवस्थानेषु सत्त्वविशालः सत्त्वविस्तारः सत्त्वोत्कट ऊर्ध्वसत्त्व इति, तत्रापि रजस्तमसी स्तः। तमोविशालो मूलतः, पश्वादिषु स्थावरान्तेषु सर्वः सर्गस्तमसाधिक्येन व्याप्तः, तत्रापि सत्त्वरजसी स्तः। मध्ये मानुषे रज उत्कटं, तत्रापि सत्त्वतमसी विद्येते, तस्माद् दुःखप्राया मनुष्याः। एवं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः, ब्रह्मादिस्थावरान्त इत्यर्थः। एवमभौतिकः, सर्गो लिङ्गसर्गो भावसर्गो भूतसर्गो दैवमानुषतैर्यग्योना इति, एषः प्रधानकृतः षोडशविधः सर्गः॥५४॥

तत्रेति। तेषु देवमानुषतिर्यग्योनिषु जराकृतं मरणकृतं चैव दुःखं चेतनः चैतन्यवान् पुरुषः प्राप्नोति, न प्रधानं न बुद्धिर्नाहङ्कारो न तन्मात्राणीन्द्रियाणि महाभूतानि च। कियन्तं कालं पुरुषो दुःखं प्राप्नोतीति तद्विविनक्ति— लिङ्गस्याविनिवृत्तेरिति। यत् तन्महदादि लिङ्गशरीरेणाविश्य तत्र व्यक्तीभवति, तद्यावन्न निवर्त्तते संसारशरीरमिति यावत्, संक्षेपेण त्रिषु स्थानेषु पुरुषो जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति, लिङ्गस्याविनिवृत्तेः लिङ्गस्य विनिवृत्तिं यावत्, लिङ्गनिवृत्तौ मोक्षो मोक्षप्राप्तौ नास्ति दुःखमिति। तत् पुनः केन निवर्त्तते? यदा पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं स्यात् सत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिलक्षणम्— इदं प्रधानमियं बुद्धिरयमहङ्कार इमानि पञ्चतन्मात्राण्येका-दशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि येभ्योऽन्यः पुरुषो विसदृश इत्येवं ज्ञानाल्लिङ्गनिवृत्तिस्ततो मोक्ष इति॥५५॥

प्रकृतेः किंनिमित्तमारम्भ इत्युच्यते— इत्येष परिसमाप्तौ निर्देशे च, प्रकृतिकृतौ प्रकृतिकरणे प्रकृतिक्रियायां य आरम्भो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः, प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्मात् तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानीत्येष प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं पुरुषं पुरुषं प्रति

देवमनुष्यतिर्यग्भावं गतानां विमोक्षार्थमारम्भः। कथम्? स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः, यथा कश्चित् स्वार्थं त्यक्त्वा मित्रकार्याणि करोति एवं प्रधानम्, पुरुषोऽत्र प्रधानस्य न किञ्चित् प्रत्युपकारं करोति, स्वार्थ इव न च स्वार्थः परार्थ एव, अर्थः शब्दादिविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च, त्रिषु लोकेषु शब्दादिविषयैः पुरुषा योजयितव्याः अन्ते च मोक्षेणेति प्रधानस्य प्रवृत्तिः, तथा चोक्तम्— 'कुम्भवत् प्रधानं पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते' इति॥५६॥

'अत्रोच्यतेऽचेतनं प्रधानं चेतनः पुरुष इति, मया त्रिषु लोकेषु शब्दादिभिर्विषयैः पुरुषो योज्योऽन्ते मोक्षः कर्त्तव्य इति कथं चेतनवत् प्रवृत्तिः?' सत्यं, किन्त्वचेतनानामपि प्रवृत्तिर्दृष्टा निवृत्तिश्च यस्मादित्याह— यथा तृणोदकं गवा भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धिं करोति, पुष्टे च वत्से निवर्त्तते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानम् इति अज्ञस्य प्रवृत्तिरिति॥५७॥

किञ्च— यथा लोके इष्टौत्सुक्ये सति तस्य निवृत्त्यर्थं क्रियासु प्रवर्त्तते गमनागमनक्रियासु कृतकार्यो निवर्त्तते, तथा पुरुषस्य विमोक्षार्थं शब्दादिविषयोपभोगोपलब्धिलक्षणं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च द्विविधमपि पुरुषार्थं कृत्वा प्रधानं निवर्त्तते॥५८॥

किञ्चान्यत्— यथा नर्त्तकी शृङ्गारादिरसै रतिहासादिभावैश्च निबद्धगीतवादित्रनृत्यानि रङ्गस्य दर्शयित्वा कृतकार्या नृत्यान्निवर्त्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्य बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतभेदेन, निवर्त्तते॥५९॥

कथं को वाऽस्या निवर्त्तको हेतुः? तदाह— नानाविधैरुपायैः प्रकृतिः पुरुषस्योपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः। कथम्? देवमानुषतिर्यग्भावेन सुखदुःखमोहात्मकभावेन शब्दादिविषयभावेन, एवं नानाविधैरुपायैरात्मानं प्रकाश्याहमन्या त्वमन्य इति निवर्त्तते, अतो नित्यस्य तस्यार्थमपार्थकं चरति कुरुते, यथा कश्चित् परोपकारी सर्वस्योपकुरुते नात्मनः प्रत्युपकारमीहते, एवं प्रकृतिः पुरुषार्थं चरति करोत्यपार्थकम्। पश्चादुक्तमात्मानं प्रकाश्य निवर्त्तते॥६०॥

निवृत्ता च किं करोतीत्याह— लोके प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीत्येवं मे मतिर्भवति, येन परार्थ एवं मतिरुत्पन्ना, कस्मात्? अहमनेन पुरुषेण दृष्टास्मीत्यस्य पुंसः पुनर्दर्शनं नोपैति, पुरुषस्यादर्शनमुपयातीत्यर्थः। तत्र सुकुमारतरं वर्णयति। केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते—

**अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।**
**ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा॥**

अपरे स्वभावकारणिका ब्रुवते—

**'केन शुक्लीकृता हंसा मयूराः केन चित्रिताः। स्वभावेनैव' इति।**

अत्र सांख्याचार्या आहुः— निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन्? कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव, तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते, यथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति, कृष्णेभ्यः कृष्ण एव— इति, एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते, निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति। अनेन पुरुषो व्याख्यातः। तथा केषाञ्चित् कालः कारणमिति, उक्तं च—

**कालः पचति भूतानि कालः संहरते जगत्।**
**कालः सुप्तेषु जागर्त्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥**

व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति, स हि व्यक्तः सर्वकर्तृत्वात्, कालस्यापि प्रधानमेव कारणं स्वभावोऽप्यत्रैव लीनः, तस्मात् कालो न कारणम् नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति, न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य, अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं सुभोग्यतरं न किञ्चिदीश्वरादिकारणमस्तीति मे मतिर्भवति। तथा च लोके रूढ़म्॥६१॥

'पुरुषो मुक्तः पुरुषः संसारी' इति नोदिते आह— तस्मात् कारणात् पुरुषो न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति, यस्मात् कारणात् प्रकृतिरेव नानाश्रया दैवमानुषतिर्यग्योन्याश्रया बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतस्वरूपेण बध्यते मुच्यते संसरति चेति। 'अथ मुक्त एव स्वभावात् स सर्वगतश्च कथं संसरति?' अप्राप्तप्रापणार्थं संसरणमिति, तेन पुरुषो बध्यते पुरुषो मुच्यते पुरुषः संसरतीति व्यपदिश्यते थन संसारित्वं विद्यते, सत्त्वपुरुषान्तरज्ञानात् तत्त्वं पुरुषस्याभिव्यज्यते, तदभिव्यक्तौ केवलः शुद्धः मुक्तः स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इति। 'अत्र यदि पुरुषस्य बन्धो नास्ति ततो मोक्षोऽपि नास्ति'। अत्रोच्यते— प्रकृतिरेवात्मानं बध्नाति मोचयति, च, यत्र सूक्ष्मशरीरं तन्मात्रकं त्रिविधकरणोपेतं त्रिविधेन बन्धेन बध्यते, उक्तञ्च—

**प्राकृतेन च बन्धेन तथा वैकारिकेण च।**
**दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते।**
**तत् सूक्ष्मं शरीरं धर्माधर्मसंयुक्तम्॥६२॥**

'प्रकृतिश्च बध्यते प्रकृतिश्च मुच्यते संसरतीति कथम्' तदुच्यते— रूपैः सप्तभिरेव, एतानि सप्त प्रोच्यन्ते— धर्मो वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानम-वैराग्यमनैश्वर्यम्, एतानि प्रकृतेः सप्त रूपाणि, तैरात्मानं स्वं बध्नाति प्रकृतिः, आत्मना स्वेनैव सैव प्रकृतिः, पुरुषस्यार्थः पुरुषार्थः कर्त्तव्य इति विमोचयत्यात्मानमेकरूपेण ज्ञानेन॥६३॥

'कथं तज्ज्ञानमुत्पद्यते?' एवमुक्तेन क्रमेण पञ्चविंशतितत्त्वालोचना-भ्यासादियं प्रकृतिरयं पुरुष एतानि पञ्चतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतानीति पुरुषस्य ज्ञानमुत्पद्यते, नास्मि नाहमेव भवामि, न मे मम शरीरं तत्, यतोऽहमन्यः शरीरमन्यत्, नाहमिति अपरिशेषम्, अहङ्काररहितम्, अविपर्ययाद्विशुद्धं, विपर्ययः संशयोऽविपर्ययादसंशयाद्विशुद्धं, केवलं तदेव नान्यदस्तीति मोक्षकारणमुत्पद्यतेऽभिव्यज्यते ज्ञानं पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं पुरुषस्येति॥६४॥

'ज्ञाने पुरुषः किं करोति?' तेन विशुद्धेन केवलज्ञानेन पुरुषः प्रकृतिं पश्यति प्रेक्षकवत् प्रेक्षकेण तुल्यमवस्थितः स्वस्थः, यथा रङ्गप्रेक्षकोऽवस्थितो नर्त्तकीं पश्यति, स्वस्थः स्वस्मिंस्तिष्ठति स्वस्थः स्वस्थानस्थितः। कथं भूतां प्रकृतिम्? निवृत्तप्रसवां निवृत्तबुद्ध्यहङ्कारकार्याम् अर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्तां, निवर्त्तितपुरुषोभयप्रयोजनवशाद् यैः सप्तभिः रूपैर्धर्मादिभिरात्मानं बध्नाति तेभ्यः सप्तभ्यो रूपेभ्यो विनिवृत्तां प्रकृतिं पश्यति॥६५॥

किञ्च— रङ्गस्थ इति यथा रङ्गस्थ इत्येवमुपेक्षक एकः केवलः शुद्धः पुरुषः, तेनाहं दृष्टेति कृत्वा उपरता निवृत्ता, एका एकैव प्रकृतिः त्रैलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृतिरस्ति मूर्त्तिवधे जातिभेदात्, एवं प्रकृतिपुरुषयोर्निवृत्तावपि व्यापकत्वात् संयोगोऽस्ति न तु संयोगात् कृतः सर्गो भवति, सति संयोगेऽपि तयोः प्रकृतिपुरुषयोः सर्वगतत्वात् सत्यपि संयोगे प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य सृष्टेः चरितार्थत्वात्, प्रकृतेर्द्विविधं प्रयोजनं शब्दविषयोपलब्धिर्गुण-पुरुषान्तरोपलब्धिश्च, उभयत्रापि चरितार्थत्वात् सर्गस्य नास्ति प्रयोजनं यः पुनः सर्ग इति, यथा दानग्रहणनिमित्त उत्तमर्णाधमर्णयोर्द्रव्यविशुद्धौ सत्यपि संयोगे न कश्चिदर्थसम्बन्धो भवति, एवं प्रकृतिपुरुषयोरपि नास्ति प्रयोजनमिति॥६६॥

'यदि पुरुषस्योत्पन्ने ज्ञाने मोक्षो भवति ततो मम कस्मान्न भवती' त्यत उच्यते यद्यपि पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं भवति तथापि संस्कारवशाद्धृतशरीरो योगी तिष्ठति, कथम्? चक्रभ्रमवच्चक्रभ्रमेण तुल्यम्, यथा कुलालश्चक्रं भ्रामयित्वा घटं करोति, मृत्पिण्डं चक्रमारोप्य पुनः कृत्वा घटं पर्यामुञ्चति चक्रं भ्रमत्येव संस्कारवशात्, एवं सम्यग्ज्ञानाधिगमादुत्पन्न-सग्यग्ज्ञानस्य धर्मादीनामकारणप्राप्तौ एतानि सप्तरूपाणि बन्धनभूतानि सम्यग्ज्ञानेन दग्धानि, यथा नाग्निना दग्धानि बीजानि प्ररोहणसमर्थानि, एवमेतानि धर्मादीनि बन्धनानि न समर्थानि। धर्मादीनामकारणप्राप्तौ संस्कारवशाद्धृतशरीरस्तिष्ठति, ज्ञानाद्वर्त्तमानधर्माधर्मक्षयः कस्मान्न भवति' वर्त्तमानत्वादेव, क्षणान्तरे क्षयमप्येति, ज्ञानं त्वनागतं कर्म दहति, वर्त्तमानशरीरेण च यत् करोति तदपीति, विहितानुष्ठानकरणादिति, संस्कारक्षयाच्छरीरपाते मोक्षः॥६७॥

स किंविशिष्टो भवतीत्युच्यते— धर्माधर्मजनितसंस्कारक्षयात् प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानस्य निवृत्तौ ऐकान्तिकमवश्यमात्यन्तिकमनन्तर्हितं कैवल्यं केवलभावान्मोक्षम्, उभयमैकान्तिकात्यन्तिकमित्येवं विशिष्टं कैवल्य-माप्नोति॥६८॥

पुरुषार्थो मोक्षस्तदर्थं ज्ञानमिदं गुह्यं रहस्यं परमर्षिणा श्रीकपिलर्षिणा समाख्यातं सम्यगुक्तम्। यत्र ज्ञाने भूतानां वैकारिकाणां स्थित्युत्पत्तिप्रलया अवस्थानाविर्भावतिरोभावाश्चिन्त्यन्ते विचार्यन्ते, येषां विचारात् सम्यक् पञ्चविंशतितत्त्वविवेचनात्मिका सम्पद्यते संवित्तिरिति॥६९-७२॥

**सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणं हि।**

**यत्रैताः सप्ततिरार्या भाष्यं चात्र गौडपादकृतम्॥**

## ॥ इति सांख्यकारिकाव्याख्या समाप्ता ॥

## परिशिष्ट २

### सहायक ग्रन्थसूची


१. सांख्यतत्त्वकौमुदी (भाषानुवाद सहित) आद्याप्रसाद मिश्र
२. सांख्यतत्त्वकौमुदी (ज्योतिष्मतीव्याख्या) रमाशङ्कर भट्टाचार्य
३. सांख्यतत्त्वकौमुदी (विद्वत्तोषिणी टीका) बालराम उदासीन
४. सांख्यतत्त्वकौमुदी हरदत्त शर्मा
५. साख्यतत्त्वकौमुदी (सारबोधिनी टीका) शिवनारायण शास्त्री
६. सांख्यकारिका (वसुमति व्याख्या) ब्रजमोहन चतुर्वेदी
७. सांख्यकारिका (हिन्दी व्याख्या) हरदत्त शर्मा
८. सांख्यकारिका (सांख्यतत्त्वकौमुदी सहित) रामकृष्ण आचार्य
९. सांख्यकारिका (माठरवृत्ति, जयमंगला टीका) विष्णुप्रसाद, सत्कारि शर्मा
१०. सांख्यकारिका (तत्त्वप्रभा व्याख्या, युक्तिदीपिका) रमाशङ्कर त्रिपाठी
११. सांख्यकारिका (माठरवृत्ति सहित) थानेश चन्द्र उप्रेती
१२. सांख्यकारिका (गौडपाद भाष्य) ढुण्ढिराज शास्त्री
१३. भारतीयदर्शन उमेश मिश्र
१४. भारतीयदर्शन वाचस्पति गैरोला
१५. भारतीयदर्शन बलदेव उपाध्याय
१६. भारतीयदर्शन डॉ० सर्वपल्ली राधा-कृष्णन
१७. भारतीयदर्शन श्रीकान्त पाण्डेय
१८. भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास हरिदत्त शास्त्री
१९. सांख्यदर्शन का इतिहास उदयवीर शास्त्री
२०. सांख्यदर्शनम् ब्रह्ममुनि
२१. सांख्यदर्शन रमाशङ्कर भट्टाचार्य
२२. सांख्यदर्शन जीवानन्द
२३. सांख्यसंग्रह विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी
२४. सांख्य तत्त्वकौमुदी (तत्त्वचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या) ओमप्रकाश पाण्डेय
२५. सांख्यकारिका (युक्तिदीपिका) रामचन्द्र पाण्डेय
२६. सांख्यसूत्राणि (सांख्यवृत्तिसार सहित) द्वारिकादास-शास्त्री

# परिशिष्ट ३

## कारिकानुक्रमणी

संस्कृत ग्रन्थागार

४६, संस्कृत नगर, रोहिणी से० १४

दिल्ली ११००८५